घनश्यामदास बिड़ला

बिखरे विचारों की भरोटी

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

यह पुस्तक

लेखक की बहुमुखी प्रतिभा पर प्रकाश डालती है।
संस्मरण, रेखाचित्र, निबंध, यात्रा-वृत्तान्त, आर्थिक
तथा सामाजिक प्रश्नों के गहन विवेचन आदि के
साथ-साथ अन्य अनेक विषयों पर बड़े ही सारगर्भित
विचार पाठकों को पढ़ने के लिए मिलते हैं
की सामग्री सात भागों में विभाजित है :

पहले भाग का आरंभ उनकी बचपन की
से होता है। फिर वह अपनी शिक्षा आदि
करते हुए अपने परिवार तथा कुछ अन्य
व्यक्तियों के विषय में अपनी भावनाएं
हैं। दूसरे भाग में उन्होंने अनेक राजने
सामान्य व्यक्तियों के रेखाचित्र खींचे हैं।
में उनके चुने हुए निबंध हैं, जो भि
लिखे गये हैं। चौथे भाग की सा
औद्योगिक क्षेत्र की कतिपय समस्या
कराती है—उन समस्याओं का, जि
कांश नागरिकों से आता है।

लेखक ने भारत में तथा विश्व
भ्रमण किया है। उनकी कुछ यात्र
एवं अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की रही हैं
विषय में लेखक ने काफी लिखा
सामान्य यात्रा-वृत्तान्तों से भिन्न हैं
स्थूल वर्णन तो नहीं के बराबर
समस्याओं से संबंधित विपुल सा
लेकर उन्होंने यात्राएं की थीं। भार
तो भारतीय संस्कृति और भारतीय
पृष्ठों को खोल देते हैं।

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

बिखरे विचारों की भरोटी

सस्ता

घनश्यामदास बिड़ला

विचारों की भरोटी

आत्मकथात्मक संस्मरण, व्यक्ति-परिचय, निबन्ध तथा
सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित
विश्लेषणात्मक विचार

१९७५

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक यशपाल जैन मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली
पहली वार रामनवमी २० अप्रेल १९७५
मूल्य सैंतीस रुपये पचास पैसे
मुद्रक रूपक प्रिंटर्स नवीन शाहदरा दिल्ली

प्रकाशकीय

श्री घनश्यामदास बिड़ला के साहित्य के पहले खण्ड में महात्मा गांधी की प्रेरणाप्रद झांकी प्रस्तुत की गई है। इस दूसरे खण्ड का पटल काफी विशाल है। इसकी सम्पूर्ण सामग्री को नीचे लिखे सात भागों में विभाजित किया गया है :

पहले भाग का आरम्भ उनकी बचपन की स्मृतियों से होता है। फिर वह अपनी शिक्षा आदि का उल्लेख करते हुए अपने परिवार तथा कुछ अन्य निकट के व्यक्तियों के विषय में अपनी भावनाएं व्यक्त करते हैं।

दूसरे भाग में उन्होंने अनेक राजनेताओं तथा सामान्य व्यक्तियों के रेखाचित्र खींचे हैं। इन चित्रों की रेखाएं व्यक्तियों की बाह्याकृति को चित्रित नहीं करतीं, बल्कि उनके अंतर में प्रवेश करने का अवसर देती हैं।

तीसरे भाग में उनके चुने हुए निबंध हैं, जो चिन्तन के क्षणों में लिखे गये हैं। लेखक की मौलिकता तथा विश्लेषणात्मक दृष्टि पर ये निबन्ध प्रकाश डालते हैं।

चौथे भाग की सामग्री आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्र की कतिपय समस्याओं का समाधान कराती है—उन समस्याओं का, जिनका संबंध अधिकांश नागरिकों से आता है।

लेखक ने भारत में तथा विश्व के अनेक देशों में भ्रमण किया है। उनकी कुछ यात्राएं तो राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय महत्व की रही हैं। इन यात्राओं के विषय में लेखक ने काफी लिखा है। ये विवरण सामान्य यात्रा-वृत्तान्तों से भिन्न हैं। इनमें स्थानों के स्थूल वर्णन तो नहीं के बराबर हैं, लेकिन उन समस्याओं से संबंधित विपुल सामग्री है, जिनको लेकर उन्होंने यात्राएं की थीं। भारत के प्रवास-वर्णन तो भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शन के बहुत-से पृष्ठों को खोल देते हैं।

छठा भाग गांधीजी की उस विदेश-यात्रा से सम्बद्ध है, जो उन्होंने दूसरी गोलमेज परिषद् के सिलसिले में की थी। लेखक उनके साथ गये थे। इस प्रवास के संस्मरण भारत के स्वातंत्र्य-संग्राम का एक मूल्यवान इतिहास है।

अंतिम भाग की रचनाओं में उनके स्फुट विचार दिये गए हैं। इन लेखों में उन्होंने मुख्यत: कुछ सामाजिक प्रश्नों का गम्भीर विवेचन किया है।

इस प्रकार प्रस्तुत खण्ड में पाठकों को अनेक विधाओं का साहित्य पढ़ने को मिलेगा। संस्मरण जहां उन्हें विभोर करेंगे, वहां उनके निबंध चिन्तन की गहराई में ले जायंगे; विभिन्न यात्राओं के वृत्तान्त से जहां पाठकों का ज्ञानवर्द्धन होगा, वहां उनके लेख अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करेंगे।

पुस्तक की विशेषता यह है कि पाठक इसे एक बार हाथ में ले लेने पर बिना समाप्त किये छोड़ नहीं सकता, क्योंकि भाषा इतनी सरल, विवरण इतने सरस और शैली इतनी सजीव है।

हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि जो भी पाठक इस ग्रंथावली को पढ़ेगा, वह अवश्य लाभान्वित होगा।

—मंत्री

अनुक्रम

लेखक

वे दिन

१. वे दिन

संवत् १९५१ की रामनवमी के दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिताजी का बानवे वर्ष की आयु में शरीर गया और मेरी माता ने शरीर छोड़ा सौ वर्ष पूरे करके। वैज्ञानिक कहते हैं कि दीर्घ आयु के इच्छुक को चाहिए कि जनमने से पहले ही वह लम्बी आयुवाले माता-पिता का चुनाव करे, या फिर लम्बी आयु की अभिलाषा छोड़ दे। बतानेवालों ने यह नहीं बताया कि जनमनेवाला जनमने से पहले माता-पिता का चुनाव कैसे करे। पर कहनेवालों का तात्पर्य यह है कि दीर्घजीवी माता-पिता की संतान ही अक्सर दीर्घजीवी होती है। शरीर-शास्त्रविदों की दृष्टि से इस प्रकार मैंने दीर्घजीवी माता-पिता का चुनाव किया, और यदि कोई दुर्घटना न हो तो माता-पिता की बदौलत मुझे एक लम्बी आयु का अच्छा पट्टा मिल गया है, ऐसा मान लेने में कोई दोष नहीं है।

साधारणतया यह खयाल दिल में उमंग पैदा करता है, क्योंकि लम्बी आयु का पट्टा हो तो मनुष्य कच्चे-पक्के कई मनसूबे बांध सकता है और उनका स्वप्न ले सकता हैं। पर इस प्रश्न का एक और भी पहलू है। कभी-कभी यह भी संदेह होता है कि दीर्घायु यह कोरे लाभ की ही कलम है या हानि की भी। आदमी बुड्ढा होकर मरे, यात्रा के अन्तिम कदम तक पूर्ण स्वस्थ रहे, दिमाग दुरुस्त हो, परिवार के लोग सुखी और सम्पन्न हों, सन्तान सपूत हो, तो अवश्य ही दीर्घायु एक दिलचस्प यात्रा बन जाती है। पर ऐसा न हो तब ? ऐसा न हो, तो जीवन एक कठोर कारावास बन जाता है, जिससे मुक्ति पाने की आशा में ही मनुष्य जीवन के दिनों को गिनता रहता है।

निष्कर्ष यह कि भगवान् सारी सुविधाएं दे, तो लम्बी आयु एक आशीर्वाद है। इसमें मीन-मेख हो, तो वह शाप है।

पाण्डवों को यह शाप नसीब हुआ। महाभारत के अन्त में कुटुम्ब-नाश की पीड़ा उन्हें दुःख देने लगी। जीवन नीरस और दुस्तर बन गया। बन्धु-बान्धव और परिजन सब लड़ाई में काम आये। हर तरफ केवल विधवाएं, बुड्ढे या रोगी ही दिखाई देने लगे। राज तो मिला, पर रसहीन। बन्धु-बान्धवों के अभाव में विजय का मजा किसकी संगत में भोगें! जीत सारी किरकिरी बन गई। बुढ़ापा भी आने लगा, तब संसार और भी सूना लगने लगा। ऐसे नीरस संसार में युधिष्ठिर और सब भाइयों ने हिमालय पर चढ़कर जीवन त्यागने का संकल्प किया।

बुढ़ापा और मौत किसी का पक्ष नहीं करते। राजा-रंक किसी को इन्होंने नहीं छोड़ा। कृष्ण भी इनका मुकाबला नहीं कर पाये। युधिष्ठिर यह सब समझता था, इसलिए मृत्यु अपने-आप आये, उसके पहले ही उसने मृत्यु का साक्षात्कार करने का निश्चय किया।

यह सही कदम था। व्यास ने इसे अपघात नहीं बताया, क्योंकि अपघात क्षणिक आवेश में आकर प्राण छोड़ देने को ही कह सकते हैं। अंग्रेजी में इस अवस्था को क्षणिक पागलपन भी कहते हैं। पर सोच-विचार और निश्चय के अनुसार की गई दृढ़ योजना और उसी योजना के अनुरूप रोजमर्रा की पहाड़ की थका देनेवाली चढ़ाई, खाना-पीना सारा जारी, पर मर-मिटने की अमिट चाह और इस चाह को पूरी करने के लिए आक्सीजन-रहित स्थान पर हठ के साथ पहुंचना, यह अपघात नहीं, एक तरह की मृत्यु-योग की साधना समझनी चाहिए। योग का कोई एक प्रकार थोड़े ही है। कर्मयोग है तो मृत्यु-योग भी क्यों नहीं?

जल-समाधि लेनेवाले भारत में अनेक साधु-संन्यासी हुए हैं। पर उनका भी मानस क्षणिक होता है। मैंने अपनी आंखों से जल-समाधि लेनेवाले एक संन्यासी को देखा है। आवेश में आकर जल में कूदे कि पीछे हटने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। पर पाण्डवों को तो हर घड़ी पीछे हटने की गुंजाइश थी। किंतु उन्हें तो धीरज और शान्ति के साथ एक ध्येय के लिए शरीर छोड़ना था। यह धीरज उनका देह-पात के समय तक कायम रहा।

मतलब यह था कि जबतक शरीर से कुछ भलाई हो, तबतक उसका संग रखना, और जब इसका अभाव हो तब त्याग कर देना। यही इस योग का मूल सूत्र था।

इस योजना में सबसे पहले द्रौपदी गिरी और उसके बाद एक-एक करके अन्य भाई गिरते गए। पर युधिष्ठिर ने इन गिरनेवालों की तरफ मुंह तक मोड़ने का कष्ट नहीं किया। न क्षोभ किया, न किया शोक या सन्ताप। वह चलता ही रहा; क्योंकि यह सारा क्रम बुनियादी था और उसी के अनुसार ही घटना घटती जा रही थी। फिर क्या तो मुड़ना और क्यों शोक और संताप करना!

खैर, यह तो पाण्डवों की अन्तिम मृत्यु-योजना का विश्लेषण हुआ। बात तो यह है कि दीर्घायु, यह एक निर्मल आशीर्वाद नहीं है कि जिसकी ईश्वर से हर हालत में मांग की जाय। उपनिषद्कार ने कहा है कि सौ वर्ष तक हम काम करते-करते मरें। 'काम करते-करते मरें' इस निर्मल आशीर्वाद की पूर्वजों ने मांग की है।

पर दीर्घायु माता-पिता की सन्तान होना लाभ का एक पहलू तो है ही, जिसका मूल्य भुलाया नहीं जा सकता और उस मूल्य को समाज का कर्ज मानकर उस कर्ज को अदा भी करना, यही जीवन का लक्ष्य है। जीवन और लम्बी आयु, यह भगवान् की दी हुई धरोहर है।

मेरा जब जन्म हुआ तो मेरे माता-पिता सुखी और सम्पन्न थे। इसके कई वर्ष पहले मेरे पितामह ने धन-उपार्जन कर लिया था। मेरे पिता के पितामह एक धनी परिवार के मुख्य मुनीम थे, जिनकी तनख्वाह शायद सात रुपया मासिक थी, तो भी उनका रुतवा और दर्जा काफी प्रतिष्ठित था। उस जमाने के सात रुपये माहवार कोई छोटी रकम नहीं मानी जाती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का वह जमाना था। अजमेर और मऊ की छावनी में बड़े साहवों का निवास था और इनका साहव लोगों से काफी संपर्क था। जव मेरे प्रपितामह मरे तो मेरे पितामह करीव सोलह साल के थे। मालिकों ने इस जवान लड़के को भी अपने पिता के स्थान पर नौकरी में आ जाने का प्रस्ताव किया, पर इनकी स्वतन्त्र प्रकृति और उच्चाभिलाषा के कारण नौकरी ने इन्हें आकर्षित नहीं किया और अपनी माता की इजाजत लेकर वह बम्बई की ओर अपना भाग्य आजमाने को चल पड़े।

उन दिनों बम्बई जाना एक बड़ी समस्या थी। सुना है, पिलानी से निकटतम रेलवे-स्टेशन उन दिनों अहमदाबाद या इन्दौर था। मेरे पितामह ने अहमदाबाद के स्टेशन से बम्बई जानेवाली रेल पकड़ी। पिलानी से अहमदाबाद तक ऊंट पर सफर किया। रास्ता उन दिनों विकट था। चोर, डाकुओं का खतरा था। इसलिए ऐसी यात्राएं एक समूह के साथ होती थीं, जिसे 'सागा' कहते थे। दिन-भर ऊंटों पर चलना और रात को किसी धर्मशाला में या खुले में पड़ाव डालकर पड़ रहना, यह रोजमर्रा का क्रम था। पिलानी से अहमदाबाद पहुंचने में शायद बीस रोज लगते थे। रास्ते में तरह-तरह के दृश्य और भांति-भांति के लोगों से भेंट, यह एक मजा था, जो आजकल रेल या हवाई जहाज की यात्रा में नसीब नहीं होता।

बम्बई में मेरे पितामह ने सात साल लगातार परिश्रम और ईमानदारी से व्यवसाय किया और फलस्वरूप कुछ धन-संचय भी किया। सात साल के बाद जब वह पिलानी वापस लौटे तो संचित धन से पहली बुनियाद हवेली की डाली और साथ ही एक कुएं और एक शिवालय की भी।

भगवान् को भोग लगाकर खाना चाहिए, यह उनका सिद्धान्त था। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'—यह उपनिषद् का वाक्य उन्होंने नहीं पढ़ा था, पर उनका विश्वास था कि भोग लगाकर खाने से भगवान् खानेवाले का भला करते हैं।

प्रथम यात्रा का संचित धन प्रायः हवेली, कुएं और शिवालय में खर्च हो गया, तव फिर वम्बई की ओर प्रस्थान किया। कुछ साल वाद उन्होंने अपनी स्वतन्त्र दूकान सराफ़ा-धन्धे की खोल दी। वाद में मेरे पिताजी ने धन्धे को उन्नत किया और इस तरह जब मेरा जन्म हुआ तो हमारा परिवार सम्पन्न और उस जमाने के मापदण्ड के अनुसार धनी परिवारों में एक अग्रसर परिवार हो गया था।

सम्पत्ति कोई अमिश्रित विभूति नहीं है। इसके दोनों पहलू हैं। लक्ष्मी की स्रोतधारा में अमृत के साथ-साथ विष का प्रवाह भी बहता रहता है। 'जड़-चेतन गुन-दोषमय बिस्व कीन्ह करतार'—इस लिहाज से लक्ष्मी भी गुण-दोषमय है। दोष को ग्रहण करनेवाला स्रोत का विषैला हिस्सा पीकर, मदमस्त होकर अपना सर्वनाश कर बैठता है और अमृत पीनेवाला अमर वनता है। कलाकार स्वरों की सरगम पर अंगुलियां रखकर मनमोहक स्वरों से लोगों के दिलों को मोह लेता है और अनाड़ी उसी सरगम से लोगों के कानों को आघात पहुंचाता है।

परन्तु परिवार का सम्पन्न होना मेरे लिए घातक सावित नहीं हुआ, इसका कारण था हमारे परिवार की परम्परा।

मेरे पितामह और पिता दोनों सरल प्रकृति के, ईश्वर में श्रद्धा रखनेवाले, धर्मभीरु थे। उनकी जीवन-चर्या कठिन थी। एक तो वैसे ही मरुभूमि में रहने-वालों का जीवन कष्टमय होता है; गर्मी में बेहद गर्मी, जाड़े में बेहद जाड़ा। पानी का अभाव, आएसाल अकाल, ऊंटों की यात्रा, सब्जी और फलों का पूर्ण अभाव। सभ्य कही जानेवाली सभी चीजों से अलगाव। ऐसी स्थिति का ऐश-आराम से कोई नाता नहीं जुड़ता।

यदि राजस्थानी महज राजस्थान में ही रहते तो जीवन-निर्वाह भी कठिन था, इसलिए बाहर परदेशों की यात्रा करना और वहां वर्षों तक विना कुटुम्ब के रहना उनके लिए अनिवार्य था।

कलकत्ता-वम्बई का निवास भी इन लोगों के लिए सुखद नहीं था। बासे में बीसों आदमियों के साथ सहवास, उनके साथ इकट्ठा खान-पान, एक-एक कमरे में दस-दस आदमियों का शयनागार, पाखानों की तकलीफ और ऊपर से मच्छर और खटमल। ऐसे कठिन जीवन में कमाई करके घर लौटना और वहां विश्राम करके फिर परदेश जाना, यह प्रायः जीवन-भर का क्रम था।

घर-गृहस्थी तो सारी राजस्थान में ही रहती थी। महिलाओं को भी यह जीवन असाधारण और दुःखमय नहीं लगता था। ऐसे जीवन में उछरनेवाले लोग शायद ही मदमस्त हो सकते हैं।

मेरे दादा और पिता गर्मी के मौसम में जब दोपहरी में विश्राम करते, तो हवेली के सदर दरवाजे की दो कोठरियों पर जो दुछत्ती थी, उसीपर खटिया डालकर दो घण्टे का विश्राम करते थे। यह दुछत्ती कोई पांच फुट लम्बी और चार फुट चौड़ी थी और आंगन से छः फुट ऊंची। इसपर चढ़ने का कोई जीना भी नहीं था। एक लोहे की जंजीर छत से लटकती थी, जिसको पकड़कर एक पांव दीवार में पत्थर के आगड़े पर रखकर, दूसरा पांव दुछत्ती की छत पर पहुंच जाता था, और इस कसरत के बाद विश्राम होता था। अजीब तरीका था यह छत पर पहुंचने का। सारी उमर इस कलाबाजी से चढ़ने में बिताई। कभी यह खयाल नहीं आया कि जीना क्यों न बना लिया जाय! ऐसे कठोर जीवन की परम्परा में मेरा जन्म हुआ, इसलिए परिवार सम्पन्न होते हुए भी मुझे सम्पदा के भयानक रूप को देखने का अवसर ही नहीं मिला।

अब यह चीज बदल रही है। राजस्थानियों का निवास-स्थान कलकत्ता-बम्बई बन गया, न ऊंट रहे और न रहे मच्छर या खटमल। बिजली-पंखा तो है ही, एयरकंडीशन भी आ गया। इसलिए धन के उपद्रव से आज की संतान भाग्य-शाली हो, तो ही बच सकती है।

मेरे लिए भी बचपन का जीवन उतना ही कठोर था, जितना कि अन्य राज-स्थानी धनिकों का होता है। बचपन में वही अनुभव मुझे मिला, जो राजस्थान की परम्परा थी। मुझे भी वही गर्मी, सर्दी और ऊंट मिले। न मिले फल और न सब्जी। परदेश में वही खटमल, वही मच्छर, वही बासा और वही पाखानों का क्लेश! जवानी आते-आते ये सब क्लेश गायब हो गए; पर जो स्वभाव एक मरतबा बन गया, वह बन ही गया।

राजस्थानी धनिकों और मध्यम श्रेणी के लोगों के जीवन की प्रचलित कठि-नाई में कोई देखनेलायक फर्क नहीं था। सभी का जीवन सहूलियतों के अभाव में आज के मापदण्ड से कष्टप्रद था। पर किसी में इस कष्ट का अखरना नहीं देखा। अनिवार्य समझकर लोग इसको कष्ट नहीं मानते थे।

हर मनुष्य, चाहे जाड़ा हो या गर्मी, शौच के लिए एक-दो मील दूर जंगल ही जाता था। धनिक वर्ग ने—उस जमाने के धनिक भी आज के मध्यम वर्ग के मुकाबले में गरीब कहलाये जा सकते हैं—कभी यह नहीं सोचा कि घर में पाखाना और स्नानघर क्यों न बना लिया जाय! ऐसी कल्पना ही एक क्रांतिकारी विचार माना जा सकता था, और यदि कोई ऐसा कर लेता, तो ग्राम का समाज अवश्य घृणा की नजर से देखता।

हमारा परिवार भी इसी कठोर राजस्थानी जीवन की परम्परा में अंकुरित हुआ और बढ़ा। इसलिए हमारे जीवन-स्तर में सिवा इसके कि हमारा मकान (हवेली) ठीक था, दो ऊंट थे, दो गायें थीं, कपड़ा औरों से कुछ अच्छा था, औरों

के मुकाबले में और कोई भिन्नता नहीं थी और न विभिन्नता की ख्वाहिश ही थी।'

पर और परिवारों से हमारे परिवार में कुछ विशेषता थी, और वह थी धर्म की भावना। मेरे पितामह और पिता, दोनों इस कठिन जीवन के साधक होने के अलावा उदारवृत्ति के भी थे और धर्म में उनकी श्रद्धा थी। इसलिए मुझे भी उनकी ही राह का अनुसरण करना पड़ा।

बचपन से ही सुबह पांच बजे उठ जाने की मेरी आदत डाल दी गई। सवेरे उठकर, निवृत्त होकर, दातुन और स्नान से निबटकर, जो पहला काम करने के लिए पिताजी मुझे बाध्य करते थे, वह थी नित्य की पूजा। यह अनिवार्य थी। नौ साल का हुआ तब तो मुझे एक चन्दन का बोटा, चकला, ताम्री, पंच-पात्र, विष्णुसहस्र-नाम का गुटका, आसन और पूजा की सामग्री का एक झोला सौंप दिया गया था। सुबह सात बजे कि आसन पर बैठ गए, पिता और पितामह के साथ। पहले चन्दन-केशर साथ में घिसकर तिलक लगाओ और उसके बाद विष्णुसहस्र-नाम का पूरा पाठ करो।

पाठ की यह हालत थी कि न तो मेरे पिताजी को शुद्ध पाठ आता था, न आता था मुझे। पर सामने जो गुटका था, उसपर से अंट-संट जो बन पड़ता, तेज रफ्तार के साथ मैं पाठ करता ही जाता था। वह सारा-का-सारा अशुद्ध पाठ मुझे कण्ठाग्र हो गया। इन अशुद्धियों का पता तो तब लगा, जबकि मैं संस्कृत में थोड़ी गटर-पटर करने लगा, और जब पता लगा, तब तो मेरा पाठ का अभ्यास भी छूट गया था।

और भी कई यम-नियम पिताजी से मिले। ग्रहण में कभी खटिया पर नहीं पड़े रहना, और ग्रहण शुद्ध न हो तबतक भोजना न करना। ग्रहण में छाया-पात्र का दान भी देना पड़ता था। श्रावण में सोमवार का उपवास करके, शिव-पूजन करके, फलाहार करना पड़ता था। इस शिव-पूजन और फलाहार में मुझे काफी मजा आता था। पर जाड़े के दिनों में, ग्रहण की वेला में, रात को खटिया से उतरना बहुत ही अखरता था। कभी बीमार हो गया तो पिता महामृत्युंजय का जाप करवा देते थे और उसका संकल्प देना पड़ता था। बुखार हो तो भी समय की संधि में खटिया पर नहीं लेटना, यह भी एक कड़ा नियम था, जो काफी अखरता था। ज्यादा बीमार हो गए तो सुन्दरकाण्ड का पाठ और फिर अधिकाई करनी हो तो शतचण्डी। मैं नहीं कह सकता कि मेरी इन सभी चीजों में श्रद्धा थी। दुर्गासप्तशती का नित्य पाठ मैंने वर्षों किया, पर जब श्रद्धा हट गई तो छोड़ दिया।

पर ईश्वर में मेरी श्रद्धा रही, जो बढ़ती ही गई। प्रार्थना में कुछ श्रद्धा रही, पर ज्यादा श्रद्धा काम में रही। 'हाथ काम, मुख राम, हिरदे सांची प्रीत'—यह सूत्र कुछ ज्यादा जंचा।

जो हो, श्रद्धा रही या नहीं, पर जो अभ्यास करवाया गया, वह एक स्वभाव बन गया। एक तरफ राजस्थान का कठोर जीवन और साथ में माता-पिता के दिये ये यम-नियम, इन्होंने मेरी काफी भलाई की।

पच्चीस साल का होते-होते तो राजस्थान और राजस्थानी कष्टों से मेरा सम्पूर्ण नाता टूट गया। कलकत्ता-वास ने सुख-सामग्रियों का जो अभाव अबतक था, वह सारा मिटा दिया, पर इतने दिनों के अभ्यास के बाद इन सुख-सामग्रियों में कोई विशेष आकर्षण भी नहीं रहा।

अजीब बात है कि मनुष्य का स्वभाव कैसे बनता है। मेरा खयाल है कि मनुष्य भी एक तरह का वृक्ष है और कई पहलुओं से मनुष्य और वृक्ष में कोई फर्क नहीं है। राजस्थान से अच्छे बाजरे का बीज मंगाकर बंगाल की भूमि में बो दीजिये। एक साल बाद राजस्थानी बाजरा बंगाली बन जायगा और उसका जांगड़ापन भाग जायगा। कलकत्ते से गुलाब ले जाकर राजस्थान में लगाओ, तो वह बेहद रंगीला बन जायगा। बम्बई का हापुस आम का पेड़ बंगाल में नहीं पनपता। प्रायः वृक्ष स्थानीय मौसम के आदी होकर अपने-आप उसी मौसम के अनुकूल, अच्छे या बुरे, बन जाते हैं। वैसे ही मनुष्य भी वातावरण का गुलाम है। मैंने जो बचपन में देखा, सुना, जैसी दिनचर्या रही, जैसा समाज का वातावरण रहा, वैसे सांचे में मैं ढल गया, उसपर फिर अमरीका या यूरोप की हवा का कोई असर नहीं हुआ।

राजस्थानी जीवन का यह अनुपम आशीर्वाद जो मुझे मिला, मेरे बाद की पीढ़ीवालों को दुर्लभ होगा, पर उन्हें अन्य कई आशीर्वाद मिलेंगे, जो मुझे नसीब नहीं हुए।

मेरे बचपन में पिलानी तीन हजार आदमियों की बस्ती का एक छोटा-सा गांव था। अब तो बस्ती करीब पन्द्रह हजार की होगी और हरियाली भी बढ़ गई है। पर उस जमाने में अन्य राजस्थानी स्थानों की तरह पिलानी के इर्द-गिर्द भी बालू के टीलों की भरमार थी और वृक्षों का अत्यन्त अभाव था, क्योंकि जलाने के लिए लोग लकड़ी खेतों में से काट ले जाते थे, इसलिए वृक्ष बढ़ने नहीं पाते थे। जमीन की बहुतायत थी और जोतनेवाले कम थे। साग-सब्जी तो वर्षा ऋतु में ही थोड़ी-सी होती थी, अन्य फलों का नाम तो केवल कोश तक सीमित था। पीचू और पील या तो काकड़ी, मतीरे मौसम में मिलते थे, जिन्हें हम आज फलों की सूची में शुमार भी नहीं करते।

हमारे ग्राम में एक बड़ा बट का वृक्ष था, जिसकी परिधि शायद एक फलाँग होगी। ऊंचाई भी संभवतः १५० फुट रही होगी। कई एक विरले नौजवान थे, जो बट के आरपार पत्थर फेंक सकते थे। बट की जटाओं ने ऊपर से उतर-उतरकर, जमीन में धंसकर, बट को एक प्राचीन ऋषि-मुनि के जैसा रूप दे दिया था। इस-

लिए पचासों कोस तक पिलानी 'वटवाली पिलानी' कहलाती थी।

इसकी तीन हजार जनसंख्या क्या थी, यह एक तरह का परिवार था। सबको एक-दूसरे के जीवन के हर पहलू का ज्ञान था। जीवन एक तरह के प्रशान्त तालाब की तरह था, जिसमें लहरें कभी-कभी और वह भी एक-आध ही उठती थीं। एक तो तब, जब किसी की मृत्यु होती थी। पिलानी में वह एक असाधारण घटना मानी जाती थी। विवाह भी विशेष घटनाओं में से था और जब लड़की ससुराल जाती थी, वह भी एक अवसर माना जाता था।

लड़की की विदाई बड़ी रोचक थी। वह विदाई प्रायः प्रातःकाल होती थी और उस समय का रिवाज था कि लड़की जबतक ऊंट पर चढ़कर गांव के बाहर एक-आध फलांग न पहुंच जाय, तबतक जोर-जोर से कूका-कूक करती ही जाती थी। क्रम यह था कि जब लड़की घर से निकलती तो चारों ओर परिवार की औरतों के झुरमुट से घिरी-घिरी धीरे-धीरे चलती। इस जुलूस के आगे-आगे ऊंट की नकेल पकड़कर लणिहार, अर्थात् लड़की लिवा लेने के लिए आनेवाला, चलता था। जबसे लड़की घर से चलती, तभी से उसका क्रंदन शुरू होता था, और देवियों का झुरमुट विदा का गान छेड़ देता था। इस तरह धीरे-धीरे यह जुलूस घर से चलकर गांव के बाहर तक पहुंचता था। खूबी यह थी कि कूका-कूक और देवियों के विदाई-गीत एक ही स्वर में चलते थे। गांव के बाहर आकर संगीत तो बन्द हो जाता था, पर कूका-कूक की आवाज और भी बुलंद हो जाती थी। सब औरतें एक-एक करके लड़की से मिलती थीं। उसे सांत्वना और आश्वासन देती थीं, हालांकि इसकी कोई जरूरत नहीं थी; क्योंकि मेरा खयाल है, और शायद सभी का यह खयाल था कि लड़की का रोना बिलकुल रस्मी था और सांत्वना देना भी एक नेगचार था।

जो हो, गांव के लोग यदि इन रस्मों से मन-बहलाव जुटा लेते थे, तो उतनी ही कारीगरी के साथ अन्य क्षेत्रों से भी मनोरंजन खींचकर जीवन को रसमय बनाये रखने की फिराक में रहते थे। सौ-पचास वर्ष पहले का हिन्दुस्तान फुरसत में इतना दबा था—और आज भी बेकारी कुछ ही कम है—कि जीवन को नीरसता से बचाने के लिए लोगों को हर क्षेत्र से विनोद और मनोरंजन खींचना पड़ता था, और उसके लिए बेखर्चीले और स्थानीय साधन ही जुटाने पड़ते थे। खर्चीले मनोरंजन के साधन ऐसा समाज बर्दाश्त भी कैसे करे!

इस प्रयत्न में एक लाभ तो यह होता था कि हर मनुष्य के व्यक्तित्व को व्यक्त होने का अच्छा मौका मिलता था। एक नई तरह की निर्माण-वृत्ति भी जाग्रत होती थी, हालांकि यह वृत्ति उस समाज की आर्थिक समस्या पर कोई खास असर नहीं डाल सकी, पर आर्थिक क्षेत्र में प्रगति उन दिनों दुर्लभ थी। जब तक नये प्रकार के कल-पुर्जों के साधन उपलब्ध न हों, ऐसा पिछड़ा हुआ दीन

समाज करे भी क्या !

आज तो प्लानिंग वन रहा है, विदेश से सहायता के लिए धन आ रहा है, राजनैतिक स्वतन्त्रता है और विद्या-उपार्जन जोरों से हो रहा है। पर ये सव चीजें सौ-पचास वर्ष पहले कहां उपलब्ध थीं ? इसलिए उपजाऊ दिमाग की दौड़ ऐसे क्षेत्र में सीमित रहती थी कि जिसमें कुछ विनोद भी हो, कुछ सेवा भी हो और मन कुंठित न हो। इसके फलस्वरूप लोगों में आत्मीयता थी, एकता थी, परस्पर-सहायता की भावना थी और हर चीज का मूल्यांकन केवल स्वार्थ या पैसे के मापदण्ड से नहीं किया जाता था। आज तो वह समाज गोल्डस्मिथ के 'वीरान गांव' की तरह उजड़ गया। अनेक अच्छी वातें आई हैं और अनेक अच्छी वातें गई हैं; पर उस पिछड़ी हुई सभ्यता में रहनेवाले समाज का चित्र आज गायव है।

दवा हुआ समाज उदासी से वचने के लिए आमतौर से अतिशयोक्ति की शरण लेता है। इस कूका-कूक और विदाई-गीत की रस्म में भी वह अतिशयोक्ति ओतप्रोत थी। लड़की का रोना तो गांव के वाहर जाते ही ऐसा गायव हो जाता था, जैसे विजली की चमक अचानक आकर अचानक चली जाती है। और विदाई-गीत की अतिशयोक्ति भी आज के लोगों को अद्भुत लगेगी।

'औजी ओ गोरीरा लश्करिया—औलंगड़ी लगाये र काठे चाल्याजी।'

—हे गोरी के लश्कर, प्रीति लगाकर कहां जा रहे हो ? अव यह लश्कर तो एक-आध मुर्दा ऊंट तक सीमित था, जिसपर चढ़कर लड़की ससुराल जाती थी और यह प्रीति लगाकर जाने के उलहने में यदि कोई असलियत होती, तो लड़की और उसके वर के जाते ही वह महिलाओं की सारी टोली वेहोश होकर गिर जाती। पर ऐसा कभी नहीं हुआ। इतना वढ़ाव-चढ़ाव और अतिशयोक्ति इसी वात की छाया है कि उस समय का समाज अपनी उदासी को भूलने के लिए तरह-तरह के आत्माभिमान-पोषक वाक्यों की शरण लेता था।

गत पांच-सात सौ वर्ष की कविताओं से भी यही निष्कर्ष निकलता है। सांसारिक साधनों की काफी भर्त्सना इन कविताओं में की गई है, क्योंकि ये सव साधन समाज को उपलब्ध भी नहीं थे। इसलिए उनकी निन्दा करके ही संतोष माना।

मीरां के पद गानेवाले चाहे मीरां की भक्ति की और वैराग्य की लाख तारीफें करें, पर कोई घर-गृहस्थीवाला आज यह नहीं चाहेगा कि उसकी वहू-वेटी घर छोड़कर 'संतन ढिंग वैठि-वैठि लोकलाज खो दे।' धन की निंदा भजनों में लोग वड़े चाव से गाते हैं, पर धन के पीछे दौड़ जारी है। वात यह थी, जव सामग्रियां उपलब्ध नहीं थीं, तव उनकी भर्त्सना हुई, जैसे लोमड़ी के खट्टे वेर। इसका अच्छा पहलू भी था, जो आज गायव होता जा रहा है। वह अच्छा पहलू

व्यक्तियों के चरित्र के विश्लेषण से हमारे खयाल में आ सकता है। ऐसे व्यक्तियों की पिलानी में कमी नहीं थी।

गांव के उन प्रमुख व्यक्तियों में प्रथम स्थान देना चाहिए स्वामी चरणदास-जी को। 'स्यामीजी' इसी नाम से गांव के लोग उन्हें पुकारते थे। वह एक मंदिर के महन्त थे। पर इतने ही से उनका हुलिया पूरा नहीं बैठता। स्यामीजी कुछ वैद्य भी थे, कुछ पंडित भी थे। श्रावण में कथा वांचते थे। एकादशी को मन्दिर में जागरण होता था, जबकि रात-भर भजन गाये जाते थे। होली, जलझूलनी, अन्नकूट को ठाकुरजी की विशेष पूजा होती। इसके अलावा स्यामीजी गायक भी थे। पर पाठक इस सारी गुणावली से चौंधिया न जायं, इसलिए कुछ सफाई करना आवश्यक है। स्यामीजी का आयुर्वेद का ज्ञान दस-बारह ओषधियों तक था। मेरा खयाल है कि उस जमाने की आवश्यकतानुसार ये दस-बारह ओषधियां काफी थीं। स्यामीजी को नाड़ी का ज्ञान भी था। पर नाड़ी तीतर की चाल चलती है या मयूर की, इसकी परख उन्हें थी, ऐसा उनका दावा था। संस्कृत का ज्ञान उनका अत्यन्त स्वल्प था, पर कथा-भागवत भी पढ़ लेते थे। कैसे पढ़ लेते थे, यह एक रहस्य था, जिसका उद्घाटन अभी तक नहीं हुआ। उन्हें सारंगी बजानी आती थी, पर स्वर कुछ उलटे-पुलटे गिरते थे। रागों का ज्ञान काफी था, पर उनका गला कफ से इतना अवरुद्ध रहता कि स्वर कहीं-के-कहीं लग जाते थे। पर स्यामीजी बेमिसाल सेवक थे, इसमें अपवाद नहीं। रोज सुवह मन्दिर से निकलकर गांव का पूरा चक्कर देते थे। रोगी को देखकर दवा देते थे और कभी किसी से न कुछ मांगा, न कोई आकांक्षा की।

स्यामीजी की दाढ़ी लम्बी थी और वह उसे बल देकर कान के चारों ओर रस्सी की तरह आंटा लगा लेते थे। उनका कहना था कि पूरे चार आंटे कान के इर्द-गिर्द उनकी दाढ़ी के आते हैं, यद्यपि किसी ने मापा हो, ऐसा मुझे पता नहीं।

मैंने स्यामीजी की अनेक राग-रागिनियां सुनीं और उनसे सीखीं भी। कोई बाहर का गायक आता तो स्यामीजी उसे मुफ्त भोजन देते। स्यामीजी में मजाक कूट-कूटकर भरा था। निर्लोभी सेवक और हंसोड़े बेमिसाल थे। रात को १२ बजे भी किसी रोगी ने बुलाया तो स्यामीजी चले जाते थे। दवा घर की देते थे और बिना मूल्य। कथा-वार्ता में कुछ विशेष चढ़ावा नहीं आता था, पर खाने-भर का अन्न आ जाता था।

मन्दिर में उन्हीं के साथ उनकी बहन रहती थी। उसका नाम सद्दी था। उसे इस बात का बड़ा संताप था कि लोग स्यामीजी को कुछ देते-लेते नहीं। हम लोग मन्दिर जाकर और जोर से कहते, "सद्दी दादी, राम राम" तो कुछ खुश होती, आशा करती कि कुछ पैसा मिलेगा। पर थोड़ी दूर जाकर जब हम चिल्लाते, "सद्दी दादी, रांड रांड" तो लाठी उठाकर मारने दौड़ती, पर किसी को चोट नहीं आई।

स्यामीजी जव सत्तर के लगभग होकर मरे, तो मन्दिर उजड़ गया। लोगों ने शोक मनाया। न कथा रही, न रहा संगीत और न जड़ी-बूटी। ऐसे वे-मिसाल सेवक आज दुर्लभ हैं।

हमारे गांव में एक था कनीराम तोला। वह भी बेमिसाल सेवक था। सारे गांव की पंचायत करता और सदाव्रत (यह बाबा काली कमलीवाले ने मुष्टि-अन्न की बुनियाद पर आरम्भ करवाया था, जो आज भी जारी है) का हिसाब रखता। लोगों से मुष्टि-अन्न घर-घर से एकत्र करता और गरीबों को वितरण करता, पूरा हिसाब—वही-खाता रखता, पर एक कौड़ी तनख्वाह न लेता। सम्पर्क उसका इतना अधिक था कि गांव के एक-एक बच्चे का नाम तक जानता था। अमरकोश कण्ठाग्रवाले मिले हैं, पर तीन हजार आदमियों का पूरा हुलिया रखनेवाला तो कोई ही होता है। कनीराम में वह माद्दा था।

कनीराम करीव सत्तर साल की आयु पाकर मरा; पर जवतक साठ का न हुआ, कभी रेल भी न देखी, और जब देखी तव अत्यन्त उत्तेजित होकर बैठने से इन्कार किया। कनीराम चाहे आधुनिक चीजों में पिछड़ा हुआ था, सेवा में सबसे अग्रसर था।

हमारे यहां एक सरूपा खाती था। कारीगर था, पर कल्पना के घोड़े दौड़ाता था। उसका खयाल था कि अगर उसे सहायता मिले तो वह रेल के इंजिन भी बना सकता है। छोटी-मोटी बाहर से आई चीजों की उसने हू-ब-हू नकल करके वैसी ही बना दीं; पर रेल का इंजिन उसके बूते के बाहर की चीज है, यह उसने नहीं माना।

एक पहलवान कमरदीं इलाही था, जो रोज एक हजार डण्ड पेलता था। खूब दूध पीता था और अच्छे पहलवानों में था। दूसरा गीगलिया एक नायक जात का जवान था, जो ऊंट लादकर पेट पालता था। किसी ने मजाक में गीगलिया से कहा, "कमरदीं से कुश्ती लड़ोगे ?" गीगलिया ने 'हां' भर ली। गीगलिया ने न कभी कुश्ती लड़ी थी, न उसे दांव-पेंच आते थे। अखाड़ा खोदा गया और गांव के सारे लोग एकत्र हो गए। कमरदीं ने लंगोट खींचकर कच्छा चढ़ाया, उस्ताद की वंदना की और अखाड़े को नमस्कार करके ताल ठोकी। गीगलिया के पास न लंगोट था, न कच्छा और न कोई उसका उस्ताद था। उसने महज धोती के पांयचे कसकर अखाड़े में प्रवेश किया। कुश्ती शुरू हुई। कमरदीं ने पैंतरे बदले, पर पहली ही झपट में गीगलिया ने कमरदीं को सिर पर उठा लिया और लोगों से पूछा, इसे कहां पटकूं ? लोग हंसी के मारे लोटपोट हो गए। कमरदीं ने फिर कभी कुश्ती का नाम न लिया। सुना था, गीगलिया अपने कंधे पर ऊंट को उठा लेता था। गीगलिया बन्दूक रखता और अचूक निशानेबाज माना जाता था। एक रोज निशाना मार रहा था, तब बन्दूक से गोली छूटकर निशाने से बीस गज बायें

खड़ी उसकी मां के पैरों में लगी। मां गिर गई, मरी नहीं। गीगलिया ने कहा, "अत्त तेरी, मां रांड दिल्लगी करते ही लोट गई !' यह कहानी वर्षों तक गांव में प्रचलित रही, जिसे लोगों ने पचासों बेर दोहराया और दोहरा-दोहराकर अपने दिल को बहलाया। आज के गूढ़ मजाकियों को ये सब बातें कंटाले से भरी लगेंगी, पर ऐसे-ऐसे मनोरंजनों से ही जनता उस नीरस समय में रस डालकर काल-यापन करती थी।

हमारे यहां एक डाकिन थी। उसका नाम था बर्जली। बर्जली की बतौर डाकिन काफी शोहरत फैल गई थी यहां तक कि बच्चों के मां-बाप उससे इतने डरते थे कि बच्चों को उसके सामने नहीं आने देते थे। कभी जब वह हमारे पास में आती तो हमें छिपा लिया जाता था; क्योंकि उसकी आंख पड़ने पर काफी अशुभ की आशंका थी। यदि कोई बच्चा बीमार पड़ गया और शक बर्जली पर गया तो या तो उसकी मिन्नत करके या उसे ठोक-पीटकर जबरन उससे बच्चे पर थुकवाया जाता था। इसके माने यह थे कि बर्जली ने बच्चे पर यदि थूक दिया तो फिर उसने जो जादू बच्चे पर चलाया था, वह वापस आ जाता था।

मैंने बर्जली को छिप-छिपाकर देखा था। सूरत-शक्ल से वह एक साधारण कुरूप बुढ़िया लगती थी, पर उसकी शोहरत के कारण उसको कुछ आमद भी हो जाती थी। इसलिए बर्जली ने कभी डाकिन होने से इन्कार नहीं किया, बल्कि लोगों के इस विश्वास को उसने प्रोत्साहन ही दिया।

सुना था रात को बर्जली जरख (लकड़बग्घा) पर चढ़कर कुएं की गूण पर ऊपर-नीचे सवारी पर उतरती-चढ़ती रहती थी। पता नहीं, हमारे प्रांत में ऊंट, घोड़े, बैल होते हुए भी बर्जली को जरख की सवारी क्यों पसन्द थी ! पर यह अपने-अपने मुल्क का रिवाज और अपना-अपना शौक समझिये; क्योंकि यूरोपियन डाइन को झाड़ू पर चढ़ने का शौक है। खैर, यूरोपियन डाइन की सारी करतूतों का तो मुझे पता नहीं, पर बर्जली का शौक था कि जो बच्चा उसके जादू से मर गया, उसे रात को गड्ढे से उखाड़कर वह जिन्दा कर देती थी और फिर बच्चे को खिलाती रहती थी। सुबह की वेला फिर उसे मार कर उसी गड्ढे में गाड़ देती थी। यह बर्जली डाकिन का शौक कुछ अजीब था, जिसके माने समझना आज की नवीन सन्तान के लिए मुश्किल है, पर उस जमाने के लोगों के लिए इसे समझना मामूली बात थी।

बर्जली बच्चे को जिन्दा करने से पहले बच्चे के कलेजे को निकालकर खा जाती थी। कलेजे के क्या माने होते हैं, यह अनेटॉमी के ज्ञान के अभाव में किसी को पता नहीं था, पर सभी ऐसा मानते थे कि बच्चे का कलेजा डाकिन निकाल लेती है।

हमारे यहां एक ब्राह्मण लड़का था, जो डाकिन के जादू से मर गया था।

उसके परिवारवालों को पता था कि वह बच्चा डाकिन के जादू से मरा है। इस-लिए जिस दिन बच्चे को गाड़ा गया था, उसी रात को बच्चे के परिवार के दस-पांच आदमी जंगल में जा छिपे। अब वर्जली रात को जहां बच्चा गाड़ा गया था, पहुंची। बच्चे को निकाला और जिन्दा करके ज्योंही उसे खिलाना शुरू किया कि इन लोगों ने पीछे से वर्जली का चोटा पकड़कर उलटे सिर धर दबोचा और बच्चे को छीनकर ले भागे। इसकी करामात यह थी कि अगर बच्चे को इस छीना-झपटी के समय फिर वर्जली देख पाती तो बच्चा जिन्दा नहीं रहता था। इस मरे हुए बच्चे को वर्जली की गोद में से किस तरह बचाया, यह किस्सा गांव के लोग बड़े चाव से पच्चीसों साल के बाद भी श्रद्धा से सुनते और चाव से कहते। किसी ने इस बात का विरोध नहीं किया, न किसी ने इसकी सचाई में शंका की; बल्कि बच्चे के मां-बाप सौगन्द खाकर भी इस कथा की सत्यता स्वीकार करते थे। अजीब जमाना था वह डाकिनों और भूतों का !

इस जमाने में तो डाकिनों का फैशन उठ गया और न रहे भूत-भूतनियां, पर मेरे बचपन में भूत-भूतनियों की कोई कमी नहीं थी। बीसों आदमियों ने उन्हें देखा और उनसे बातें कीं, हालांकि लाख कोशिश करने पर भी मैं भूत-देवता के दर्शन नहीं कर पाया। कम-से-कम इस जमाने के लोगों का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि उनके लिए अब भूत देखने का कोई मौका ही नहीं रह गया।

हमारे पूर्वजों में भी एक 'पित्तर' हो गए हैं। यह ध्यान देने की बात है कि पित्तर और भूत अलग-अलग हैं। भूत नालायक, कमीने होते हैं, लोगों का नुक-सान करते हैं और पित्तर भले होते हैं। हमारे परिवार की परम्परा ने भी कुछ सहारा लगाया होगा कि हमारे पूर्वजों में पित्तर हुए। यह पित्तर रात को सफेद कपड़े पहनकर और कभी-कभी सफेद घोड़े पर चढ़कर निकलते थे और हर पहलू से हमारी रक्षा में तैनात रहते थे। मेरी मां को इनका बड़ा भरोसा था। एक मरतबा शाम को मैं देरी तक गलियों में खेलता रहा और जब वापस लौटा तो पिताजी को क्रुद्ध देखकर वापस भागकर किसी एक फूटे मकान में जाकर छिप गया। अब शुरू हुई दौड़-धूप मुझे खोजने की। लोग चिल्लाते और पुकारते उस टूटे मकान के पास से निकल जाते थे, पर किसी ने भीतर घुसकर नहीं देखा कि मैं मजे में खड़ा सबको देख रहा हूं।

खैर, लोगों की इस परेशानी को देखकर, न मालूम क्यों, मुझे बड़े जोर से हंसी आई और मैं बाहर निकल पड़ा। मुझे हाथोंहाथ गोदी में चढ़ाकर मेरी मां के पास पहुंचाया गया और, पता नहीं क्यों, बजाय पीटने के मेरा काफी दुलार हुआ। पीछे से मैंने सुना कि मुझे किसी कारण पित्तर ने छिपा लिया था। लोगों ने बिना किसी झिझक के मेरी मां को बताया कि उन्होंने एक सफेद कपड़ेवाले मनुष्य को उस फूटे मकान के पास देखा था। फिर तो उन पित्तर को प्रसन्न

करने के लिए खीर बनी, जो मैंने भी बड़े चाव से खाई।

अफसोस है कि भूतों और पित्तरों का यह समाज आज गायब हो गया, रूठ गया या बेकार हो गया। जो हो, ये सब वाकये गांव के लोगों को व्यस्त रखने के लिए काफी मसाला दे देते थे।

हमारे यहां कहावत थी :

सीयाळे खाटू भलो
, ऊनाळे अजमेर;
नागाणो नित को भलो
सावण बीकानेर।

उन दिनों, जबकि लोगों का अन्य प्रदेशों का ज्ञान परिमित था, मुमकिन है, ऊपर का यह खयाल ठीक हो। तीन सौ साल पहले तो अजमेर के आसपास के प्रदेशों में काफी बड़े जंगल थे और आबू भी पास में ही था। इसलिए गर्मी की लू से बचने के लिए 'उनाळे अजमेर' ठीक हो सकता है, पर श्रावण की सारे राजस्थान में भी विशेषता रही है और पिलानी भी इस विशेषता से बरी नहीं था।

आज तो तुलना कुछ बारीकी से होने लगी है, इसलिए श्रावण में जब तापमान ९५ से ऊपर रहता है, उमस बहुत ज्यादा रहती है, कीड़े-मकोड़ों और मच्छरों का जोर रहता है तो हवा-पानी और मौसम की दृष्टि से पिलानी में या राजस्थान में आकर्षण कम रह गया है, पर हमें उन लोगों की नजर से देखना चाहिए, जो लू खाते-खाते तंग आ गए थे और पपीहे की तरह वर्षा की उडीक करते थे।

वर्षा के राजस्थान में अनेक आकर्षण हैं। प्रचण्ड गर्मी के बाद बादलों की काली और रुपहली शक्ल के साथ उतार-चढ़ाव, बूंदों की रिमझिम, बिजली की कड़क, मोरों का मेह की गरज पर नाच, किसानों का हल ले-लेकर निकलना, खेतों में फिर आठ महीने के बाद चहल-पहल—ये सब बातें राजस्थानी के लिए कुछ अनोखी हैं। वर्षा जब आती थी, बच्चे नालियों के पानी में और गलियों की नालियों में भी क्रीड़ा करने उलट पड़ते थे। सारे साल का अन्न एक ही ऋतु में पैदा होता है, यदि अकाल न पड़ा तो। इसलिए भी वर्षा ऋतु का महत्त्व राजस्थान में अन्य प्रदेशों से कहीं काफी अधिक है।

हमारे यहां भी एक पचास बीघे का खेत था, जिसे किराये के हलों से हम लोग जुतवाते थे। बाजरी तो प्रधान फसल है। उसे बोते ही थे। पर बाजरी के साथ गंवार (गौ-आहार), मूंग, मोठ, चौला, काकड़ी, मतीरे के बीज भी बोये जाते थे, और इन सब चीजों के अंकुरित होने से लगाकर फसल कटने तक हम लोग हर दिन की प्रगति से अपने-आपको ब्यौरेवार वाकिफ रखते थे। जब बाजरे के सिट्टे लगते थे, उस समय तक काकड़ी और मतीरे भी तैयार होने आ जाते थे। तब मित्रों के साथ खेतों में एक तरह की पिकनिक होती थी, जिसमें उत्साह,

आनन्द और उत्तेजना का कोई ठिकाना नहीं रहता था। शाम को घर आते तब ऊंट पर गंवार-फली, बाजरे के सिट्टे और मतीरे लादकर ले आते थे। अब तो इन चीजों का रस राजस्थानियों के दिल से भी निकल गया, पर उस पुरानी पृष्ठभूमि पर ये सब चीजें दुर्लभ थीं, जिन्हें प्राप्त करने की लालसा बनी ही रहती थी।

पर यह चित्र तो हुआ वर्षा होने पर फसल अच्छी हो उसका, इसके विपरीत जब अकाल पड़ता था तो सब मुरझा जाते थे। मेरी याद में और शायद सारे हिन्दुस्तान में १९५६ संवत्-जैसा अकाल नहीं पड़ा। इससे पहले सुना था कि संवत् १९०० और १९०१ में लगातार दो अकाल पड़े थे। इनका नाम लोगों ने 'सैया, और 'भैया' रखा। ये अकाल, कहते हैं, इतने भयंकर थे कि १९०१ में किसी घर में चक्की की आवाज सुनकर १९०१ का दुर्भिक्ष 'भैया' १९०० के दुर्भिक्ष 'सैया' से कहता था—'चाकी चालै रै सैया, माणस बोलै रै भैया !'

इसके बाद भी एक-आध भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। पर छप्पनिये अकाल ने सब अकालों को नीचा दिखाया। इसकी भयंकरता भय को भी डरानेवाली थी। छप्पन में यों कहना चाहिए कि बरसात हुई ही नहीं। आषाढ़ गया, श्रावण गया, जब भादों गया तब तो लोगों के छक्के छूट गए। कुछ हिस्सों में, जहां पानी खारा है, वहां तो कुण्डों का पानी भी सूख गया। सारा बागड़, जो राजस्थान का पश्चिमी हिस्सा है, भादों में डुल पड़ा और अन्य प्रदेशों में जाने लगा। पर जाना भी आसान नहीं था। जिन पशुओं के बल पर गाड़ों में सामान लादकर बालद चली थीं, वे पशु एक-एक करके मरने लगे। उनके बाद नम्बर आया मनुष्यों का। भूख के मारे लोग बच्चे बेचने लगे, पर लेनेवाला कहां ! लोगों की कमर में रुपये बंधे पड़े रहे और भूख के मारे मरते गए।

मैंने अपनी आंखों बीसों मुर्दे हमारे गांव के आसपास सड़ते देखे और सैकड़ों खोपड़ियां बिखरी हुई देखीं। लोग समझ न पाये कि क्या हो रहा है। यातायात की उन दिनों कमी थी। रेल तो थी नहीं, ऊंट-बैल चारे के अभाव में मर गए। अन्न करीब ६ रुपया मन मिलता था, पर पहुंच नहीं पाता था।

मेरे पिताजी ने इन लोगों को काम देने के मतलब से कई जगह कच्चे तालाब और कुओं की मरम्मत करवानी शुरू की, पर कोई दवा सफल नहीं हुई। लाखों आदमी राजस्थान में मरे। लोगों के देखते-देखते यह एक अनहोनी घटना थी। इतनी भूख पर भी कोई लूट-खसोट या डाका नहीं पड़ा। लोग चुपचाप ईश्वर की शरण में जाते थे। किसी-किसी घर में तो मुर्दा जलानेवाला भी नहीं बचा।

इस दुर्भिक्ष के समय पिलानी में जो कोई डुलकर आया, उसे सदाव्रत की तरफ से कनीराम तोला एक मुट्ठी अन्न दे देता था और हमारे परिवार की तरफ से भी कुछ-न-कुछ प्रबन्ध था। उत्तरप्रदेश से अच्छी तादाद में किसारी और मटर

आयात कर ली गई थी और हर भूखे को एक-एक मुट्ठी दोनों अन्नों की बांट देते थे। खानेवालों को पकाने तक की फुर्सत नहीं थी। इसलिए मटर और किसारी को कच्चा ही फांक जाते थे।

क्षुधा की पीड़ा का यह रोमांचकारी दृश्य मैंने बचपन में ही देखा। मैं उस समय केवल पांच साल का था, पर मेरे चारों ओर क्या हो रहा है, इसका मुझे अच्छी तरह भान था। भूखे लोगों का त्रास और जगह-जगह मुर्दे और खोपड़ियों का टलना, यह भयानक दृश्य था, जिसने मेरे हृदय पर काफी चोट की। कुछ गरीब लड़के मेरे साथी थे। उन्हें मैं अपने यहां से कुछ और भी अन्न दे देता था। उन साथियों में एक-आध आज जिन्दा हैं और हमारे यहां कुछ कार्य भी करते हैं।

पर छप्पन जितना भयंकर दुर्भिक्ष था, सत्तावन वैसा ही चिरस्मरणीय सुकाल हुआ। छप्पन में पशु सब मर गए थे और इसीलिए खेती कैसे जोतेंगे, यह भी एक समस्या थी। सत्तावन में आषाढ़ में ही बादल छाने लगे, पर वर्षा नहीं हुई। लोगों की चिन्ता बढ़ी। लोगों ने सतृष्ण आंखों से बादलों की ओर देखा—आशा और भय के साथ। यदि फिर अकाल पड़ा तो? और वर्षा हुई भी तो खेती कैसे बोयेंगे? इसी उधेड़-बुन में थे कि श्रावण में इन्द्र उमड़ पड़ा, मूसलाधार वर्षा हुई और उसके बाद चाही-चाही वर्षा हुई समय पर; न कम, न अधिक। वर्षा होते ही नर-कंकाल खेतों में दौड़ गए और मर्द और स्त्री मिलकर पशु की तरह हल खींचने लगे। पर पूरी खेती न होने पाई। इधर भगवान् बरसा तो ऐसा बरसा कि जहां खेती नहीं जोती गई, वहां भी बाजरी, मूंग, मोठ उग पड़ी। बाजरा बढ़ा तो ऐसा बढ़ा कि कई-कई बूंट १५-२० फुट लम्बे गये। एक-एक बूंट में सात-सात सिट्टियां लगीं। लोगों को फसल पकने तक का धीरज नहीं था। इसलिए कच्ची बाजरी मूंद-मूंदकर खाने लगे और ऐसे ही काकड़ी और मतीरे।

सूखी हुई हड्डियों में जान आई और मांस-चर्बी जो सूख गई थी, वह मनुष्यों के बदन पर फिर आने लगी। आसोज आते-आते तो लोग मोटे-ताजे हो गए। बाजरी इतनी सस्ती हो गई कि कोई लेनेवाला नहीं मिला, पर इन्द्र चुप नहीं रहा। माघ तक बरसता ही रहा। फसल कट गई, पर फिर अपने-आप पनप गई और सिट्टे माघ तक चलते रहे।

भगवान् की लीला अपरंपार है। छप्पन का अकाल और सत्तावन का सुकाल, ये राजस्थानी हृदयों पर एक अमिट छाप छोड़ गए हैं।

इस पृष्ठभूमि और इस वातावरण में मैं जन्मा और पला। इसकी मुझे खुशी है। भविष्य की सन्तान को यह अवसर शायद ही मिले, क्योंकि उस समय के जनमनेवालों ने काफी फेर-बदल देखा। रंगमंच पर कई नये पर्दे पड़े और कई सिमटे। मेरे बचपन में भारत परतन्त्र था। एशिया के मुल्क भी पिछड़े हुए थे। सारे आलम में इंगलिस्तान का डंका बजता था। रानी विक्टोरिया के राज में

सूर्य कभी अस्त नहीं होता था। अंग्रेजों की यश:पताका शिखर पर पहुंच चुकी थी और शान के साथ फहरा रही थी। इसके बाद स्वतन्त्रता का संग्राम शुरू हुआ, वह भी मैंने देखा। अंग्रेजों की ढलती आई, मेरे देखते-देखते रूस पनपा और उन्नत हुआ। भारत को आजादी मिली और अंग्रेजी यूनियन जैक की जगह तिरंगा झंडा चढ़ गया। अन्य मुल्कों को भी आजादी मिली। गांधीजी के सम्पर्क में मैं आया और अन्य नेताओं को भी नजदीक से देखा। उनसे बहुत-कुछ सीखा। उनकी सेवा करने का भी मौका मिला।

इस अनोखे समय और वातावरण में जन्म लेना, पनपना और जिन्दा रहना, यह एक बड़ा सुअवसर मुझे मिला।

२. मेरा शिक्षण

मेरी शिक्षा की कहानी आज के उन्नत माने जानेवाले युग में एक अजीब-सी कथा लगेगी। जब मैं चार ही साल का था, तब सरस्वती और गणेश-पूजन के बाद, बड़े समारोह के साथ, मुझे पाठशाला भेजा गया। हम लोग उस जमाने में उस स्थान को पाठशाला तो शायद ही कहते थे। बोलचाल की भाषा में इसे 'साल' कहा जाता था और यह साल भी एक अद्भुत जगह थी।

एक पुरानी टूटी-फूटी मंडी में एक 'गुरु' पचासेक लड़कों को 'नीचे धरती और ऊपर आकाश' ऐसे एक खुले चौगान में धरती पर, बिना किसी जाजम या दरी के बिछात के, बैठाकर पढ़ाते थे। चूंकि ऊपर कोई छत नहीं थी, इसलिए धूप से बचने के लिए दीवार की आड़ में क्लास लगती थी, और जब वर्षा होती, तब पाठशाला बन्द कर दी जाती थी।

पाठ्यक्रम की पुस्तकों के नाम पर तोबा थी। शायद इस शब्द का अर्थ भी गुरु नहीं जानते थे। स्लेट भी सब बच्चों के पास नहीं होती थी। जिनके पास स्लेट नहीं थी, उनके पास एक पटिया होती थी, जिसपर ईंट की खोर बिछाकर लकड़ी के 'बरतें' से लड़के कुछ अंक लिख लेते थे।

अंक लिखे जाते थे, अक्षर नहीं। अक्षर-ज्ञान राजस्थान में उस जमाने में अनावश्यक समझा जाता था। शिक्षा का आरम्भ होता था 'अंकों' से। पट्टी-पहाड़ा, सवैया, डेढ़ा, ढांवां, पौना, कनकैया, जोड़, बाकी, गुणाकार, भागाकार, जबानी हिसाब—बस, यहां तक पहुंचे कि शिक्षा समाप्त। इसके बाद अक्षर-ज्ञान कराया जाता था—वह भी बिना मात्रा के अक्षर, जिन्हें 'मोडा' कहते थे। इन मोडा

अक्षरों का भी कोई निश्चित स्टैण्डर्ड नहीं था। जैसी जिसकी लिखावट, वैसा ही 'मोडा' अक्षर। इसका कुछ ज्ञान होने के बाद आदतन हरएक को सभी तरह के मोडा अक्षर पढ़ने का अभ्यास हो जाता था। बस, यही उस जमाने की शिक्षा का क्रम था, जो करीब तीन-चार साल में समाप्त हो जाता था।

कुछ गुरु ऐसे भी माने जाते थे, जिन्हें लीलावती के त्रैराशिक का ज्ञान था; पर इस ज्ञान को किसी ने कसौटी पर नहीं कसा, क्योंकि त्रैराशिक पढ़नेवाले शिष्य ही कहां थे!

मैंने भी इसी क्रम का अनुसरण किया।

पर तीन-चार साल के बाद एक रोज अचानक एक नई घटना घटी। जब लड़के सुबह-सुबह 'साल' पहुंचे, तो देखा कि गुरु नदारद हैं। बात यह हुई कि गुरु की किसी विधवा से लागफांस थी, और वह रात को ही गांव छोड़कर उस विधवा के साथ ऊंट पर चढ़कर भाग गया। यह एक उत्तेजनाप्रद घटना थी। गांव में इसे लेकर बड़ा शोरगुल मचा। गली-गली में इसकी चर्चा होने लगी। लड़कों में भी कुतूहल जाग उठा, और कानाफूसी चलती रही। पर एक बात हुई; वह 'साल' सदा के लिए बन्द हो गई।

मेरे दादाजी और पिताजी को अब चिन्ता हुई मेरे शिक्षण की। नया प्रबन्ध क्या हो, इस उधेड़बुन में पड़कर बड़ी खोज-खाज के बाद एक नया गुरु बुलाया गया। इसका नाम था कानसिंह। यह जाति का राजपूत था, बुड्ढा था, खूब सफेद दाढ़ी थी। इसका ज्ञान भी उतना ही माना जाता था, जितना कि प्रथम गुरु का। कानसिंह ने आकर हमारे एक छोटे-से पुराने मकान में पाठशाल खोल दी। कानसिंह पांच रुपया मासिक तनख्वाह पर नियुक्त होकर आया था। मुड्ढे पर बैठकर वह बेंत के जोर से पाठशाला चलाने लगा। पचास के करीब लड़के पाठशाला में जुट गए। मैंने भी इस पाठशाला में अपनी अधूरी शिक्षा कानसिंह के सहारे से 'पूरी' की। दरअसल तो हर शिक्षा अधूरी ही रहती है, पर जबानी हिसाब-किताब सीखने के बाद सात ही साल की अवस्था में तो मैं दक्ष मान लिया गया। बाहर के लोग आकर यदि पूछते कि अढ़ाई सेर का घी, तो एक मन का क्या दाम? तो मैं चट से सही उत्तर दे देता था। यह उस जमाने में कोई साधारण विद्या नहीं मानी जाती थी।

पर अब, बदलते हुए जमाने में, काल-धर्म के अनुसार, अंग्रेजी की भी कमी महसूस होने लगी। वह कमी कानसिंह से नहीं पूरी हो सकती थी। वह बेचारा अंग्रेजी से तो कोसों दूर था। हिन्दी के अक्षर-ज्ञान से भी सरासर बेकसूर था। इसलिए अब तय यह हुआ कि कानसिंह को हटाकर कोई अंग्रेजी-पढ़ा मास्टर रखा जाय। इस विचार के परिणामस्वरूप मास्टर रामविलास को बुलाया गया। यह भिवानी से आये। हट्टे-कट्टे जवान और क्रोध की मूर्त्ति। तनख्वाह इनकी

पच्चीस रुपये मासिक थी। रामविलास मास्टर ने स्कूल को एक नये ढांचे में ढाला और अव यह स्कूल नया रूप लेकर चलने लगा। स्कूल में घड़ी रखी गई और घड़ियाल भी, जो हर घण्टे घण्टा बजाकर गांववालों को, कितना बजा है, यह बताती थी। गांववालों ने इसे एक बड़ी क्रांतिकारी घटना माना।

कानसिंह से तो लड़के परिचित हो गए थे, क्योंकि उनमें स्थानीय 'बू' पुष्कल थी। पर जब रामविलास आए तो कुछ दिन लड़कों को उनकी खटक रही, बाद में उनके भी आदी हो गए। रामविलास की वेश-भूषा भी कुछ अंग्रेजी ठाठ की थी, और ऊपर से क्रोध की तेजी। इसलिए उनका रौब काफी जम गया।

मास्टर रामविलास कुछ मामूली-सी ही अंग्रेजी जानते थे। किसी मौलवी साहब से उन्होंने उर्दू भी सीखी थी, पर हिन्दी से वे पूरे बेदाग थे। इसलिए उस उर्दू-दां आबोहवा में मैंने सर्वप्रथम अंग्रेजी की प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट बुक ऑव रीडिंग' में प्रवेश किया। अंग्रेजी के स्वर और व्यंजन से ही इस पुस्तिका का आरम्भ होता था। छोटे-छोटे शब्दों के बाद इसमें छोटे-छोटे सहज वाक्यों का क्रम था। मैंने धीरे-धीरे स्वर-व्यंजन समाप्त करके मास्टरजी की सहायता से एक साल में सारी पुस्तक का अन्त कर दिया और उसी अन्त के साथ-साथ नौ साल की आयु में मेरी शिक्षा के प्रथम सोपान का भी अन्त हुआ। अंग्रेजी-शब्दों का अर्थ मास्टरसाहब उर्दू में बताते थे, इसलिए मैं भी हिन्दी की आबोहवा से बिलकुल कोरा रहा। मुझे याद है कि 'एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरी' शब्द के माने उन्होंने बताये थे, 'अजब तरह की चालाकियां'! खुदा जाने, यह अर्थ उनके दिमाग में कहां से आ टपका! पर मैंने तो जो बताया गया, उसे ही याद किया। पीछे, जब अशुद्धि का पता चला, तब दुरुस्त किया। खैर, गलत-सलत कुछ भी मैंने सीखा, पर गांव-गली के लोग तो मेरी उतनी ही इज्जत करते थे, जितनी कि किसी 'विशारद' की हो सकती है; क्योंकि मुझे अंग्रेजी में तार लिखना-पढ़ना आ गया था, और अंग्रेजी के कुछ वाक्य भी मौके-बेमौके बक सकता था। इस गंवई 'विद्या' की प्राप्ति के पश्चात् मुझे कलकत्ते दादाजी के पास भेज दिया गया, क्योंकि गांव के सीमित वातावरण से मेरा स्तर ऊंचा हो गया था, ऐसा मान लिया गया।

कलकत्ते जब मैं पहुंचा तब नौ साल का था। कुछ अपरिचित विदेशियों ने मेरे दादाजी से कहा कि लड़के को आगे पढ़ाना चाहिए। कुछ लोगों ने यह भी कहा, लड़का होशियार है। पर दादाजी के पास सबके लिए एक ही उत्तर था, "ज्यादा पढ़ाने से लड़का बस का नहीं रहेगा, और अंग्रेजी अधिक पढ़ने से 'किस्टान' हो जायगा।" तब भी अधिक दबाव में आकर कलकत्ते में 'विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' में मुझे दाखिल करवा ही दिया गया। इस दाखिले के लिए आठ-दस किताबें खरीदकर दे दी गईं और एक बैग भी किताबें रखने के लिए दिया गया। यह मेरे लिए अत्यन्त उलझीला अनुभव था। कहां मैं गांव-गंवई का लड़का और

कहां कलकत्ते के स्कूल का यह अद्भुत वातावरण ! दसियों अध्यापक, कई क्लासें, सैकड़ों लड़के, यह सब मुझे दिलचस्प तो लगा, पर भयावना भी लगा। लड़के भी कलकतिये, इसलिए गांव के लड़कों से भिन्न। अलग वेश-भूषा। भाषा भी हिन्दी-मिश्रित। इस सबको मैं पचा नहीं पाया। खैर, मैं स्कूल में दाखिल तो हो गया, पर मन वहां चिपटा नहीं। इसलिए धीरे-धीरे स्कूल से गैरहाजिर होने लगा।

दादाजी तो मुझसे कभी पूछते भी नहीं थे कि मैं क्या पढ़ता था और स्कूल मुझे कैसा पसन्द आया। मेरी विद्या से उनकी विद्या तो और भी निम्न स्तर की थी। इसलिए हमारे बीच यह एक मौन समझौता हो गया कि न तो वे मुझसे पूछते कि मैं क्या पढ़ रहा हूं, और न मैंने ही कभी उन्हें अपनी दिनचर्या से परिचित किया।

असलियत तो यह थी कि मैं घर से अपना 'बैग' लेकर स्कूल के लिए रवाना हो जाता था, पर स्कूल न जाकर दिन-भर कलकत्ते की गलियों से ही मैत्री होती थी। दिन-भर चक्कर काटकर शाम को घर पहुंच जाता था। नतीजा यह हुआ कि मैंने 'विशुद्धानन्द विद्यालय' से तो कुछ नहीं पाया, पर कलकत्ते की गलियों से कलकत्ते के भूगोल का काफी ज्ञान हासिल कर लिया। मेरा खयाल है कि इस भूगोल की परीक्षा में आज भी मैं अच्छे नम्बरों से पास हो सकता हूं।

पर यह क्रम भी समाप्त हुआ। मेरे पिताजी मुझे बम्बई ले गए और वहां व्यवसाय सिखाने के साथ-साथ एक घंटे के लिए एक मास्टर को तैनात कर दिया, जो अंग्रेजी की गटर-पटर रटाया करता था।

इस तरह दो साल और बीते। इस अरसे में हिसाब-किताब, वही-खाता तो मैं सीख ही गया, अंग्रेजी के वातावरण से भी कुछ परिचित हो गया। तार तो लिखना आ ही गया था, अब टूटी-फूटी चिट्ठियों के क्षेत्र में भी कुछ दुःसाहस करने लगा। पर मेरे इर्द-गिर्द तो ऐसे अनपढ़ों की मंडली थी कि उनके बीच में मैं पूरा विशारद था।

इसके बाद कुछ दिन फिर पिलानी के ही स्कूल में रहा। मास्टर रामविलास के साथ-साथ अब वहां मास्टर श्रीराम भी आ गए थे। हरफन-मौला और उड़ान के मास्टर थे वह। उड़ान देते ही रहते थे। कोई भी पाठ्यक्रम स्थिर नहीं रहता था। किसी भी चीज पर उनका दिल नहीं अटकता था। आज हिन्दी, तो कल संस्कृत, परसों कुछ और। अंग्रेजी की पुस्तकों की भी अजीब अदला-बदली हर महीने चलती थी। कभी तो छोटी क्लास के लड़कों को 'ब्लैकीज सेल्फ-कल्चर' सौंपी जाती, तो कभी वापस 'इंग्लिश प्राइमर' से पाठ आरम्भ होता था। 'होरा चक्र' और 'शीघ्रबोध', जिनसे पाठ्यक्रम का कोई सम्बन्ध नहीं था, वह भी टपक पड़ता था। मास्टर श्रीराम 'लघुकौमुदी' और 'अमरकोश' को भी लड़कों पर लादने की कोशिश में थे, पर नाकामयाब हुए। ये सारे प्रयोग होते थे नौ-दस साल

की उम्र के लड़कों पर !

इस निरन्तर अदला-वदली के कारण कम-से-कम मेरी कई पुस्तकों और कई नये विषयों से पहचान वढ़ी। खैर, पर इन्हें हिन्दी ठीक-ठीक आती थी। उर्दू, अंग्रेजी से भी ठीक-ठीक ठोकर खाई थी। इसका कुछ अच्छा असर भी पड़ा, क्योंकि इनके जरिये मैंने हिन्दी में प्रवेश कर लिया और ठोकरें खाते-खाते एक साल के वाद लोअर प्राइमरी की परीक्षा को पास कर ही तो लिया। यह परीक्षा क्या थी, इसका मापदंड वताना आज कठिन है; पर शायद आज की चौथी क्लास से इसकी तुलना हो सकती है। इसके वाद मैं और पढ़ता, तो अपर प्राइमरी की परीक्षा देकर मिडिल भी पास कर सकता था।

पर अव पिताजी ने भी मान लिया कि इस 'विशारद' को व्यवसाय में डालना चाहिए। इसलिए तेरह साल की अवस्था में पिताजी के नीचे व्यवसाय करने लगा, और 'स्कूली जीवन' को तो, यदि इस जीवन को इतनी वड़ी उपमा देने की मैं धृष्टता करूं, अन्तिम नमस्कार किया। यह है मेरी शिक्षा की कहानी !

पर जव व्यवसाय में पड़ा, तव मुझे अपनी इस कमी का स्पष्ट ज्ञान हुआ। यह अनुभव होते ही मेरी यह कमजोरी जोर से मुझे सताने लगी, और इसी के साथ-साथ जिज्ञासा की अमिट जागृति हुई, जो आज भी निरन्तर जारी है।

नौ-दस साल की उम्र में 'सुखसागर' और 'भारतसार' मैं पढ़ गया था, इसके कारण हमारी प्राचीन कथाओं से मैं काफी परिचित हो गया। अव हिन्दी के ज्ञान के सहारे जो भी हिन्दी-पुस्तक मुझे मिली, उसे हजम करने लगा। उन दिनों हिन्दी का साहित्य काफी कमजोर था, पर जो भी मिला, उसीसे सन्तोष किया। वम्वई में रहने के कारण गुजराती भाषा का मुझे ठीक ज्ञान हो गया था, इसलिए हिन्दी-साहित्य की कमी को गुजराती से भरने की कोशिश करने लगा। गुजराती साहित्य काफी पढ़ जाता था। पर जव अंग्रेजी अखबार पढ़ने का प्रयत्न किया, तो अंग्रेजी-शव्दावली का स्वल्प ज्ञान मेरे रास्ते में वाधक होने लगा। उससे युद्ध करने के लिए डिक्शनरी की मैंने शरण ली। साथ में कॉपी-वुक की भी सहायता ली। डिक्शनरी में शव्दार्थ देखकर कॉपी-वुक में उस शव्द का अर्थ लिख लेता था, और शव्द के उच्चारण और अर्थ को रट-रटकर याद करता रहता था। वम्वई में रहने के कारण लोगों को इधर-उधर अंग्रेजी में वात करते सुनता था, इससे भी उच्चारण सुधारने का मौका मिल जाता था।

इसके वाद तो सोलह साल की आयु में मैंने कलकत्ते में स्वतंत्र व्यवसाय शुरू कर दिया। इस व्यवसाय के सिलसिले में मेरा अंग्रेजों से, और अमरीकी लोगों से काफी सम्पर्क वढ़ा। इस सम्पर्क से मुझे अंग्रेजी का ज्ञान वढ़ाने का अच्छा अवसर मिला। मेरा शव्द-कोष समृद्ध होने लगा। नये-नये मुहावरे भी आने लगे और उच्चारण भी सुधरने लगा।

पर केवल भाषा ही तो विद्या नहीं है। महत्त्वपूर्ण विषयों का अभाव मुझे खटकने लगा। जब विदेशियों से वात करता, और वे लोग किसी गम्भीर विषय की चर्चा करते तो मैं अपने को गहरे सागर में पाता। 'हंसमध्ये वको यथा' जैसी अपनी हालत देखकर मुझे शर्म और परेशानी सताने लगी। इसका मुकाबला करने के लिए एकमात्र सहारा था पुस्तकों का। मास्टर या अध्यापक रखना पसन्द नहीं था। समय भी कोई निश्चित नहीं था कि उसी समय मास्टर को बुलाऊं। इसलिए एकमात्र उपाय था पुस्तकों द्वारा ज्ञान ढूंढ़ना। हिन्दी और गुजराती पुस्तकों की परिधि से बाहर निकलकर अब मैंने अंग्रेजी-साहित्य का आश्रय लेने का सोचा और विचार को कार्यरूप में परिणत भी कर दिया। इससे मेरा भाषा का ज्ञान भी सुधरा और नये-नये विषयों का भी ज्ञान-संचय होने लगा। हिन्दी, गुजराती और कुछ संस्कृत से तो मैं परिचय पा गया था, टूटी-फूटी बंगला भी आती थी। पर अंग्रेजी की कमी ज्यों-ज्यों कम हुई, त्यों-त्यों अन्य जटिल विषयों में प्रवेश करने के लिए अंग्रेजी-साहित्य से मुझे सहायता मिलने लगी।

इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विभिन्न फिलासफरों की फिलासफी और साइंस जैसे क्षेत्रों में मेरी रुचि बढ़ी और उस रुचि के अनुसार बौद्धिक भोजन भी जुटाने लगा। वड़े लोगों की जीवनियों की जो भी सरल पुस्तक हाथ में आई, उसे चाव से पढ़ गया। रूसो, थॉरो, टॉल्स्टाय, सुकरात, प्लाटो, आरिस्टाटल, शेक्सपीयर, गोल्डस्मिथ, डिकेंस वगैरह सबको पढ़ता गया। मार्क्स भी पढ़ गया, हालांकि शुरू-शुरू में समझने में कठिनाई पड़ी। अर्थशास्त्र के नये या पुराने साहित्य से भी परिचय करने की चेष्टा की, पर जितना पढ़ा, उससे हजम कुछ ज्यादा किया। जो पढ़ता, उसपर अपनी स्वतंत्र राय भी कायम करता। तिलक के 'गीता-रहस्य' ने हिन्दू-दर्शनों का अनुपम दिग्दर्शन कराने में मुझे सहायता दी। स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' ने खंडन करने की वृत्ति पर प्रकाश डाला। पर यह नहीं कह सकता कि इन पुस्तकों ने मुझपर कोई प्रभाव डाला। अंग्रेजी के बाद फ्रेंच की ओर भी रुचि बढ़ी। वह भी कुछ सीखी। यह सारा क्रम आज भी चल रहा है।

जिज्ञासा जारी है। कमियों का भान है। 'अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिंतयेत्'। अपने-आपको मनुष्य अजर-अमर मानकर पढ़ता जाय, यह सबक मैंने सीखा। इसे सीखने से ही मनुष्य अपने अज्ञान की, अपनी तुच्छता की और ईश्वर की महानता की अनुभूति करता है।

कार्य में व्यस्त रहते हुए भी पढ़ने के लिए मुझे अब भी समय मिल ही जाता है। साल में पन्द्रह-बीस अच्छी पुस्तकें भिन्न-भिन्न विषयों पर पढ़ लेता हूं। इसके माने यह नहीं कि पुस्तक की एक-एक पंक्ति पढ़ डालता हूं। पुस्तक के सार की तरफ अधिक आकर्षण रहता है, बनिस्बत उसके निरर्थक बनाव-श्रृंगार के। जैसा-कि विनोबाजी ने कहा है, "मैं सन्तरे खाता हूं, पर उसके छिलके या बीज नहीं";

मैं पुस्तक पढ़ता हूं, पर उसके बनाव और शृंगार को नहीं।

शिक्षा-सम्पादन की इस मेरी अजीव पद्धति से यह पक्का स्वभाव बन गया कि विना शिक्षक की सहायता से ही विद्या-उपार्जन करने की कोशिश करूं। इसलिए जो भी कुछ स्कूल छोड़ने के बाद सीखा, वह अपने खुद के परिश्रम से और पुस्तकों की सहायता से। गुरु से सीखने के प्रति मेरी अरुचि शायद शुरू से ही रही है, और यह अरुचि अव स्वभावतया इस उम्र में और भी बढ़ गई। संगीत भी सीखा और सीखना अव भी जारी है, पर सीखा रेकार्डों की बदौलत।

कुछ ऐसा लगता है कि हमने गुरु पर आवश्यकता से अधिक बोझ लाद दिया है। गुरु का आवश्यकता से अधिक सहारा लिया है। यह मेरी समझ में मानसिक आलस्य के लक्षण हैं।

गुरुः ब्रह्मा, गुरुः विष्णुः गुरुः देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मात् श्रीगुरवे नमः॥

यहां 'तस्मै' के स्थान पर 'तस्मात्' पाठ रखकर इसका अर्थ कुछ भिन्न लगाना चाहिए। अर्थात् गुरु ब्रह्मा ही है, गुरु विष्णु ही है, महेश्वर ही है और परब्रह्म ही है, इसलिए गुरु अर्थात् ईश्वर को नमस्कार करता हूं। ईश्वर कहो, परमात्मा कहो या अपनी आत्मा कहो, तात्पर्य एक ही है। मेरा खयाल है कि मनुष्य को स्वयं ही अपने-आपका गुरु बनना चाहिए। दत्तात्रेय ने पशु-पक्षियों तक से सीखा, पर स्वयं ही तो सीखा। गेलीलियो, एडीसन, बैंजामिन फ्रेंकलिन, जेम्स वाट, मैडम क्यूरी इन सबने नये-नये आविष्कार गुरु से सीखकर नहीं किये, खुद अपने-आप ही किये। इसलिए मनुष्य गुरु का अनावश्यक आश्रय न लेकर स्वयं अपने-आपको गुरु बनाये, तभी वह प्रगति कर सकता है। तोते की तरह रटंत करनेवाला तो तोता ही रह जाता है।

पर मेरी इस पद्धति का सभी अनुसरण न करें; क्योंकि इसमें भय भी है। पर एक चीज, जिसका मैं जोरों से समर्थन करना चाहता हूं, वह यह है कि जो छात्र स्कूल या कालेज में अध्ययन करते हैं, वे घर पर अध्यापक को बुलाकर न पढ़ें। अमरीकी पद्धति यह है कि कालेज में प्रोफेसर छात्रों को कुछ पढ़ाते हैं और घर पर उनको पुस्तकों के अध्ययन से ज्ञान-उपार्जन करना पड़ता है; अध्यापक छात्रों को एक काल्पनिक परिस्थिति देते हैं और उनसे,उस परिस्थिति को सुलझाने का कौन-सा तरीका हो सकता है, यह पूछते हैं। इसे 'क्विज' कहते हैं। हर हफ्ते 'क्विज' छात्रों को मिलते हैं। उन्हें स्वतन्त्र अध्ययन करके उनका उत्तर भेजना पड़ता है। यही उनकी परीक्षा है, और सही उत्तर के माने हैं परीक्षा में उत्तीर्ण होना।

हमारे यहां की परीक्षा की पद्धति से यह विलकुल निराली है और अच्छी है; क्योंकि छात्र को यह स्वावलम्वी बनाती है। यदि छात्र उत्तीर्ण नहीं होता तो वह लम्बा अर्सा लेकर उत्तीर्ण होने की कोशिश करता है। पर हर हालत में उसे स्वतंत्र

विचार और अध्ययन करना पड़ता है। इसलिए घर पर प्रोफेसर को बुलाकर पढ़ना और उसका आश्रयी बनना, यह छात्र की स्वतंत्र बुद्धि को नष्ट कर देता है और उसे गुलाम बना देता है। इसलिए इतनी सिफारिश तो अवश्य करूंगा कि विद्या के अर्थी स्वतंत्र बनें, गुरु के आश्रयी न बनें।

मेरा यह भी मानना है कि गुरु सर्वविद् नहीं होते। गुरु भी कई अंशों में उतना ही बुद्धू है, जितने कि हम सब हैं। मैंने बड़े-बड़े विद्वानों को मूर्खता की बातें करते पाया है। एक बड़े विद्वान् ने मुझे चकित कर दिया, जब उसके मुंह से सुना कि उसकी कौटुम्बिक दुर्गा सवा रुपये का प्रसाद पाकर उसे बड़ी-बड़ी आफतों से ऐन मौके पर बचा लेती है! वैज्ञानिकों को मैंने भूत-प्रेतों की बात करते सुना है। इंग्लैंड के एक बड़े वैज्ञानिक भूतात्मा को बुलाकर उससे वार्तालाप करने का दावा करते थे। यहां भी ऐसे अंधभक्तों को देखा है, जो कहते हैं कि उन्हें पेंसिल से लिखकर प्रेतात्मा परलोक का हाल बताती है! भोले लोग चाहे अष्टग्रह और ऐसी-ऐसी अनहोनी बातों पर विश्वास करें, पर पढ़े-लिखे लोग भी ऐसी बातें करें, तो मान लेना, यह अज्ञान की निशानी है। सो मूर्खता का ठेका अपढ़ों के पास ही नहीं है, पढ़े-लिखे लोग भी जादू, मंत्र, ज्योतिष, भूत-प्रेत और अन्य वहमों के उतने ही शिकार हैं, जितने कि ग्रामीण अनपढ़।

न किसी एक पुस्तक को ही सम्पूर्ण मानना चाहिए, चाहे वह कितनी ही 'आप्त' क्यों न हो। आप्त प्रमाण मानना ही चाहिए, ऐसे विश्वास में काफी खतरा है। इसलिए गुरु का वाक्य या किसी ग्रन्थ का वाक्य निर्भ्रान्त हैं, ऐसा मानने में बुद्धि का ह्रास है। मेरा आग्रह यह है कि हम निरालम्ब होकर ही जिज्ञासा की तृप्ति करें। इसके यह माने नहीं कि हम अपने अग्रज विद्वानों और महापुरुषों के अनुभव का लाभ न लें, पर लाभ भी तभी मिलेगा, जब हम हर पुराने विचार का स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय करें, स्वतंत्रतापूर्वक उसे बुद्धि की कसौटी पर कसकर स्वतंत्र निर्णय करें। इस दृष्टि से मैं महज श्रद्धा का अत्यन्त विरोधी हूं। ईश्वर में मेरी श्रद्धा है, वह इसलिए कि बुद्धि के प्रयोग से हम देखते हैं, अनुभूति करते हैं कि कोई ऐसी शक्ति है, कोई ऐसा कुदरत का कानून है, जो विश्व के तंत्र को सुचारु रूप से चलाता है। हायड्रोजन का आणविक वजन निरन्तर १ ही क्यों रहता है, चाहे हम उसे कितना ही उलट-पुलट क्यों न करें, और ऑक्सिजन का १६ ही क्यों? सूर्य-मंडल के चारों ओर ग्रह निरन्तर एक ही शुद्ध गति से क्यों घूमते हैं? और, अणु के प्रोटीन के चारों ओर ग्रहों की तरह इलेक्ट्रोन क्यों एक ही चाल से निरन्तर घूमते रहते हैं? यह सादृश्य क्यों है? इसका उत्तर वैज्ञानिक भी नहीं दे सके; क्योंकि वैज्ञानिकों का निर्णय है कि साइंस की चरम सीमा से ही ईश्वर का आरम्भ होता है। यह कोरी श्रद्धा की बात नहीं है। हमारी बुद्धि बताती है कि जो कुछ विश्व का व्यवहार चलता है, वह महज आकस्मिक नहीं, बल्कि उसके पीछे कोई सत्ता है।

इसे ईश्वर कहो, प्रकृति कहो, कुदरत का कानून कहो, इससे कोई बहस नहीं; पर जिसके पीछे स्वतंत्र विचार न हो, ऐसी खालिस श्रद्धा आलस्य और मूर्खता की निशानी है। 'बुद्धौ शरणं अन्विच्छ', तू बुद्धि की शरण ले! जो सीखा वह पूर्ण नहीं है। 'नेति-नेति' इस सिद्धान्त का कायल होने से मैं कोरी श्रद्धा का बिलकुल हिमायती नहीं हूं।

मैंने स्कूल और कालेज की शिक्षा नहीं पाई, इसका कोई पछतावा नहीं, क्योंकि इसके लाभ और हानि को जानता हूं। हानि तो प्रत्यक्ष है। कालेज में पढ़ता तो कई बातें ज्यादा जानता, कुछ अंशों में मेरा मार्ग सुगम होता; पर लाभ यह है कि बुद्धि को स्वतंत्रता के साथ विचारने की आदत पड़ गई। अध्यापक के पास पढ़ने से यदि छात्र में श्रद्धा हो तो अध्यापक का बुरा असर भी पड़ जाता है। बताया गया था कि तत्त्व पांच होते हैं। पीछे से पता चला कि तत्त्व तो एक सौ से अधिक हैं और नये-नये भी प्रकट हो रहे हैं। अध्यापक की सिखाई गलतियों को सुधारने में समय अधिक लगता है, बनिस्बत अपनी की गई गलती सुधारने के। इसके लिए दिमाग की खिड़की खुली होनी चाहिए। अश्रद्धा से सनी हुई श्रद्धा ही मनुष्य को संस्कृत विचार देती है।

शिक्षा कैसी हो?—इसपर भी वाद-विवाद है।

शिक्षण-क्रम के सम्बन्ध में हर मुल्क में असन्तोष रहा है। क्या परिवर्तन हो, इसपर भी भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। पर इसका निर्णय महज विद्वानों का ही क्षेत्र नहीं है। मेरे जैसे लोगों को भी, जिन्होंने संसार की पाठ्य पुस्तकों से ही अनुभव प्राप्त किया है, राय देने का अधिकार तो है ही। इस अधिकार के नाते मेरा खयाल है कि कुछ मूलभूत सिद्धान्तों पर तो राय कायम हो ही सकती है। हां, राय देना सहज है, पर उस राय को कार्यान्वित करने के लिए क्या करना चाहिए, यह कठिन समस्या है, और यह विशेषतया शिक्षकों के क्षेत्र की बात है।

मूलभूत सिद्धान्तों में हम अपनी राय दें, तो एक तो मेरा यह आग्रह है कि छात्रों की शिक्षा एकांगी नहीं होनी चाहिए। उनका पठन विविध विषयों का होना चाहिए, अर्थात् विज्ञान या इंजीनियरिंग का छात्र महज लैबोरेटरी या वर्कशाप तक ही सीमित न रहे, उसका दायरा अन्य क्षेत्रों में भी थोड़ा-थोड़ा होना चाहिए। आजकल ह्यूमेनिटी के नाम से अन्य विषयों का भी विज्ञान और इंजीनियरिंग की शिक्षा में प्रवेश हुआ है, पर यथेष्ट नहीं। बात तो यह है कि आर्ट का छात्र थोड़ी-थोड़ी साइंस और इंजीनियरिंग जाने, और साइंस और इंजीनियरिंग के छात्र इतिहास, फिलासफी भी कुछ मात्रा में जानें, यह आवश्यक है। कुछ-कुछ सब विषयों का और अत्यधिक एक विषय का ज्ञान हो, पाठ्यक्रम की बुनियाद ऐसी होनी चाहिए।

आज की परीक्षा की पद्धति को बदल देना चाहिए। परीक्षा छात्र के ज्ञान की

हो, न कि परचे की। छात्र की सफलता-असफलता का निर्णय उसके ज्ञान और व्यवहार, उसकी नेतृत्व-शक्ति इत्यादि से करना चाहिए।

नैतिक शिक्षा का अभाव दूर करना चाहिए। छात्र को सिखाना चाहिए कि वह जाति-पांति और प्रांत के बंधनों से अपना विकासोन्मुख व्यक्तित्व खो बैठेगा। तरह-तरह के वहमों से उसे मुक्त होना चाहिए। स्वतंत्र विचार करने की शक्ति को पोषण देना चाहिए।

पर यह सब कहना आसान है, इसे कार्यान्वित करने में परिश्रम और उड़ान की जरूरत है। मुख्य वस्तु, जो इसमें सहायक हो सकती है, वह है अध्यापक और संस्था का वातावरण। अध्यापक का पद प्रतिष्ठा का होना चाहिए। वेतन खासा अच्छा देना चाहिए। संस्था की सफाई, सुघड़ाई पर भी जोर होना चाहिए।

यह सब होते हुए भी असल वातावरण तो छात्र के कुटुम्ब का है, और कुटुम्ब का वातावरण उज्ज्वल तब होगा, जबकि देश सुशिक्षित और संस्कृत होगा। ये सब चीजें अन्योन्याश्रित हैं।

इसके माने यह हैं कि धीरज से आगे बढ़ना पड़ेगा। एक दिन में कोई भारी परिवर्तन हो जाय, ऐसी आशा 'आकाश-कुसुम' के समान है। पर उद्योग करना है और आदर्श संस्था स्थापित करनी है। कठिनाइयां तो आती ही रहेंगी। संघर्ष मनुष्य का धर्म है। 'मामनुस्मर युद्ध्य च'—भगवान् के भरोसे आगे बढ़ते जाना है। पर शायद यह विषयांतर हो गया।

२० दिसम्बर, १९६२

३. मुझसे सब अच्छे

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रातःकाल की शुद्ध हवा मनुष्यों को नया जीवन देती है। जब-जब मैं घर पर रहता हूं, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज सवेरे टहलने निकला तो वायु की परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैंने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहां पहुंची होगी। कहां से चली, कितना उपकार किया, इसका अन्दाजा कौन लगाये! भारत का पश्चिमी सागर यहां से करीब ६०० मील होगा, किन्तु इसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र-ही-समुद्र है। सम्भवतः उससे भी पश्चिम और पश्चिमतर के प्रदेशों, पहाड़ियों, नदियों, समुद्रों, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं को दर्शन

देती हुई यह वायु यहां पहुंची होगी, और अब यहां के लोगों को सुख देती हुई अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए, शान्त भाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैंने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है, फिर भी अखबारों में इसकी चर्चा क्यों नहीं होती ! हवा से मैंने कहा, "हवा, तुम संसार का इतना उपकार करती हो, किन्तु तुम्हारी सेवा की खबर मैं अखबारों में तो कभी नहीं पढ़ता ! तुमको चाहिए कि जो थोड़ी-सी बात करो, उसको बढ़ा-चढ़ाकर अखबारों में छपा दिया करो।" हवा ने कहा, "कौन-सा अखबार अच्छा है ?" मैंने कहा, "हिन्दी-अंग्रेजी के बहुत-से अखबार हैं। सभी में अपनी प्रशंसा छपवाया करो।" हवा ने पूछा, "क्या सूर्यलोक एवं चंद्रलोक में भी तुम्हारे यहां के अखबार जाते हैं ?" मैंने कहा, "वहां तो नहीं जाते।"

हवा ने मेरी मूर्खता पर हंस दिया और कहा, "तुम पक्के कूप-मंडूक हो, तुम्हारे लिए थोड़े-से लोग ही ब्रह्माण्ड हैं। मैंने तो प्राणि-मात्र की सेवा का व्रत ले रखा है, और मेरा अखबार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहां सब खबरें अपने-आप पहुंचती हैं—भली-बुरी सभी बातें वहां छपती रहती हैं। किसी बात का वहां पक्षपात नहीं। किसी के कहने से वहां कोई खबर नहीं छापी जाती। सच्ची खबरें वहां स्वयं छप जाती हैं। मैं तुम्हारी तरह मूर्ख नहीं, जो विज्ञापनबाजी के दलदल में फंस जाऊं। निःस्वार्थ भाव से प्राणि-मात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो, तुम भी मेरा अनुकरण करो।"

हवा की यह स्पष्टोक्ति मुझे बड़ी बुरी लगी। मैं, और हवा-जैसी जड़वस्तु का अनुकरण करूं ! मन में आया कि एक व्याख्यान ही झाड़ दूं। अखबारों में तो उसका अतिरंजित विवरण छप ही जायगा। किन्तु हवा को तो 'लगन लागी प्रभु पावन की,' उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहां ! वह तो 'कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम्' गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तब मैंने अपना सारा गुस्सा एक ऊंट पर उतार दिया। बात यह हुई कि रास्ते में एक ऊंट महाशय अपनी थकान उतारने के लिए हाथ-पांव पीट-पीटकर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तंग आकर, क्रोध में, ऊंट से कहा, "तुम बड़े गंवार हो, जरा भी तमीज नहीं। पशु ही जो ठहरे ! हम लोग जिन रास्तों से होकर निकलते हैं, उनमें गरीब मनुष्य भी किनारे खड़े होकर झुककर हमें प्रणाम किया करते हैं। हम जब-जब टहलने जाते हैं, तब-तब हमारे लठैत नौकर रास्ते में चलनेवालों का नाकों दम कर देते हैं। तुमने हमें झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उलटा धूल उछालना शुरू कर दिया ! इसीसे मालूम होता है कि तुम गंवार भी हो और धृष्ट भी।"

इस पर ऊंट ने अपना व्यायाम करना तो बन्द कर दिया, पर वह मेरी बात

सुनकर खिल-खिलाकर हंस पड़ा। वोला, "तुम मूर्ख तो हो ही, किन्तु अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की धृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है, उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा, किन्तु मुझे उपदेश देने की धृष्टता मत करना ! बस, यह समझ लो कि मुझसे तुम बहुत गये-बीते हो।" मैंने कहा, "ऊंट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है ! मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है।" ऊंट की मुखाकृति गम्भीर हो उठी, आंखों में तेज चमकने लगा। अपने नथनों को फटकारकर उसने कहा, "क्या केवल मनुष्य-देह मिलने से ही मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाता है ? क्या औरंगजेव, नादिरशाह, महमूद गजनी, हत्यारा अब्दुर्रशीद या कंस, दुर्योधन और ऐसे-ऐसे अनेक अपने-को मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं ? और उन्हें मनुष्य-देह मिल गई, इसी वूते पर क्या वे अपने को हम पशुओं से ऊंचा समझते हैं ? यदि तुम भी ऐसा मानते हो तो तुम्हारी बुद्धि को हजार बार धिक्कार है।"

मैं कुछ ठण्डा पड़ गया। मैंने कहा, "भाई ऊंट, उन पापी मनुष्यों की बात न करो। वे नर-राक्षस थे, किन्तु मैं तो ऐसा नहीं हूं। मैं तो अपने लिए कह सकता हूं कि अपनी समझ में, मैं तुमसे कहीं अच्छा हूं।" ऊंट फिर हंस पड़ा। कहने लगा, "अच्छा, जरा वता तो दो, तुममें मुझसे कौन-सी अच्छी वात है ?"

मैं सोचने लगा, क्या बताऊं ? आखिर मुझमें कौन-कौन-सी अच्छी वातें हैं, जिनका मैं गर्व कर सकूं ? अत्यन्त साहस करके मैंने दवी जवान से कहा, "अच्छा, तो देखो, तुम जानते हो मैं त्यागी लोगों से कितना प्रेम करता हूं, खादी पहनता हूं, यह क्या कुछ कम है ?" ऊंट ने गर्व के साथ कहा, "इसमें गर्व करने की क्या बात है ? मुझे देखो, मैं तो कुछ भी नहीं पहनता।" मैंने कहा, "और सुनो, मैं भोजन भी सादा खाता हूं, मिर्च-मसाले नहीं खाता।" ऊंट ने कहा, "अच्छा त्याग किया ! मुझे तो देखो, केवल सूखी पत्तियां चबाकर रह जाता हूं।" मैंने कहा, "मैंने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है।" ऊंट ने कहा, "क्यों झूठा अभिमान करते हो ? मैंने तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नहीं किया, सो मैं तो बाल-ब्रह्मचारी हूं।" मैंने कहा, "मुझमें ईर्ष्या-द्वेष अधिक नहीं, झूठ बहुत कम वोलता हूं, सो भी अनजान में, रोष भी कम आता है।" ऊंट ने कहा, "इसमें कौन-सी बड़ाई की वात है ? मुझमें न ईर्ष्या है, न द्वेष और न क्रोध, झूठ तो कभी जीवन में वोला ही नहीं।"

मैंने कहा, "मुझमें सेवावृत्ति है।" ऊंट ने कहा, "इसका नमूना तो हम रोज देखते हैं। कल एक पीला वछड़ा रो रहा था, क्योंकि उसकी मां का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते हो। बछड़ा तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन, सुनते हैं, तुमने एक घोड़े को भी दौड़ कराकर मार डाला। शहर के तमाम घोड़ों में इस बात की चर्चा थी। उनकी एक विराट् सभा हुई थी। उसमें मृतक के

प्रति सहानुभूति और तुम्हारे प्रति घृणा-सूचक प्रस्ताव भी पास किये गए थे। न मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊंटों, घोड़ों और वैलों को कष्ट दिया है। कितने पशुओं को लंगड़ा किया है। कितनों को अपनी मोटर के धक्कों से गिराया है। अच्छा सेवा का दम भरने चले हो ! मुझे देखो, न कपड़े पहनता हूं और न जिह्वा-स्वाद का नाम-मात्र भी सम्बन्ध है। केवल सूखे तृण खाता हूं, फिर भी वेंत, कोड़े और ठोकरें खाता हुआ नम्रतापूर्वक तुम लोगों की सेवा करता हूं। इसी को सेवा-व्रत कहते हैं। तुम लोगों से सेवा कैसे सम्भव है ? पहनने के लिए तुमको कीमती वस्त्र चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर, रहने के लिए महल, टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर। सफर करते हो तो मनों सामान एवं सुख-सुविधा की सामग्रियां साथ चलती हैं और तुम्हारे लिए वोझा ढोना पड़ता है हमको। अकाल पड़ता है तो हम लोग भूखों मरते हैं, पीने को पानी नहीं मिलता, किन्तु तुम्हारे वगीचों की फुलवाड़ी को सरसब्ज रखने में ही गांव के अनेक वैलों की शान्ति नष्ट हो जाती है। हम लोग प्राय: ब्रह्मचारी रहते हैं, किन्तु सुनते हैं, तुम्हारा मनुष्य-समाज इसमें वड़ा पतित है। शर्म की वात है कि इस पर भी तुम अपने को श्रेष्ठ समझो !"

ऊंट की वात मेरे हृदय में चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी, "मूर्ख, तू ऊंट से भी गया-वीता है।" पास खड़े हुए करील के वृक्ष ने सिर हिलाकर कहा, "ऊंट सच कहता है।" तव मैंने कहा, "प्रभो, मुझे ऊंट-जितना आत्म-वल दो !"

सहसा आकाश में विजली चमकी। मेघ गरजा। सुननेवालों ने सुना। कहने-वालों ने कहा :

मो सम कौन कुटिल खल कामी !
जेहि तन दियो ताहि बिसरायो,
ऐसो निमकहरामी।
मो सम कौन कुटिल खल कामी !

किसीने कहा, "कहनेवाला और सुननेवाला दोनों एक हैं।" किसीने कहा, "यह अन्तर्नाद है।"

मैंने चिल्लाकर कहा, "मुझसे सव अच्छे हैं !"

मार्गशीर्ष १९८४

४. जमनालालजी

सोमवार की बात है। जमनालालजी से मिले दो-तीन दिन हो गए थे। मैं तो था सेवाग्राम में और जमनालालजी वर्धा में। मैंने सोचा, चलो, जमनालालजी को यहां बुला लें और कुछ इधर-उधर की बातें भी कर लें। इसलिए मैंने सन्देश भिजवा दिया कि जरूरी काम है, मिल जाइयेगा।

उस दिन जमनालालजी की तबीयत खराब थी। सिर में कुछ चक्कर आ रहे थे। मेरा सन्देश उन्हें मिला तब दोपहर की कड़ी धूप थी। सन्देश मिलने पर उन्होंने जानकीदेवी से कहा, "घनश्यामदास के पास कोई जरूरी काम नहीं है। आज बापू का मौनवार है, इसलिए मालूम होता है, वह अकेला ऊब गया है और महज दिलबहलाव के लिए मुझे बुला भेजा है। पर मैं तो जाऊंगा।" जानकीदेवी ने कहा, "कोई जरूरी काम नहीं है तो न जाइये। उसे क्या पता, आपकी तबीयत आज ढीली है।" पर जमनालालजी का स्वभाव ही ऐसा था कि वह अपने शरीर की कम परवा करते थे। जब उनका ज्यादा हठ देखा तो जानकीदेवी ने कहा, "अच्छा, जाना है तो शाम को जाइये। इस दोपहर की धूप को तो टाल दीजिये।"

जानकीदेवी का आग्रह मानकर जमनालालजी दोपहर के बजाय शाम को सेवाग्राम पहुंचे। मैंने उन्हें देखते ही मजाक में कहा, "वहां बिना काम आप पड़े थे, इसलिए मैंने यहां बुला लिया। कोई काम तो नहीं था।" जमनालालजी ने भी हंसकर कहा, "देखो, मैंने तो जानकी से पहले ही कह दिया था कि कोई काम नहीं है। पर तो भी चला आया, हालांकि आज मेरी तबीअत अच्छी नहीं थी।"

तबीयत की खराबी का जिक्र आते ही मेरी हंसी गायब हो गई। मैंने कहा, "आप आये ही क्यों? मुझे कुछ काम की बातें भी करनी थीं। अब नहीं करूंगा। फिर करेंगे। आप फौरन लौट जाइये।" तो भी वह बैठ गए। कुछ इधर-उधर की बातें कीं। मालूम हुआ, उन्हें कुछ चक्कर आ रहे थे। मैंने कहा, "आप जाइये। स्वस्थ होने पर फिर बातें कर लेंगे।"

मुझे पता भी नहीं था कि जमनालालजी का इन दिनों रक्त-दबाव बढ़ गया था। ऐसा पता होता तो चक्कर का नाम सुनते ही मैं चौकन्ना हो जाता। मैंने पूछा भी नहीं कि रक्त-दबाव की शिकायत तो नहीं है?

"बृहस्पतिवार को आऊंगा।" जमनालालजी ने कहा।

बृहस्पति को सेवाग्राम और वर्धा के बीच की पहाड़ी पर सुबह साढ़े सात बजे हम मिलेंगे, ऐसा निर्णय हम दोनों ने कर लिया और जमनालालजी वर्धा के लिए चल पड़े। जाते-जाते महादेवभाई से कह गए, "महादेव, कुछ चक्कर-सा

आता है। घनश्यामदास का वारंट गया, इसलिए चला आया। पर जाता हूं।" महादेवभाई ने कहा, "विश्राम लीजिये !" उन्हें पता था कि जमनालालजी को रक्त का दवाव अधिक था, उस समय दवाव ज्यादा था या कम, इस जांच की कोई आवश्यकता भी उस समय उन्हें महसूस नहीं हुई।

जाते-जाते जमनालालजी ने सोचा, वापू को भी तो नमस्कार कर चलें। गांधीजी की कुटी की तरफ गये तो पता चला कि गांधीजी भोजन के लिए भोजनालय की तरफ चले गए हैं। इसलिए विना नमस्कार किये ही अपने तांगे की ओर चल दिये। गांधीजी ने जाते हुए जमनालालजी की पीठ देखी। गांधीजी का मौन था, इसलिए उन्होंने इन्हें पुकारा नहीं, हालांकि गांधीजी की इच्छा हुई कि जमनालालजी मिल जाते तो ठीक था। जमनालालजी उनसे मिले नहीं, इसलिए गांधीजी को यह भी पता नहीं चला कि उस दिन जमनालालजी कुछ रुग्ण थे और उन्हें चक्कर आ रहे थे।

तांगे में वैठे-वैठे फिर जमनालालजी ने पुकारकर मुझसे कहा, "वृहस्पति को आऊंगा।"

"पूरा आराम लीजियेगा, जल्दी न कीजियेगा।" मैंने उत्तर में कहा।

वुध को जमनालालजी विलकुल स्वस्थ थे। सुवह टहलने गए। मित्रों से कहा, "आज तवीयत विलकुल दुरुस्त है।" दो दिन तक उन्होंने उपवास किया था। उसका काफी अच्छा असर हुआ। वुध को वारह वजे उन्होंने भोजन किया और तीन घंटे वाद इस संसार से विदा ले ली।

वृहस्पति को साढ़े सात वजे सुवह सेवाग्राम और वर्धा के वीच की पहाड़ी पर हमारी भेंट होनेवाली थी। वीच में यह दुर्घटना हो गई। तो भी जमनालालजी जिन्दा ही हैं, ऐसा लगता था। मैं सुवह उस पहाड़ी पर टहलने गया, जहां हम दोनों ने मिलना तय किया था। "जमनालालजी! ओ! ओ! ओ! जमनालालजी !" कई मरतवा मैंने जोर की आवाज दी। पर सिवा जंगल की प्रतिध्वनि के और कोई उत्तर नहीं मिला।

जमनालालजी सचमुच हमसे विदा हो चुके थे !

मैंने महादेवभाई से कहा, "महादेवभाई, क्यों नहीं मैंने जमनालालजी से पूछा कि आपको रक्त का दवाव तो नहीं है ? यदि मैंने प्रश्न किया होता तो मुझे उनकी वीमारी का भेद खुल गया होता और हम लोग सावधानी से उनका उपचार करते।"

महादेवभाई ने कहा, "क्यों नहीं मैंने जानते हुए भी कि उनको अधिक रक्तदवाव की शिकायत है, उनकी उसी समय हमारे सेवाग्राम के डाक्टर से परीक्षा करवा ली ? यदि मैं ऐसा करवा लेता तो मुझे पता चल जाता कि उनका रक्त-

दबाव काफी ऊंचा है और उन्हें सेवाग्राम से जाने नहीं देता और लिटाकर रखता।"

"क्यों नहीं", गांधीजी ने कहा, "जमनालाल सेवाग्राम आकर भी मेरी तरफ आया ? यदि वह मुझसे मिलता तो अवश्य अपने चक्कर की बात मुझे कहता और मैं उसी समय उसे सेवाग्राम में कैद करके पूरा विश्राम लेने के लिए बाध्य करता।"

पर इस 'क्यों नहीं'...का उत्तर कौन दे ? कितनी बार हम 'क्यों नहीं' कहते हैं, पर इसका उत्तर तो यह है :

अभूतपूर्वो न च केन दृष्टो,
हेम्नः कुरंगो न कदापि वार्ता।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य,
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥

—सोने के मृग भी कभी हुआ करते हैं—साधारण मनुष्य को भी यह ज्ञान तो है। फिर राम-जैसे महापुरुष को यह अविदित थोड़े ही था कि सोने के मृग नहीं होते। फिर रामचन्द्रजी-जैसों को स्वर्णमृग-चर्म की तृष्णा क्यों ? पर बात तो यह है कि जब कोई दुर्घटना होनेवाली होती है तो निर्णय भी विपरीत हो जाता है :

यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः !

५. प्रेमी की व्याकुलता

"गांधीजी ८८ पौंड हो गये," यह पढ़कर मैं सहम गया। क्या लिखूं ! उन्हें कोई नहीं मना सकता। मैंने लिखा था कि आपको 'फैडिस्ट' या 'चक्रम' कहना चाहिए। उन्होंने कहा, 'चक्रम' के माने तो होते हैं 'पागल'; किन्तु वह हैं और क्या ? मुझे तो चिन्ता होती है कि कोई नुकसान न हो जाय। फिर भी अक्ल के पूरे लोग हैं जो उन्हें कहते हैं, शहद क्यों खाते हो ? हम तो सबकुछ करें मगर दुनिया सब भोग हमारे लिए छोड़ दे, यह जाने-अनजाने हमारी सबकी प्रवृत्ति हो रही है। गांधीजी ने क्या रखा है ? सब तो छोड़ दिया, फिर भी हमें उनका शहद खाना भी बरदाश्त नहीं। ऐसे लोगों की अक्ल पर पत्थर ! एक मित्र से मैंने एक कहानी कही :

"एक बुड्ढा पागल था। रोज लोगों की सेवा करता था, लोगों का मैल धोता

था, उन्हें रोटी देता था, उन्हें ज्ञान देता था। किन्तु स्वयं थोड़े-से अन्न-वस्त्र पर निर्वाह करता था। लोगों ने उसकी तारीफ की।

एक मूर्ख ने कहा, "इसमें तारीफ की कौन-सी बात है? बुड्ढा पूरे कपड़े पहनता है।"

बुड्ढे ने सुन लिया और कपड़े फेंक दिये।

दूसरे मूर्ख ने कहा, "ओहो, इसमें क्या है? बुड्ढा दूध, फल काफी खा जाता है।"

बुड्ढे ने दूध भी छोड़ दिया, फल भी छोड़ दिये।

फिर एक मूर्ख ने कहा, "और यह तो रोटी खाता है।"

बुड्ढे ने कच्चे चने चवाना शुरू कर दिया।

चौथे ने कहा, "देखो, स्वाद नहीं मरा, शहद खा जाता है।" बुड्ढे ने शहद भी छोड़ दिया।

पांचवें ने कहा, "आखिर खाता तो है।" बुड्ढे ने खाना भी छोड़ दिया।

छठें ने कहा, "पानी तो पीता है।" तब पानी को अन्तिम नमस्कार कर बुड्ढा एक रात को राम-राम करते-करते मर गया।

सुबह हुई तो न कोई सेवा करनेवाला, न रोटी देनेवाला। लोग खूब रोये। बुड्ढे की तारीफ भी काफी की, किन्तु किसी ने यह नहीं कहा कि हमीं ने बुड्ढे को मार दिया।

मरने के वाद तो वाप का श्राद्ध करते हैं। पर जीते जी उन्हें शहद भी नहीं खाने देते। दुनिया भी अजव है!

अगस्त, १९३०

रेखाचित्र
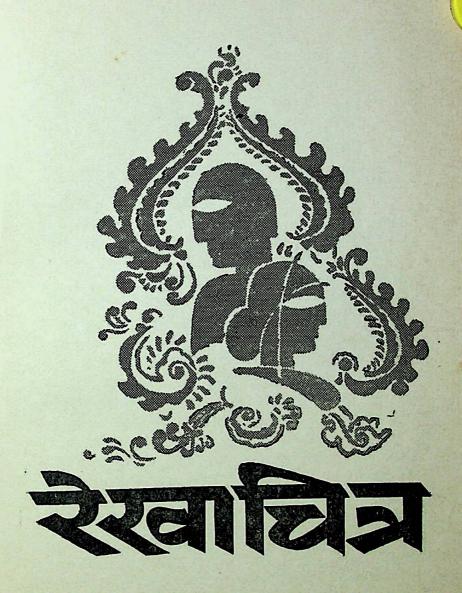
१. सबसे निराले

पंडितजी को दूर से तो मैं वैसे कई सालों से देखता आ रहा था, पर पहले-पहल मेरी मुलाकात उनसे १९२४ में हुई। गांधीजी अपने अपेंडिक्स के ऑपरेशन के बाद जेल से छूटकर आये थे और स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू में ठहरे हुए थे। एक रोज मैं गांधीजी से मिलने जुहू गया, तो बातों-ही-बातों में उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या जवाहरलाल को जानते हो?" "दूर से ही देखा है, कभी मिला नहीं हूं," मैंने कहा। "तो मिल लो और मैत्री करने की कोशिश करो!" मैं गांधीजी के पास से उठकर पंडितजी के पास गया। वह बरामदे में एक कोने में बैठे थे। वह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है। उनके चेहरे पर ताजगी थी, सौन्दर्य था और जवानी थी। मुझे ऐसा भी स्मरण है कि उनके हाथ में गीता की पुस्तक थी, जिसका वह अध्ययन कर रहे थे। उस समय जो पहली छाप मुझपर पड़ी, उससे मुझे लगा कि मैं उनके हृदय में शायद ही कभी प्रवेश कर सकूं।

मैं स्वनामधन्य पंडित मोतीलालजी के पास काफी उठा-बैठा हूं। लाला लाजपतराय और पंडित मालवीयजी की भी सेवा मैंने की। बापू के चरणों में बत्तीस साल तक रहा। पर पंडित जवाहरलालजी मुझे इन सबसे निराले दीखे हैं। मालवीयजी एक निर्मल जल के सरोवर-जैसे लगते थे, जिसमें प्रवेश करने में मुझे कभी झिझक नहीं होती थी। बापू ऐसे लगते थे, जैसे गंगा की पवित्र धारा। इसमें स्नान करने से सुख और शांति मिलती थी और पाप और परिताप से मुक्ति मिलती थी। इन दोनों ही जलों में गोता लगाना मुझे आसान मालूम देता था। पर पंडितजी मेरी दृष्टि में सदा एक अगाध समुद्र रहे हैं, जो विशाल है, बृहत् है, अपनी ओर खींचता है, अपने लिए श्रद्धा पैदा करता है, और प्रभावान्वित भी करता है, पर जिसका अवगाहन भयप्रद है।

सन् १९२४ के बाद पंडितजी के काफी परिचय में आया। उनका काफी अध्ययन किया। उनके साहित्य को पढ़ा। पर मैं नहीं कह सकता कि मैं आज भी उन्हें जान पाया हूं। पंडितजी मेरे लिए सदा ही समुद्र की तरह 'अनवधारणीय-मीदृक्तया रूपमियत्तया वा' रहे हैं।

एक बार मैंने स्वर्गीय महादेवभाई देसाई से पूछा था, "महादेवभाई, जवाहरलालजी को जानते हो ? जानते हो तो बताओ वह क्या हैं ?" उन्होंने कहा, "जवाहर ग्रीक फिलासफर है। वह सौंदर्य का उपासक है। वह कभी सौन्दर्यहीन काम नहीं कर सकता।"

गोल्डस्मिथ ने कहा है, "सुन्दर वह है जो सुन्दर करता है।" सम्भव है, महादेवभाई का तात्पर्य 'सत्यं सुन्दरम्' से रहा हो। जो सुन्दर है, वह सत्य भी होना चाहिए, कल्याणकारी भी होना चाहिए।

मैंने समालोचक बनकर पंडितजी का अध्ययन किया है और मुझे लगता है, पंडितजी के सम्बन्ध में महादेवभाई का चित्रण अक्षरशः सही है। पंडितजी चाहे एक क्षण के लिए आवेश में आ जायं, पर उन्हें उनकी न्याय-बुद्धि कभी नहीं छोड़ती। एक विशिष्ट पुरुष ने मुझसे एक मरतबा कहा था, "जवाहरलाल क्रांति-कारी नहीं, एक उच्चकोटि का लिबरल है, जो हर चीज के दोनों पहलुओं को मद्देनजर रखकर निर्णय करता है और कभी-कभी दोनों पहलुओं को इतना तोलता और मापता है कि स्पष्ट निर्णय में भी कठिनाई पाता है।" इन सब वर्णनों के बाद मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, जब गांधीजी ने अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले मुझसे एक बार कहा, "जवाहर विचारक है, सरदार कारक हैं।"

पंडितजी के भीतर जो मंथन और संघर्ष चलता रहता है, उसकी छाप हर बारीकी से अध्ययन करनेवाले पर पड़े बिना नहीं रहती। हर चीज के स्पष्ट निर्णय में जो एक विचारक को कठिनाई पड़ती है, उसका आभास उसकी भाव-भंगी से मिलता है। पंडितजी हंसते हैं तो भी एक तरह की उदासी उनके चेहरे पर से कभी नहीं हटती। दिलीप के बारे में कालिदास ने कहा है कि उसमें 'वृद्धत्वं जरसा विना' था। पंडितजी में 'वृद्धत्वं जरसा विना' और 'विना बाल्येन चापल्यं' दोनों हैं। नम्रता है तो आवेश भी है। उत्साह है तो थकान भी है। दिल गरीब है तो तबीयत रईसाना भी है। हठ है, पर समन्वय है। बहादुर हैं तो लोकमत के सामने झुकते हैं। कुशाग्रबुद्धि हैं, पर उनमें सीधापन भी है। यह सब द्वन्द्व इस तरह से भीतर संग्राम करते हैं कि इसका प्रतिबिम्ब पंडितजी के चेहरे पर आ ही पड़ता है।

साधारण मान्यता है कि पंडितजी को धर्म में कोई श्रद्धा नहीं है, न उन्हें ईश्वर मान्य है। कभी-कभी पंडितजी के सार्वजनिक उद्‌गारों से इस कथन का समर्थन भी होता है। पर इसमें भी मतभेद की काफी गुंजाइश लगती है। धर्म

क्या है और ईश्वर क्या है, इसकी सम्पूर्ण व्याख्या के बाद ही यह निर्णय हो सकता है कि पंडितजी के ईश्वर-सम्बन्धी मन्तव्य क्या हैं'। पर गांधीजी इस कथन का भी विरोध करते थे। वहस में एक बार उन्होंने मुझसे कहा, "जवाहर नास्तिक नहीं है। जो मनुष्य कहता है, आजादी अवश्य मिलेगी, उसके इस कथन का आधार विज्ञान नहीं, श्रद्धा है, और श्रद्धा आस्तिकता का प्रदर्शन है, नास्तिकता का नहीं।" यह सही है, कुछ दिन पहले इलाहाबाद-साइंस-कांग्रेस में व्याख्यान देते समय पंडितजी ने कहा, "मैं पन्तजी से सहमत नहीं हूं, जब वह कहते हैं कि कुदरत का कानून अस्थायी है। असल में तो कुदरत का कानून अटल और अजेय है। मनुष्य उसे समझने में और उसपर विजय पाने में अबतक निष्फल रहा है। जो कुछ हुआ है, वह इतना ही कि मनुष्य कुदरत से सहयोग करके उसका उपयोग करता रहा है।" यह नास्तिकता नहीं, परले सिरे की आस्तिकता है।

साधन और साध्य में सामंजस्य को गांधीजी ने अपने प्रवचनों में काफी महत्त्व दिया है। अच्छे ध्येय के लिए भी बुरे साधनों का प्रयोग त्याज्य है, इसपर गांधीजी ने जितना भार दिया है, उतना हमारे प्राचीन लोगों ने शायद ही दिया हो।

राजनैतिक दांवपेंच हर युग में चलते रहे हैं और हमारे पूर्वज भी इन दांव-पेंचों से वंचित न थे। देव दानवों के संघर्ष में देवों की गिरती आई तो वामन ने बलि को धोखा दिया। इसके पहले विष्णु ने मोहिनी बनकर दैत्यों से अमृत चुराया। राम ने छिपकर वालि को मारा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भारत की भविष्य की परराष्ट्र-नीति इन दांवपेंचों का तिरस्कार करेगी, ऐसा मानने की भी कोई गुंजाइश नहीं। पर गांधीजी इस पैंतरेबाजी से परे थे और उस नीति का जवाहरलालजी पर भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा उनके अनेक उद्गारों से पता चलता है। गांधीजी का यह स्वर्ण-नियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कभी कसौटी पर नहीं चढ़ा। जवाहरलालजी यदि इसको व्यावहारिक रूप में सफल कर दिखायेंगे तो अवश्य ही हमारी एक अद्भुत विजय होगी।

जवाहरलालजी एक महान् व्यक्ति हैं। उनमें महत्ता क्या है, इसका विश्लेषण कष्टसाध्य है। सोना या हीरा महज अपने बुनियादी तत्त्वों के कारण ही कीमती नहीं होता। कहते हैं, जो तत्त्व हीरे में हैं, वे कोयले में भी हैं। पर कोयला कोयला ही है और हीरा हीरा ही। पंडितजी में अभय है, न्यायबुद्धि है, कुशाग्रता है, तेज-स्विता है, विद्वत्ता है और ऊंचे दरजे की साहित्यिक कला-कुशलता है। पर उन्हें किस चीज ने बड़ा बनाया, यह बताना असम्भव है। बात यह है कि वह बड़े हैं और इस देश को उनकी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है।

२. जमनालालजी

१

शायद १९१२ की बात है। बम्बई में मारवाड़ी पंचायतवाड़ी में विशिष्ट मारवाड़ियों का एक छोटा-सा समाज मन्त्रणा के लिए इकट्ठा हुआ था। बम्बई में एक मारवाड़ी विद्यालय की स्थापना का आयोजन हो रहा था। समाज के धनी और वृद्ध, सभी लोग उपस्थित थे। किन्तु किसी ने स्कूली शिक्षा नहीं पाई थी, इसलिए उन्हें यह पता नहीं था कि क्या करना है। पर धन एकत्र करना है, यह तो सभी जानते थे।

सभा में तरह-तरह के लोग थे। अप्रस्तुत बातें भी चलती थीं। विषयान्तर भी होता था। पर एक मनुष्य था, जो जब अपना मुंह खोलता, तो लोग उसे ध्यान से सुनते थे। मैंने भी उसे ध्यान से देखा। यह पुरुष नितान्त युवक था। पचीसी के इसी ओर ही था। गौर वर्ण, स्थूल शरीर, गोल मुंह। शरीर पर रेशमी कोट और सिर पर काश्मीरी काम की टोपी। खादी की उस समय किसी को कोई कल्पना भी नहीं थी। स्वदेशी की तो परिभाषा में जापानी कपड़ा तक उस समय त्याज्य नहीं माना जाता था। इसीसे युवक की वेश-भूषा के सारे कपड़े स्वदेशी नहीं थे। ठाठ-बाट अमीराना था। चेहरे पर नजाकत थी, पर आंखों से सरलता और एक तरह की तेजस्विता टपकती थी। शिक्षित तो साधारण-सा ही मालूम होता था; पर बोल रहा था निर्भयता और पूरे आत्मविश्वास के साथ। और वह लोगों को प्रभावान्वित भी कर रहा था।

मैं तो उस नवयुवक से भी छोटा था, बीसी के इसी पार। पर मुझसे उम्र में थोड़ा ही बड़ा वह युवक, जिस आत्मविश्वास, अनुभव और प्रभाव के साथ बोल रहा था, वह देखकर मुझे कुछ डाह-सी हुई। मैंने किसी से पूछा कि यह युवक कौन है, तो पता लगा कि उस नौजवान का नाम जमनालाल बजाज है। इस छोटी-सी उम्र में देहात में रहने वाला एक साधारण शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति, सार्वजनिक कामों में इतनी लगन और सचाई से रस ले सकता है, यह जानकर मुझे कुछ आश्चर्य, तो कुछ कुतूहल हुआ। मुझे जानना चाहिए था कि गुदड़ी में भी लाल होते हैं।

बस, वहीं से मेरा जमनालालजी से परिचय हुआ और उनसे उस दिन से जो मैत्री हुई, वह फिर जमती ही गई। बीते जमाने की याद करते हैं, तो ऐसा लगता है, हमारी आंखों के आगे से मानो एक चित्रपट निकल गया है। चित्रपट का अन्त में देखा हुआ हिस्सा तो हमारी आंखों के सामने ताजगी से खड़ा रहता है, और जो हिस्सा हमारी आंखों के सामने से सुदूर अतीत में निकला है, उसकी एक

धुंधली-सी रूप-रेखा ही दिमाग के सामने रहती है। पर इसके अलावा, समूची तस्वीर एक अलग छाप हमारे दिमाग पर छोड़ जाती है, जो शायद सबसे ज्यादा स्थायी रहती है। नौजवान जमनालालजी की शक्ल तो इस समय आंखों के सामने अस्पष्ट-सी है। जो शक्ल आज रह-रहकर आंखों के सामने आ रही है, वह तो उनका अन्तिम चित्र है, और जो चित्र हम सबके हृदय-पटल पर सदा अंकित रहेगा, वह उनकी शक्ल का नहीं, पर उनके चरित्र का है।

११ फरवरी की दोपहरी में अचानक सेवाग्राम में वर्धा से टेलीफोन आया। बताया गया कि जमनालालजी को एक कै हुई और उसके बाद बेहोश हो गए। पन्द्रह मिनट से बेहोश हैं, ऐसा सुनने पर कुछ थोड़ी-सी चिन्ता हुई। चित्त में खास घबराहट पैदा नहीं हुई। हम सबने यह मान लिया कि साधारण बदहजमी होगी। गांधीजी को जमनालालजी की बीमारी का हाल बताया गया तो वे वर्धा जाने के लिए उठे। मुझे तो जाना ही था।

मैंने पूछा, "कोई गम्भीर बीमारी तो नहीं है ?"

गांधीजी ने उत्तर दिया, "क्या जानें, रक्त का दबाव तो उन्हें है ही; भोजन में कुछ गलती हुई, ऐसा मालूम होता है। गजब होगा, यदि उनसे हमारी मुलाकात न हो पाई।"

रक्त का दबाव है और बेहोश हैं, ऐसा सुनकर मेरा माथा ठनका सही। पर आशा ने चिन्ता को दबा दिया।

हम दोनों मोटर में बैठकर चले तो रह-रहकर आंखों के सामने जमनालालजी का चित्र आता था। परसों तो आये ही थे, कल आने की कह गए थे। कोई गम्भीर बीमारी कैसे हो सकती है ? सम्भव है, हम पहुंचें, उसके पहले ही बेहोशी मिट जाय और जमनालालजी हमें हंसते हुए मिलें।

मैंने कहा, "बापू, इन्हें अब आश्रम में ले आना चाहिए।"

"हां, कुछ ठीक होने के बाद तो यही करेंगे। आश्रम भी तो एक तरह का कैदखाना है। यहीं जमनालाल रोक-टोक में रह सकते हैं और परिश्रम से बच सकते हैं।"

सारे रास्ते—और पन्द्रह मिनट का ही तो रास्ता था—जमनालालजी की तस्वीर आंखों के सामने नाचती रही। आखिर पहुंचे। लोगों की एक छोटी-सी भीड़ घर के आंगन में जमा थी। सबके चेहरों पर विषाद था। मैंने पूछा, कैसी है तबीयत ? पर कोई जवाब नहीं मिला। लोगों की खामोशी से भी मुझे कोई इशारा न मिला। इतने में एक तरफ की सीढ़ी से डाक्टर दौड़ता-सा आया।

"बापू, जमनालालजी तो चले गए"—बस उसने इतना ही कहा। ये अत्यन्त कठोर शब्द थे। तो भी, पता नहीं क्यों, इस अनिष्ट का विश्वास करने को जी नहीं चाहा। जिसे हमने हर पल जिन्दा पाया, वह यकायक कैसे गायब हो सकता

है ! हम जानते हैं कि मनुष्य मरता है, पर हमारा स्वजन मरेगा या हम मरेंगे, यह खयाल भी बेचैनी पैदा करता है। इसीलिए, अफ्रीका के आस्ट्रिच पक्षी की तरह, जो खतरा दिखाई देने पर धूल में अपना सिर गाड़कर यह मान लेता है कि खतरा है ही नहीं, हम भी आंखें खुली होने पर भी देखने से इन्कार कर देते हैं। मैंने भी ऐसा ही किया। पर जमनालालजी अब इस संसार में नहीं थे, यह अप्रिय सत्य तो सत्य ही था। जिस चीज की धड़कन थी, वह हो ही तो गई।

हमने जमनालालजी के कमरे में प्रवेश किया। देखा, जमनालालजी गद्दे पर लेटे पड़े थे। प्राणों ने अपने चिर-संगी शरीर को, जिसमें उन्होंने बावन साल के करीब निवास किया था, अभी-अभी चन्द मिनट पहले ही छोड़ा था। जान पड़ता था, मानो जमनालालजी शान्त निद्रा में सोये पड़े हैं। चेहरे पर न कोई दुःख था, न विषाद; न कोई उद्वेग का चिह्न, न शरीर में किसी तरह की कोई विकृति। तकिये पर सिर दिये, गंजी पहने, पांव पसारे, बिना कुछ ओढ़े, शान्त जमनालालजी गाढ़ी नींद में सो रहे थे। जमनालालजी के दांत सब टूट चुके थे, बनावटी दांत वह खाने या बाहर जाने के समय ही लगाते थे। इसलिए बिना दांतों के उनके गाल बैठे पड़े थे। चेहरे पर बुजुर्गी-सी छाई हुई थी।

एक दृश्य था शुरू का मेरी आंखों के सामने, जब जमनालालजी को बम्बई में पंचायतवाड़ी में मैंने देखा था। जमनालालजी उस समय नौजवान थे। ताजा थे। एक शक्ल जमनालालजी की आज की थी।

कितना अन्तर था इन दोनों में !

पहला दृश्य पूरे तीस साल की प्राचीनता पा चुका था। इस लम्बे अरसे में कितनी घटनाएं घटीं। कितना ऊंच-नीच जमनालालजी ने देखा। पर जमनालालजी की गाड़ी तो बस जो चली तो फिर वह चली-ही-चली। सन्मार्ग की पटरियों पर तेजी के साथ वह दौड़ती ही रही। पानी और कोयले के लिए इंजन ठहरता है, पर जमनालालजी ने तो दाना-पानी भी दौड़ते-दौड़ते ही चुगा। अविश्रान्त गति से दौड़ती हुई गाड़ी में कहीं का पुर्जा ढीला हो गया, तो कहीं से कील टूटकर गिर गई। पर जमनालालजी को तो अपनी मंजिल पर पहुंचना था। इसलिए मरम्मत के लिए भी उन्हें फुरसत कहां ? ढलती उम्र में शरीर ढीला पड़ गया था, पर गाड़ी तो दौड़ती ही जाती थी।

'वृद्धत्वं जरसा विना'—बावन साल की उम्र में ही जमनालालजी को बुढ़ापा क्यों आ गया ? क्योंकि उन्होंने अपनी गाड़ी की रफ्तार बढ़ा दी थी। जमनालालजी ने अपने बावन बरसों में, इससे कहीं ज्यादा बरसों की जिन्दगी बसर की। उन्हें धीरज नहीं था कि मंजिल पर धीरे-धीरे पहुंचें। इसलिए गाड़ी टूटती गई। तो भी जमनालालजी ने मुड़कर नहीं देखा। गाड़ी टूटती है या साबित रहती है, इसकी जमनालालजी को न कोई चिन्ता थी, न उसका विषाद। ध्येय था मंजिल पर

पहुंचना और जल्दी-से-जल्दी पहुंचना। इसलिए शरीर की अवज्ञा करके भी उनकी आत्मा उड़ान देती जा रही थी।

शरीर बेचारा आत्मा का कहां तक साथ दे सकता था? अन्त में शरीर ने दौड़ने से इन्कार कर दिया, तो आत्मा ने शरीर को तजा और अकेली ही दौड़ने लगी। घोड़ों की डाक में एक घोड़ा थक जाता है, तो सवार दूसरे घोड़े पर चढ़कर दौड़ता है। जमनालालजी का भी यही हाल था। जब शरीर थक गया तो आत्मा ने उस थके शरीर को छोड़ दिया। आत्मा को तो अभी दौड़ना ही है। उसे अपनी मंजिल पर पहुंचना है। तो फिर ताजा घोड़ा—शरीर क्यों न पकड़ा जाय?

आत्मा शरीर को छोड़कर उड़ गई। दौड़ जारी है। जमनालालजी की आत्मा जबतक मंजिल पर नहीं पहुंचती, विश्राम ले ही नहीं सकती। उसकी उड़ान जारी रहेगी। जमनालालजी के जीवन की यह सूत्ररूप कहानी है।

गांधीजी ने आते ही जमनालालजी के सिर पर हाथ रखा। जमनालालजी की धर्मपत्नी, जानकीदेवी तो कुछ हक्की-बक्की-सी रह गई थीं। गांधीजी को देखते ही वह आशा की तरंगों में उछलने लगीं।

"बापूजी, ओ बापूजी! आप पास में होते तो यह न मरते। मैंने आपको इनकी तबीयत बिगड़ते ही जल्दी खबर क्यों न भेज दी! इन्हें आप अब जिन्दा कर दीजिए! क्या आप इन्हें जिला नहीं सकते?"

गांधीजी ने कहा, "जानकी, अब तुम्हें रोना नहीं है। तुम्हें तो हंसना है और बच्चों को हंसाना है। जमनालाल तो जिन्दा ही है। जिसका यश अमर है, तो फिर उसकी मृत्यु कैसी? उसकी मृत्यु तो तभी हो सकती है, जब तुम उसका मार्ग-अनुसरण करने से मुंह मोड़ो। जमनालाल ने परमार्थ की जिन्दगी बिताई। तुम्हारी जैसी साध्वी स्त्री उसे मिली, तो फिर रोना कैसा? जो काम उसने अपने कन्धे पर लिया था, उसे अब तुम संभालो। उसी ध्येय के लिए तुम अपने-आपको सम्पूर्णतया अर्पण कर दो, और जमनालाल जिन्दा ही है, ऐसा मानो। तुम जानती हो कि मृत सत्यवान को सावित्री ने अपने तप से पुनर्जीवित कर लिया था। वह पुनर्जीवन शरीर का क्या हो सकता था? शरीर तो नाशवान ही है। सावित्री ने अपने तप से सत्यवान के तप को सदा के लिए अमरत्व दे दिया। यही 'सावित्री-सत्यवान' की कथा का सच्चा अर्थ है। तुम भी अपने तप से अपने पति के यश को जाग्रत रखोगी, तो फिर जमनालाल जिन्दा ही है, ऐसा हम मान सकते हैं।"

"बापूजी, मैं तो अपने-आपको अर्पण करने को तैयार हूं। पर मेरी शक्ति ही क्या? मेरा तप ही क्या? मैं उनके काम को कैसे चलाऊंगी? कैसे उनके तप को जाग्रत रखूंगी? आप इन्हें मरने मत दीजिए। आप क्या इन्हें जिला नहीं

सकते ? तो क्या ये मर ही गए ? क्या अब बोलेंगे नहीं ?"

"मैं तुम्हें झूठा धीरज नहीं देने आया हूं। जमनालाल का शरीर मर गया। पर असल जमनालाल तो जिन्दा ही है, और आगे के लिए उसे जिन्दा रखना हमारा काम है।"

जानकीदेवी तो श्रद्धा में ओतप्रोत हो रही थीं। बारबार 'इन्हें जिलाइये' की धुन लगी हुई थी। बेचारी कैसे विश्वास करे कि गया हुआ किसी भी हालत में कोई लौटा नहीं ? उनका विलाप तो किसी गोतमी की कहानी की याद दिलाता था। किसी गोतमी का बच्चा मर गया था, तो मोहवश उसने उसका दाह नहीं किया। उसने सोचा, शायद मरा हुआ भी फिर से जिन्दा हो सकता है। इसलिए बच्चे को लेकर भगवान् बुद्ध के पास पहुंची और कहने लगी, "भगवन्, इसे जिला दीजिये।" बुद्ध ने कहा, "देवी, इसे मैं अवश्य जिला दूंगा। तुम कुछ राई के दाने मुझे ला दो। पर वह ऐसे कुटुम्ब से लाना, जहां किसी की मृत्यु न हुई हो।" गोतमी घर-घर भटकी। पहले कुछ राई के दाने मांगती, फिर पूछती, आपके यहां कभी कोई मृत्यु तो नहीं हुई ? जवाब वही मिलता, जो मिलना चाहिए था। अन्त में थक गई, तब बुद्ध भगवान् के पास वापस लौटी और कहने लगी, "भगवन्, मैं अनेक घरों में गई, पर ऐसा एक भी घर न मिला, जो मृत्यु से प्रहारित न हो।" तब भगवान् बुद्ध ने उसे उपदेश दिया और उसका मोह हटाया।

गांधीजी ने भी जब उपदेश दिया तो जानकीदेवी की आशा टूट गई। अब तो वह बाण से पीड़ित हरिणी की तरह तड़फड़ा उठीं।

"पर जिला नहीं सकते तो उन्हें भगवान् का दर्शन तो कराइये। बापू, कुछ भजन गाइये। विनोबाजी से गीता सुनवाइये। हम सब भजन गायेंगे। चलो, अब 'ॐ, ॐ' बोलें। कोई मत रोओ। सब 'राम राम' पुकारो।"

"जानकी, जमनालाल को तो भगवान् के दर्शन हो चुके। अब तुम्हें दर्शन करना है, उसकी तैयारी करो। जो काम उन्होंने आधा किया है, उसे पूरा करो। उस काम के लिए तुम अपना तन, मन, धन सारा होम दो।"

"तो बापू, मुझे सती करा दीजिए। क्या इस जमाने में कोई सती नहीं हो सकती ? आप विश्वास रखिए, मुझे आग नहीं सतायेगी, कोई दर्द नहीं होगा। मैं सुख से जल जाऊंगी। मुझे सती करा दीजिए।"

"जानकी, जलने में क्या बहादुरी है ? हजारों स्त्रियां पति के साथ जली हैं। उसमें एक तरह की बहादुरी है सही, पर वह सच्ची बहादुरी नहीं है। असल सती होना कुछ न्यारी चीज है। वही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। सती को शरीर का क्या जलाना है ? वह तो तुच्छ है, मिट्टी है। तमाम दुर्गुणों को जला देना ही सच्चा सतीत्व है : . . . .

जड़-चेतन गुन-दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन पय पियहिं, परिहरि बारि बिकार॥

"सो तुम हंस का अनुकरण करो।

"अपने सब दुर्गुणों को जमनालालजी की चिता में होम दो। बाकी जो बचे वह शुद्ध कांचन है। उसे कैसे जलाया जा सकता है? उसे तो कृष्णार्पण ही किया जा सकता है। मेरा मानना है कि स्त्री ही त्यागमूर्ति बन सकती है, क्योंकि हिन्दू स्त्री विधवा होने पर सारे भोगों को तिलांजलि दे देती है और विकारों का शमन कर लेती है। इस तप के कारण उसमें एक नया बल आ जाता है। तुम अब त्यागमूर्ति बन गईं। अपने अवगुणों को तुम जमनालाल के हवन-कुण्ड में उसके शरीर के साथ भस्म करो, और जो शुद्ध सुवर्ण रह जाय उसे कृष्णार्पण कर दो। यही सती होना है। उठो, तुम सती हो जाओ।"

"बापूजी, जैसी आपकी आज्ञा। धन को तो मैंने मिट्टी माना है। मुझे चाहिए भी क्या? खाने-भर को तो मेरे बच्चे भी मुझे देंगे। आप हैं, भगवान् हैं, यह संसार है। मुझे कौन भूखों मरने देगा? इसलिए मेरी सम्पत्ति और मैं सब कृष्णार्पण!"

जानकीदेवी इतना कहकर स्वस्थ और शांत बन गईं।

जमनालालजी का मृत शरीर धीरे-धीरे पीला पड़ने लगा। पांव नीले होने लगे। तब तो याद आया कि जो बचा है, उससे भी जुदाई होने वाली है।

यह दृश्य निकट भूत का है, इसलिए अधिक स्पष्टता से सामने आता है।

सुना, जमनालालजी की बेहोशी और मृत्यु का कारण तो रक्त के अधिक दबाव के कारण उनकी मस्तिष्क-स्थित शिरा का फट जाना था। मैं सोचने लगा, क्या ब्रह्मरंध्र-भेदन भी कपाल के भीतर की शिरा को योग-क्रिया द्वारा भेद देने का ही नाम था? सम्भव है, प्राचीन ऋषियों को एक ऐसी क्रिया का ज्ञान हो, जिसके द्वारा वे इच्छा होने पर कपाल की शिरा का भेदन करके प्राण छोड़ देते थे। इसी को शायद 'कपालक्रिया' कहते रहे हों। जो हो, जमनालालजी ने सुख की मौत पाई। पन्द्रह मिनट के भीतर-भीतर किस्सा खत्म हुआ। मुझे अक्सर लिखते थे, "ईश्वर से मांगो कि मुझे सुख की मौत मिले।" ईश्वर ने उन्हें वही दिया, जो चाहते थे।

जमनालालजी का यह अन्तिम चित्र हृदय को अवश्य ही द्रवित कर देने वाला है। पर उनका असली चित्र तो उनका कर्म-समुच्चय है, जो भविष्य की पूजा के लिए दीप-शिखा की भांति स्थायी रूप से मार्ग-प्रदर्शक का काम दे सकता है। वह मनन करने योग्य है।

२

जमनालालजी का जन्म ४ नवम्बर सन् १८८९ को हुआ था, और मृत्यु हुई, ११ फरवरी सन् १९४२ के दिन। कुल ५२ वर्ष ३ महीने और ७ दिन उन्होंने अपने भौतिक शरीर में वास किया। इन वर्षों में संसार की इस रंगभूमि पर जमनालालजी ने अनेक पात्रों के अभिनय किये। सेठ का अभिनय किया और राजनैतिक नेता का भी। महलों में रहे, जेलों में भी रहे। पुत्र का स्वांग धारण किया, पिता का भी। पर इन सभी स्वांगों में कुछ अनोखे लक्षण थे, जो जमनालालजी के हर अभिनय में स्पष्ट प्रकट हो जाते थे।

सबसे बड़ी चीज जो उनमें थी, वह था उनका धन के प्रति तिरस्कार। धन के प्रति जमनालालजी की उदासीनता थी, इसके यह माने नहीं कि जमनालालजी उड़ाऊ थे, ऐशो-आराम में रहनेवाले थे या उनमें फिजूलखर्ची थी। जमनालालजी अपने शरीर-सम्बन्धी खर्च में तो अत्यन्त कृपण थे। उनका रहन-सहन बहुत ही सादा और कमखर्चीला था। रसोईघर खानपान की स्वादिष्ट सामग्रियों से शून्य। रहने का मकान, धर्मशाला की एक कोठरी। यात्रा प्रायः तीसरे दरजे की गाड़ी से। उनकी मोटर—और वह उनकी क्या, जो उस पर चढ़ बैठे उसी की—एक बैल के खटारे से गईबीती। उनके वस्त्र कारी-कुटकों से सुसज्जित। यह हाल था जमनालालजी की कृपणता का।

सादगी में उन्हें जैसे शूर चढ़ता था, और केवल अपने लिए ही कमखर्च थे सो नहीं, अपने प्रेमी मित्रों पर भी—जहां-तक उनके शारीरिक आराम का सम्बन्ध था—अपना यह कमखर्चीलापन लादने में उन्हें संकोच न होता था। मित्र उनका लाख मजाक करें, उनके रसोईघर की हजार आलोचना करें, पर वह टस-से-मस नहीं होते थे।

किसी को अपने शरीर पर आवश्यकता से अधिक खर्च करने का अधिकार ही क्या है ? इस मंत्र को उन्होंने यहां तक पचा डाला था कि वह उनकी एक ग्यारहवीं इन्द्रिय बन गया था। शारीरिक आराम और विश्राम-सम्बन्धी इस हद दरजे की कृपणता के बीच उनका धन के प्रति निर्मोह और अद्भुत उदारता, यह दो विषमों का एक अनोखा सम्मिश्रण था। पर इस समन्वय का भाष्य आसानी से किया जा सकता है। शारीरिक खर्च-सम्बन्धी जमनालालजी की कृपणता इस बात की द्योतक थी कि जो ईश्वर ने हमें दिया उस निधि के हम महज संरक्षक हैं। उसको 'स्व' भोगों के लिए नहीं, किन्तु 'पर' के उत्थान के लिए ही हम व्यय कर सकते हैं। धन के प्रति उनकी उदासीनता इस बात की द्योतक थी कि धन अन्य साधनों की तरह परोपकार के लिए एक साधारण साधन-मात्र है। उसके बिना आसानी से व्यवहार चल सकता है। जहां दैवी संपदा है, परोपकारवृत्ति है, वहां धन हो तो क्या, न हो तो क्या ? दैवी संपदा ही प्रधान है, धन गौण साधन है।

उनकी यह भावना उनके आत्मविश्वास की निशानी थी। उनकी ईश्वर में अटूट श्रद्धा का यह चिह्न था। उन्हें युधिष्ठिर के इस कथन का मर्म अच्छी तरह विदित था :

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा,
यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च।
तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं,
धनं न कामाय हितं प्रशस्तम् ॥

विधाता ने यज्ञ अर्थात् परोपकार के लिए धन पैदा किया और मनुष्य को उसका संरक्षक अर्थात् ट्रस्टी बनाया। इसलिए मनुष्य को अपना सारा धन परोपकार में लगाना चाहिए, न कि ऐहिक भोग-विलास में।

जिस ट्रस्टीशिप की कल्पना गांधीजी ने आज धनिकों के सामने रखी है, उसी पद्धति का युधिष्ठिर ने भी आज से पांच हजार साल पहले जिक्र किया था। जब मनुष्य धन का एक रक्षक-मात्र है और धन की सृष्टि परोपकार के लिए ही हुई है, तो मनुष्य उस धन का—पराये धन का—अपने भोग-विलास के लिए व्यय कर ही कैसे सकता है? और करता है, तो अमानत में खयानत करता है—ऐसा युधिष्ठिर का कथन था, और यही आज गांधीजी का भी कथन है।

जमनालालज़ी ने इस सूत्र को अपने व्यवहार में अपनाया, उसका अक्षरशः पालन किया। नतीजा यह हुआ कि जमनालालजी शारीरिक सुख-सामग्रियों में कृपण होते हुए भी परोपकार के लिए बेहद उदार प्रकृति के मनुष्य बन गए थे। लाखों का दान उन्होंने किया, यह तो सभी जानते हैं। पर अपने मित्रों के कष्ट में खुद फना हो जाने की उनकी प्रवृत्ति से सभी परिचित नहीं हैं। किसी मित्र पर कुछ आर्थिक कष्ट आया, तो बस स्वयं अपने-आप उसे कह देते थे, "देखना, तुम्हें कष्ट न हो। मेरा जो कुछ है, सो तुम्हारा ही है। इसमें कोई भेद न मानना।" ऐसा कहनेवाले शूरमा बहुत कम होते हैं।

पर जितनी ही जमनालालजी ने धन के प्रति उदासीनता दिखाई, उतना ही लक्ष्मी ने उनका सत्कार किया।

भागवत में समुद्र-मंथन की बड़ी रोचक कथा है। जब देवों और असुरों ने मिलकर अमृत के लिए समुद्र-मंथन किया तो पहले-पहल समुद्र में से विष निकला, जिसके कारण सारा संसार संत्रस्त हो उठा। संसार की व्याकुलता देखकर और लोगों के आग्रह पर उस हलाहल को भगवान् शंकर पी गए और इस तरह प्रजा की रक्षा हुई। उसके बाद कामधेनु गाय निकली, फिर उच्चैःश्रवा घोड़ा निकला, फिर ऐरावत हाथी आया, कौस्तुभ मणि निकली, कल्पवृक्ष और अप्सराएं निकलीं, और उसके बाद लक्ष्मी निकली। पता नहीं, यह कथा सृष्टि-रचना का क्रमबद्ध इतिहास तो नहीं है! क्या पृथ्वी पर पहले-पहल विषैली हवा थी? शायद विष

में उसीका संकेत हो। उसके बाद जब गाय, घोड़े, हाथी इत्यादि की सृष्टि उत्पन्न हो चुकी और लोग उनका तथा धरती का ठीक उपयोग करने लगे, परिश्रम करने लगे, तो उसके फलस्वरूप कल्पवृक्ष तो निकलना ही था। परिश्रम-रूपी कल्पवृक्ष से तो फिर जो चाहो सो मिलेगा।

और जब परिश्रम होने लगा तो धन की वृद्धि तो होनी ही थी। किन्तु धन की प्रतीक लक्ष्मी ने अपने लिए स्वामी चुनने में जिस विवेक का परिचय दिया, वह हरएक धनेच्छुक के लिए एक शिक्षाप्रद पाठ है। लक्ष्मी ने सोचा, मैं किसे वरण करूं? मुझे तो सर्वथा निर्दोष गुणशीलवाला वर चाहिए। दुर्वासा-जैसा तपस्वी में क्रोध है, इसलिए वह मेरे योग्य नहीं। बृहस्पति ज्ञानी है, तो अनासक्त नहीं। ब्रह्मा महत्त्वशाली है, पर उसने काम पर विजय प्राप्त नहीं की। इन्द्र ऐश्वर्यशाली तो है, पर उसका ऐश्वर्य दूसरों के आश्रय पर है। परशुराम धार्मिक है, पर प्रेम से रहित है। शिवि में त्याग है, पर अन्य गुण उसमें नहीं। कार्तवीर्य वीर है, पर मृत्यु से त्रस्त है। सनकादि अनासक्त हैं, तो अकर्मण्य हैं। मार्कण्डेय की आयु लम्बी है, पर वह शीलरहित है। दूसरी ओर हिरण्यकशिपु जैसे शीलवान् हैं, तो दीर्घायु नहीं। शंकर में सब गुण हैं, पर उनकी वेश-भूषा मंगलमय नहीं। विष्णु में सब गुण हैं, पर उन्हें कहां लक्ष्मी की गरज पड़ी है? विष्णु की इस निस्पृहता ने लक्ष्मी को अधिक आकर्षित किया और अन्त में उन्हीं के गले में उसने वरमाला डाली।

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः
पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम्।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्ध चारण
त्रैविष्टपेयादिषु नान्वविन्दत॥

नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो
ज्ञानं क्वचित्तच्च न संगवर्जितम्।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः
स ईश्वरः किं परतोव्यपाश्रयः॥

धर्मः क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं
त्यागः क्वचित्तत्र न मुक्तिकारणम्।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं
न हि द्वितीयो गुणसंगवर्जितः॥

क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमंगलं-
क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः।

यत्तोभयं कुत्र च सोऽप्यमंगल:
सुमंगलः कश्चन कांक्षते हि माम् ।।

एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-
र्वरं निजैकाश्रयतागुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ।।

मतलव, जो लक्ष्मी का स्वामी वनना चाहता है, उसमें तप, अक्रोध, ज्ञान, अनासक्ति, इन्द्रियों का निग्रह और निराश्रयवृत्ति होनी चाहिए। वह धर्म का उपासक हो, स्नेहार्द्र हो, त्यागवृत्तिवाला हो, वीर हो और निस्पृह हो। ये गुण जिसमें हों, लक्ष्मी उसके पीछे दौड़ती है। पर जो धन के पीछे दौड़ते हैं, लक्ष्मी उनके यहां दीर्घकाल तक नहीं टिकती। जमनालालजी में ये सारे गुण नहीं आये, पर वह इन गुणों के उपासक थे। धन के प्रति निस्पृहता, उदासीनता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। लक्ष्मी ने भी इसीलिए उनको वरा।

धन के प्रति यह तिरस्कार वचपन से ही उनमें जम चुका था। जन्म तो उनका गरीव माता-पिता के घर में हुआ था, पर जहां दत्तक होकर आये थे, वह घर समृद्धिशाली था। पितामह वछराजजी का अपने दत्तक पौत्र जमनालाल पर काफी स्नेह था। पर तो भी दत्तक सो दत्तक, और बछराजजी का स्वभाव था क्रोधी। एक दिन क्रोध में वछराजजी ने वालक को कुछ भला-बुरा कह दिया, और यह भी कहा कि तुम्हें तो मेरे धन से प्रेम है, मुझसे नहीं; इसलिए तुम वापस अपने जन्मदाता पिता के यहां चले जाओ। जमनालालजी-जैसे आत्माभिमानी वालक को इससे बुरा तो लगना ही था। पर इस घटना में उन्हें अपने नैसर्गिक गुणों को प्रकट करने का मौका मिल गया। चट अपना वधना-वोरिया वांधकर वह घर से निकल वाहर हुए। दौलत को लात मारी और अपनी निर्लोभिता का उन्होंने अद्‌भुत परिचय दिया।

वछराजजी ने सोचा होगा कि शायद वालक जमनालाल को निकाला नहीं जा सकेगा। दत्तक पुत्र का भी तो कानूनन हिस्सा है ही, और जमनालालजी अपना हिस्सा मांग सकते थे। कोर्ट में दावा भी कर सकते थे। पर इन्होंने ऐसा न कर वछराजजी को एक दस्तावेज दे दिया, जिसमें उन्होंने अपने सारे-के-सारे कानूनी हक को तिलांजलि दे दी। जो दस्तावेज उन्होंने बछराजजी को दिया, उस पर स्टाम्प लगाकर उसे पूरा कानूनी रूप भी दे दिया। बछराजजी लड़के की यह त्यागवृत्ति, निर्भयता, आत्माभिमान, धर्मभीरुता और स्वाश्रयता देखकर गद्‌गद् हो गए। अहिंसा की विजय हुई। वछराजजी को अपनी भूल का ज्ञान हुआ और उन्होंने वालक को वापस वुला लिया।

जमानलालजी ने जो पत्र उस समय बछराजजी को लिखा, वह एक अनूठा दस्तावेज है। जमनालालजी की उम्र उस समय सत्रह साल की थी। सत्रह साल की उम्र में ही बालक जमनालाल के विचार कितने सुलझ गए थे, उनमें कितनी निर्भयता आ गई थी, धन के प्रति उनकी कितनी उदासीनता थी, उनमें कितना आत्मविश्वास था, धर्म में उनको कितनी श्रद्धा थी, दान में कितनी अभिरुचि थी, विपक्षी के प्रति क्रोध का उनमें कितना अभाव था, भाषा में कितनी स्पष्टोक्ति थी; ये सब बातें जमनालालजी का वह पत्र अत्यन्त स्पष्टता से हमें बताता है। ये सब गुण, जो बालक जमनालाल में बचपन में ही आ गए थे, आगे जाकर पनपते ही गए और जमनालालजी को एक महान् व्यक्ति बनाने में सहायक हुए। जो पत्र उन्होंने अपने पितामह बछराजजी को लिखा था, उसकी प्रतिलिपि[1] देना यहां आवश्यक जान पड़ता है :

---

१. पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :

॥ श्री गणेशजी ॥

सिद्ध श्री वर्धा शुभस्थान पूज्य श्री बछराजजी रामधनदास से चि० जमन का चरण-स्पर्श। सर्वत्र श्री लक्ष्मीनारायणजी महाराज सदा सहाय हैं। समाचार एक निगाह करें। आप आज मुझपर निहायत नाराज हो गए सो कोई चिन्ता नहीं। श्री ठाकुरजी की मर्जी। मैं गोद लिया हुआ था तब आपने ऐसा कहा। पर आपका कुछ भी कसूर नहीं है। कसूर है उनका, जिन्होंने मुझे गोद दिया।

आपने कहा, नालिश करो, सो ठीक। पर मेरा आप पर कोई कर्ज तो है नहीं। आपका कमाया हुआ पैसा है। आपकी खुशी हो सो करें। मेरा आप पर कुछ अधिकार नहीं।

आजतक मेरे बाबत या मेरे लिए जो आपका खर्च हुआ सो हुआ। आज के बाद आप से एक छदाम—कौड़ी भी मैं लूंगा नहीं और न मंगाऊंगा ही। आप अपने मन में किसी किस्म का ख्याल न करें। आपकी तरफ आज से मेरा किसी तरह का भी हक नहीं रहा है। श्री लक्ष्मीनारायणजी से मेरी अर्ज है कि आपका शरीर ठीक रखें और आपको अभी बीस-पच्चीस वर्ष तक कायम रखें। मैं जहां जाऊंगा, वहीं से आपके लिए ठाकुरजी से इस प्रकार विनती करता रहूंगा। मुझसे आजतक जो-कुछ कसूर हुआ वह माफ करें।

आपके मन में यह हो कि सब पैसों के साथी हैं, और यह भी पैसे के लिए सेवा करता है, सो मेरे मन में तो आपके पैसे की चाह बिलकुल नहीं है और ठाकुरजी करेंगे तो आपके पैसे की भविष्य में भी मन में आयेगी नहीं। क्योंकि मेरी तकदीर मेरे साथ है। और पैसे मेरे पास हों भी तो मैं क्या करूंगा? मुझे तो पैसों के नजदीक रहने की बिलकुल परवा नहीं है। आपकी दया से श्री ठाकुरजी का भजन-सुमिरन जो कुछ होगा, सो करूंगा, जिससे इस जन्म में सुख पाऊं और अगले जन्म में भी।

आप प्रसन्नचित्त रहें। किसी किस्म की फिक्र न करें। सब झूठे नाते हैं। न कोई किसी का पोता है, न कोई किसी का दादा। सब अपने-अपने सुख के साथी हैं। सब झूठा पसारा है। आप अभीतक मायाजाल में फंस रहे हैं। मैं आज आपके उपदेश से मायाजाल से छूट गया। आगे श्रीभगवान् संसार से बचावें।

अपने मन में आप इस तरह कदापि न समझें कि यह हमारे पर नालिश-फरियाद करेगा।

॥ श्री गणेशजी ॥

सिद्ध श्री वर्धा शुभस्थान पूज्य श्री बछराजजी रामधनदास सूं लिखी चि० जमन का पांवांधोक वांचीज्यो। अठे उठे श्री लक्ष्मीनारायणजी महाराज सदा सहाय छे। अपरंच समाचार एक वांचीज्यो। आपकी तबीयत आज दिन हमारे ऊपर निहायत नाराज हो गई सो कुछ हरकत नहीं। श्री ठाकुरजी की मरजी और गोद का लियोड़ा था जद आप इस तरह कह्यो। सो आपको कुछ कसूर नहीं, जिको हमाने गोद दियो जिनको कसूर छे। बाकी आप कह्यो कि तुम नालिस करो सो ठीक। बाकी हमारो आपके ऊपर कुछ कर्जो छे नहीं। आपको कमायेड़ो पीसो छे। आपकी खुसी आवे सो करो। हमारो कुछ आप ऊपर अधिकार छे नहीं। हमां आपसूं आज मिती ताईं तो हमारे बारे में अथवा जो हमारे ताईं जो खर्च हुयो सो हुयो, बाकी आज दिन सूं आप कने सूं एक छदाम कोड़ी हमां लेवांगा नहीं, अथवा मंगावांगा नहीं। आप आपके मन मां कोई रीत का विचार करज्यो मतना। आपकी तरफ हमारो कोई रीत को हक आज दिन सूं रह्यो छे नहीं और श्री लक्ष्मीनारायणजी सूं अर्ज ये है कि आपको शरीर ठीक राखे और आपने हाल बीस-पच्चीस बरस तक कायम राखे। और हमां जठे जावांगा, बठेसूं थांके ताईं इस माफक ठाकुरजी सूं विनती करांगा। और म्हारे सूं जो कुछ कसूर आज ताईं हुयो सो सब माफ करजो। और आपके मन में हो कि सब पीसां का साथी है, पीसां के ताईं सेवा करे छे, सो हमारे मन मां तो आपके पीसां की बिलकुल छे नहीं। और भी ठाकुरजी करेगा तो आपके पीसे की हमारे मन में आगे भी आवेगी नहीं। कारण हमारो तगदीर हमारे साथ छे। और पीसो हमारे पास होकर हमां कांई करांगा। म्हाने तो पीसा नजीक रहने की बिलकुल परवा छे नहीं। आपकी दया से श्री ठाकुरजी का भजन सुमिरन जो कुछ होवेगा सो करांगा। सो इस जनम मांही भी सुख पावांगा और अगला जनम मांही भी सुख पावांगा। और आप आपके चित्तमां प्रसन्नता राखियो। कोई

मैंने अपनी राजी-खुशी से टिकट लगाकर सही कर दी है कि आप पर अथवा आपकी स्टेट, पैसे, रुपये, गहना-गांठी आदि किसी सामान पर आज से मेरा कतई हक नहीं रहा है और मेरे हाथ का न कोई कर्ज बाकी है। किसी का एक पैसा भी नहीं देना है।

अन्य समाचार कुछ है नहीं। समाचार तो बहुत हैं, पर मेरे से लिखे नहीं जाते। संवत् १९६४ मिती बैसाख कृष्णा २, मंगलवार पूज्य श्री १०५ दादाजी श्री बछराजजी से जमन का चरणस्पर्श।

बहुत-बहुत सम्मान से। आपकी तरफ मेरा कोई रीत का लेन-देन नहीं रहा है। श्री ठाकुरजी के मन्दिर का काम बराबर चलावें। आपसे दान-धर्म जो बने सो खूब करते जावें। ब्राह्मण-साधु को गाली बिलकुल न दें, और किसी को भी हाथ का उत्तर दें, मुंह का उत्तर नहीं। ज्यादा क्या लिखूं ? इतने में ही समझ लें।

और मैं आपकी कोई चीज साथ नहीं लूंगा। सब यहीं छोड़ जाता हूं। सिर्फ अंग पर कपड़े पहने हूं।

रीत को फिकर करजो मतना। सब झूठा नाता छे। कोई कोई को पोतो नहीं। और कोई कोई को दादो नहीं। सव आप आपका सुख का साथी छे। सब झूठो पसारो छे। आप हाल ताईं मायाजाल मांही फंस रह्या छो। हमां आज दिन आपके उपदेश सूं छूट गया छां। आगे श्री भगवान् संसार सूं बचावेगा। और आपके मनमां इस तरह बिलकुल समझो मतना कि हमारे ऊपर नालिस फरियाद करेगो। हमां हमारे राजी खुशी सूं टिकिट लगाकर सही कर दीनी छे कि आपके ऊपर अथवा आपकी स्टेट, पीसा, रुपया, गहना-गांठी और कोई भी सामान ऊपर आज से बिलकुल हक रह्यो नहीं सो जाणज्यो। और हमारे हाथ को कोई को करजो छे नहीं। कोई ने भी एक भी पीसो देनो छे नहीं सो जाणज्यो। और तो समाचार छे नहीं। और समाचार तो बहुत छे, परन्तु हमारे से लिख्यो जावे नहीं।

संवत् १९६४ मिती बैसाख बदी २, मंगलवार पूज्य श्री १०५ दादाजी श्री वछराजजी सूं जमन का पांवांधोक बांचीज्यो।

घणे-घणे मानसेती आपकी तरफ हमारो कोई रीत को लेन-देन रह्यो नहीं। श्री ठाकुरजी के मन्दिर को काम वरावर चलाज्यो। और आपसूं दान धरम वने सो खूव करता जाइयो और ब्राह्मण साधू ने गाली बिलकुल दीजो मतना और कोईने भी हाथ को उत्तर देइजो, मुंह को उत्तर दीजो मतना। ज्यादा कांई लिखां। इतना मांह समझ लीजो। और हमां आपकी चीजां सागे ल्यांगा नहीं। सो सर्व अठेई आपके छोड़ गया छां। खाली अंग ऊपर कपड़ा पहर्या छां।

जमनालालजी के अनेक गुण हैं, जो उनकी कीर्ति को स्थायी रखेंगे। पर यदि जमनालालजी में अनेक गुण भी न होते, तो उनका यह अकेला पत्र भी उनके यश को अमर वना रखने के लिए काफी था। कितने माई के लाल होंगे, जो घर आई लक्ष्मी से मुंह मोड़कर, बिना किसी विषाद या उद्वेग के, इस तरह धन से भरे घर को लात मार दें ?

जमनालालजी का यह पत्र अवश्य ही कल्याण-मार्ग के पथिकों के लिए अंधेरे की ज्योति है, या तो यह चिट्ठी 'ताप-तिमिर-तरुण-तरणि-किरण-मालिका है।'

३

पर क्या जमनालालजी राज-काजी भी थे। किन्तु राजनीति उनका शाश्वत कार्य नहीं था। वह कांग्रेस-कार्यकारिणी के वर्षों तक सदस्य रहे, कई वार जेल गये, राजनैतिक मुठभेड़ों में सदा आगे रहे, इस सवमें प्रसिद्धि भी पाई। पर वह राजनैतिक वातावरण से स्वभावतः तो अलग-से ही थे, यह कहना बेजा नहीं होगा। उनकी वास्तविक रुचि का विषय था परमार्थ, परोपकार। राजनीति उनके लिए परमार्थ का हेतु थी, यह उनका ध्येय नहीं थी।

मनुष्य की गढ़न उसके सामयिक वातावरण और परिस्थिति के अनुरूप होती

है। किसी तेजस्वी पुरुष को यदि हम एक बड़े राजनैतिक नेता के रूप में देखते हैं, तो हम भूल से यह मान बैठते हैं कि उसकी तेजस्विता उसके प्रमुख राजनैतिक कार्यों का परिणाम है। पर वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत होती है। तेजस्विता, परोपकारी वृत्ति, निर्भयता, यही उस तेजस्वी मनुष्य के बुनियादी गुण हैं। राजनैतिकता अथवा अन्य तेजस्वी कार्य उन हृदयस्थ गुणों के लक्षण-मात्र हैं, जो सामयिक आवश्यकताओं के ढांचे में ढलकर भिन्न-भिन्न चेष्टा द्वारा अपने-आपको व्यक्त करते रहते हैं। अपने समय के व्यक्तियों में तुलसीदासजी महान् व्यक्ति थे और अशोक भी। प्रवृत्तियां पृथक् थीं, तो भी बुनियादी सद्गुण तो दोनों में ही थे। जमाने के तकाजे ने एक को सन्त बनाकर चमकाया तो दूसरा सम्राट् बनकर तपा।

गांधीजी एक महान् व्यक्ति हैं और बेजोड़ राजनैतिक नेता भी। पर असल में तो सत्य के तकाजे ने उन्हें राजनीति में घसीटा। उनका वास्तविक गुण तो शुद्ध सत्य है। राजनीति न तो उनका ध्येय है, न वह इसके कारण महान् व्यक्ति हैं। महत्ता उनकी स्वतन्त्र विभूति है। उनकी राजनीति उस विभूति का फल है। हजार साल पहले यदि गांधीजी जन्मते, तो भी उनकी महत्ता तो इतनी ही होती, पर उनके कार्य राजनैतिक न होकर किसी दूसरी वांछनीय दिशा में होते :

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

इस ईश्वरीय प्रतिज्ञा का अर्थ इतना ही है कि जिस समय सन्ताप होता है, उस समय कोई दैवी विभूति उस सन्ताप को दूर करने के लिए प्रकट होती है। मूक पशुओं की यज्ञ के नाम पर होनेवाली हत्या को मिटाने और बढ़े हुए भोग-विलास और विषय-वासना पर अटकाव डालने के लिए बुद्ध जन्मे, तो गोरी प्रजा के बढ़े हुए लोभ को अटकाने, उनके द्वारा पीली, काली, गेहुंआ प्रजा के दुःख-दर्दों को काटने, उनकी परतन्त्रता मिटाने, उनकी जड़ता हटाने और संसार में अहिंसा-स्थापना के लिए शायद गांधीजी ने जन्म लिया हो। हेतु तो दोनों में धर्म का अभ्युत्थान था, पर बाहरी रूप एक का संन्यासी का था, दूसरे का राजनैतिक नेता का है।

पर यह तो बड़ी आत्माओं की बात हुई।

पर मध्यम श्रेणी के लोगों के जीवन का भी तो हेतु होता है। राम के साथ वानर जन्मे, कृष्ण के साथ गोप, बुद्ध के साथ श्रमण आये, तो गांधीजी के साथ अनेक नेता और स्वयंसेवक-सेना आई।

तो जमनालालजी भी परमार्थ के लिए आये। बाहरी रूप उनका चाहे नेता का रहा, पर उनका मन तो परमार्थ में बसा था। बुद्ध के समय में वह जन्मते, तो श्रमणों की सेवा में दान-धर्म करते-करते शायद स्वयं श्रमण बन जाते। इस जमाने

में जन्मे, तो राजनैतिक वातावरण से अलिप्त न रह सके। कहा जा सकता है कि उनके परमार्थ ने उन्हें राजनीति में घसीटा, और इसका भी दिलचस्प इतिहास है।

जमनालालजी के घर में कुछ जमींदारी भी थी। उनके पितामह बछराजजी के जमाने में सरकारी वसूली का खजाना बैलगाड़ी पर लादे हुए कुछ सिपाही उनकी जमींदारी में से गुजरे और महज इसीलिए कि उन सिपाहियों को खाने के लिए सब चीज़ें मुफ्त मिलीं, पर घी-दूध कुछ कम मिला, उनके एक प्यादे को सरकारी सिपाहियों ने खूब पीटा। उनके घराने की सरकार में काफी चलती थी। उनके पितामह बछराजजी ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे। उन्होंने सरकारी सिपाहियों को सजा दिलाने की कोशिश की, पर दौड़-धूप करने पर भी बजाज-कुटुम्ब को न्याय न मिला। जमनालालजी के चित्त को इस घटना से काफी सदमा पहुंचा। परमार्थवृत्ति जमनालालजी को राजनीति में ढकेलने लगी।

इतने में एक और किस्सा हो गया। उनके एक मुनीम के रिश्तेदार के घर में आग लग गई। इनके मुनीम अपने रिश्तेदार के यहां दौड़कर पहुंचे और आग बुझाने में सहायता देने लगे। उस घर में कुछ कीमती जेवर वगैरा भी थे। इतने में पुलिस पहुंची और इनके मुनीम को वहां से हटने की हिदायत की। मुनीम ने कहा, यहां कुछ जेवर हैं, जो इस होहल्ले में गायब भी हो सकते हैं; इसलिए मैं हट नहीं सकता। बस पुलिस ने इतने ही पर उस मुनीम को खूब पीटा। बेचारा अधमरा-सा हो गया। जमनालालजी के पितामह बछराजजी ने कुछ शोरगुल मचाना चाहा, तो पुलिस ने उन्हें कह दिया कि या तो आप चुप रहें, वरना आपको भी भुगतना पड़ेगा। बछराजजी ने समझ लिया कि जहां पर न्याय मांगना भी गुनाह है, वहां न्याय की आशा ही बेकार है।

भोजने यत्र सन्देहो, धनाशा तत्र कीदृशी ?

इन घटनाओं से जमनालालजी तड़फड़ाने लगे। अभी तो वह नादान बालक ही थे, पर हमारी अवस्था असहाय है, इतना तो वह समझ गए। इस निस्सहाय अवस्था को देखकर उनकी विचार-धारा तेजी से दौड़ने लगी। हम निर्बल क्यों हैं ? क्यों हम जापान की तरह उन्नत नहीं हो सकते ? हमें शिक्षा क्यों नहीं दी जाती ? हमारी गरीबी की दवा क्यों नहीं की जाती ? क्यों हमें न्याय नहीं मिल सकता ? दूसरे मुल्कों में लोगों की अपनी सरकारें क्यों हैं ? हमारे यहां पर-राज्य क्यों ? इससे क्या हानि है ? विचारों के इस भंवर-जाल में वह गोते खाने लगे। पता नहीं, क्या-क्या तर्क-वितर्क बालक जमनालाल की बुद्धि ने किये होंगे। पर स्वराज्य ही इस स्थिति की एकमात्र औषध है, इस निर्णय पर वह पहुंचे, यह तो हम सभी जानते हैं। परमार्थवृत्ति ने जमनालालजी को राजनैतिक प्रवृत्तियों की ओर एक कदम आगे बढ़ाया। पूना के 'केसरी' को उन्होंने एक सौ रुपया उस समय बतौर दान के भेजा, जो उनके बड़े दानों की पहली किस्त मानी जा सकती

है। सौ रुपया यों कोई बड़ी रकम नहीं है, पर बड़ी इसलिए है कि यह बालक जमनालाल ने अपने जेब-खर्च में से बचाई हुई रकम में से भेजी थी। बालक जमनालाल को रोज रुपया-अधेली हाथ-खर्च के लिए अपने पितामह की ओर से मिला करता था। उसमें से उन्होंने बचा-बचाकर मुश्किल से सौ रुपये के करीब इकट्ठे किये थे, जो उन्होंने 'केसरी' को भेज दिए। स्वदेश-सेवा के लिए यह उनका पहला दान था। पीछे तो उन्होंने अपने जीवन में अनेक बड़े-बड़े दान किये, पर उनके कथनानुसार जो आनन्द उन्हें इस छोटे-से दान में मिला, वह लाखों के दान में नहीं आया।

पर वह अपनी मर्यादा समझते थे। वह जानते थे कि राजनीति में वह परोपकार-वृत्ति से ही सहायता दे सकते हैं। जो नेता इस क्षेत्र में थे, जिन्हें राजनीति का ज्ञान था, जिन्हें राजनीति में दिलचस्पी थी और जो इस दिशा में स्वार्थ छोड़कर सेवा करते थे, उन्हें सहायता देना यही उनका धर्म है, ऐसा उन्होंने माना। परोपकारी पुरुषों के सहयोग में आना इसलिए हर हालत में उन्होंने अपना कर्त्तव्य माना। उन्हीं लोगों की संगति में वह बैठने भी लगे।

इस बीच में नये-नये कारण उन्हें वांछित दिशा में प्रेरते रहे। एक मरतबा वह डी०एस०पी० से मिलने गये थे। बातों-ही-बातों में लोकमान्य के विलायत जाने की चर्चा चली, तो डी० एस० पी० ने कहा, "अच्छा हो, यह जहाज डूब जाय।" उन्हें अंग्रेज अफसर की इस मनोवृत्ति पर अत्यन्त खेद हुआ। कुछ आवेश के साथ उन्होंने कहा, "पर आपके भाई भी तो उसी बोट में हैं, वे भी तो डूबेंगे।" इतना कहकर भी उन्हें शांति नहीं मिली। उन्हें डी० एस० पी० के ओछेपन में अपनी बेबसी दिखाई देने लगी, और वह उन्हें बुरी तरह सताने लगी। राजनीति में दिलचस्पी लेना उन्हें अपना नैतिक कर्त्तव्य जंचने लगा। उसके भंवर में वह गोते खाने लगे।

गंगा की धार आगे बढ़ी। समय की रफ्तार के साथ जमनालालजी का स्वदेश-भक्ति का रंग भी गाढ़ा होने लगा। वह नेताओं से सम्पर्क बढ़ाने लगे। नेताओं के व्याख्यानों को मानो अत्यन्त आतुरता से पी जाते थे। उन दिनों के नेता लोकमान्य तिलक थे। उनसे भी जमनालालजी का सम्बन्ध था। पूज्य मालवीयजी के समागम में भी आ चुके थे। अन्य नेताओं से भी उनका गाढ़ा परिचय था। पर उनकी आंखें तो गांधीजी पर ही गड़ी हुई थीं। उनको स्वराज्य की प्यास तो थी, पर उसकी तह में धर्म की प्यास थी। इसलिए गांधीजी की ओर उनका आकर्षण स्वाभाविक ही बढ़ने लगा।

गांधीजी इन दिनों अफ्रीका में थे। पर बिना देखे ही गांधीजी में जमनालालजी की भक्ति जम गई। जमनालालजी में स्वदेशभक्ति के साथ-साथ सादगी और आत्मोत्थान की लगन थी। इसलिए गांधीजी की ओर उनकी आंखें सहज ही

जाती थीं। गांधीजी का अनोखापन उन्हें अपनी ओर जोर से खींच रहा था, और गांधीजी जब स्वदेश लौटे तो वह उनके सहवास में अधिकाधिक आने लगे। गांधीजी का भी इनके प्रति स्नेह बढ़ने लगा। एक रोज जमनालालजी ने हठात् गांधीजी से कहा, "आपसे एक दान मांगता हूं।" गांधीजी को सुनकर आश्चर्य हुआ कि जमनालाल क्या दान मांगेगा।

"कहो तो सही। देखूं, क्या मांगते हो। शक्ति होगी तो दूंगा।"

"बस मैं इतना ही चाहता हूं कि मुझे भी देवदास का भाई, अपना पांचवां पुत्र आप मान लें।"

गांधीजी को सानन्द आश्चर्य हुआ और उन्होंने 'तथास्तु' कह दिया। गांधीजी का पुत्र बनने के लिए भी मनुष्य में पात्रता चाहिए। गांधीजी का दत्तक पुत्र बनना या शिष्य बनना एक ही बात है। किसी महापुरुष का दत्तक पुत्र बनना या शिष्य बनना, यह एक कमर तोड़ने वाली जिम्मेदारी है, और आत्मोत्थान का एक वरदान भी है। जिम्मेदारी को निबाह दे तो बड़ी बात। न निबाहे तो ? क्या पाप का भागी भी बन सकता है ? कौन जाने ! जो सद्भाव से अमल करता है वह सफल हो तो क्या और न हो तो क्या ! उसकी जिम्मेदारी तो फिर ईश्वर ओढ़ लेता है। इसलिए पाप का भागी वह कैसे हो सकता है ?

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

जो हो, जमनालालजी ने एक बड़े साहस के क्षेत्र में कदम रखा और गांधीजी ने उस साहस को उत्तेजन दिया। वह दिन और उनकी मृत्यु का दिन, इसके बीच के समय को उन्होंने गांधीजी के 'पुत्रत्व' को निवाहने में विताया। जी-जान से उन्होंने प्रयत्न किया।

गांधीजी से सम्बन्ध जुड़ने के बाद तो जमनालालजी का गांधीजी के यहां आना-जाना जोर से बढ़ने लगा। अन्य नेताओं से भी सम्पर्क बढ़ा। सरकार की नजर में यह बात आने लगी, पर उन्होंने इसकी कोई परवा नहीं की। इसी बीच उन्हें रायबहादुर की उपाधि मिल गई। जमनालालजी का उपाधि के लिए कोई विरोध न था; क्योंकि उन्होंने अपने धर्म के मार्ग में इसे रोड़ा नहीं माना था। पर यदि धर्म के मार्ग में उपाधि बाधक हो, तो उससे चिपटे रहने का भी उन्हें मोह नहीं था।

उपाधि मिलते ही उन्होंने गांधीजी को इत्तिला दी, "मुझे आशीष दीजिए।" "मैं क्या आशीष दूं ? सम्मान का अच्छा उपयोग करो। अपमान मनुष्य की इतनी क्षति नहीं करता, जितना कि सम्मान करता है। सम्मान एक भयंकर वस्तु है, जिसका लोगों ने सदुपयोग तो कम किया, दुरुपयोग ज्यादा किया है। तुम उसका सदुपयोग करो। मेरी आशीष है कि यह सम्मान तुम्हारे आत्मोत्थान में बाधक न हो।"

गांधीजी की इस आशीष को जमनालालजी ने सिर पर चढ़ाया, उपाधि धारण की और 'रायबहादुर जमनालाल' बन गए। पर उनकी मनोवृत्ति से उपाधि मेल नहीं खा सकी। दोनों का समन्वय नहीं हो सका और अन्त में उपाधि ने उनसे रुखसत ली। परोपकार की वेदी पर ही 'उपाधि' का बलिदान हुआ। उपाधि का सदुपयोग ही हुआ।

सन् १९१८ की घटना है। नागपुर के कमिश्नर श्री मार्स्किग ने उन्हें मिलने बुलाया। वह नागपुर पहुंचे। कमिश्नर के पास एक बड़ी-सी फाइल रखी थी, जो शायद उनके सम्बन्ध में तैयार की हुई सी० आई० डी० की रिपोर्ट थी। कमिश्नर ने पहले आव-भगत करके पूछा, "आप गांधीजी के पास जाया करते हैं ?"

"जी हां।"

"क्या आपके यहां मिसेज नायडू, नेकीराम शर्मा, देवीप्रसाद खेतान आदि राजनैतिक कार्यकर्त्ता ठहरा करते हैं ?"

"जी हां।"

"आपको मालूम होगा कि गवर्नमेण्ट आपको बहुत मान की दृष्टि से देखती है, और गवर्नमेण्ट में आपका बहुत मान है।"

"जी हां।"

"आप पर ज्यादा जवाबदारी है।"

"यह ठीक है। पर जो लोग मेरे यहां ठहरते हैं, उनके राजनैतिक विचारों से मेरा कोई खास सम्बन्ध नहीं है। मेरे विचारों के बारे में आपके पास कोई रिपोर्ट हो तो आप मुझसे जवाब मांग सकते हैं। मैं उनका खुलासा कर सकता हूं, पर राजनैतिक मतभेद रखते हुए भी मैं अपने मित्रों से या अपनी समझ के अनुसार जो देश की सेवा करते हैं, उनसे सम्बन्ध न रखूं, न मिलूं या अपने यहां उन्हें न ठहरने दूं, यदि सरकार की यह मंशा हो, तो यह ज्यादती है। उनका पालन करना किसी भी मनुष्य के लिए, जो अपने-आपको मनुष्य समझता हो, असम्भव है।"

"आप गांधीजी के पास जाते हैं, या राजनैतिक लोग आपके यहां ठहरते हैं, इससे आपपर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। आप तो समझदार आदमी हैं। पर दूसरे लोगों पर इसका बुरा असर पड़ना सम्भव है। इसलिए आपको विशेष सावधानी से काम लेना चाहिए।"

"मेरे पूर्वपरिचित लोग, चाहे वे किसी भी विचार के क्यों न हों, मेरे यहां आयंगे तो उनका आतिथ्य करना मेरा धर्म है। मैं उन्हें रोक नहीं सकता। गांधीजी के प्रति मेरा पूज्य भाव है। मैं उनसे सम्बन्ध नही छोड़ सकता।"

उसने बहुत क्रोध के आवेश में कहा, "तो आपके विद्यालय की नई इमारत का उद्घाटन चीफ कमिश्नर नहीं करेंगे।"

सर बेंजामिन राबर्टसन उन दिनों चीफ कमिश्नर थे। मारवाड़ी विद्यालय की नई इमारत का उद्‌घाटन उन्हीं के हाथों होना निश्चित हो चुका था। कमिश्नर की बातों से मालूम हुआ कि चीफ कमिश्नर केवल जमनालालजी के कारण विद्यालय की नई इमारत का उद्‌घाटन नहीं करेंगे। जमनालालजी चीफ कमिश्नर से खूब परिचित थे। विद्यालय की संस्था से चीफ कमिश्नर को प्रेम भी बहुत था। जमनालालजी ने कमिश्नर को उत्तर दिया :

"विद्यालय की कमेटी की इच्छा चीफ कमिश्नर के हाथ से उद्‌घाटन कराने की है। यदि वह नहीं करना चाहते तो उनकी खुशी की बात है। मैं क्या कर सकता हूं ?"

इसपर कमिश्नर ने मारे क्रोध के टेवल पर जोर से हाथ पटककर कहा :

"आपको सरकार की ओर से रायबहादुरी मिलने के बाद से ही आपने इन लोगों से मिलना-जुलना शुरू किया है।"

जमनालालजी ने कमिश्नर का भाव यों समझा कि पहले तो उन्होंने सरकार से रायबहादुरी ले ली, अब इधर पब्लिक में नाम कमाने की इच्छा से राजनैतिक क्षेत्र में जा पहुंचे। उन्होंने उत्तर दिया :

"मैंने तो रायबहादुरी के लिए सरकार से कभी कहा नहीं। न किसी से कोशिश ही कराई। आपका यह समझना कि रायबहादुरी मिलने के बाद मेरा सम्बन्ध इन लोगों से हुआ है, बिलकुल गलत है। मेरा इन लोगों से बहुत पुराना सम्बन्ध है। यदि आपके सी० आई० डी० वालों ने पहले इस बात की रिपोर्ट न की हो, तो यह आपके डिपार्टमेंट की भूल है। आप जानना चाहें तो मैं अपने कागज-पत्रों से यह साबित कर सकता हूं कि इन लोगों से मेरा सम्बन्ध रायबहादुरी मिलने के बहुत पहले का है।"

"अच्छा, आप कलक्टर से मिलकर समझौता कर लीजिए।"

"इसमें समझौते की तो कोई बात नहीं मालूम होती। जो लोग मेरे यहां ठहरते आये हैं वे फिर भी ठहरेंगे। जब कितने ही सरकारी अफसर, जिनको मैं जानता हूं कि उनमें कइयों के आचरण ठीक नहीं हैं और जिनके लिए मेरे मन में जर्रा-भर भी प्रेम नहीं, मेरे घर पर ठहरते हैं और मुझे उनसे सम्बन्ध रखना पड़ता है, तो जो लोग देश की सेवा करते हैं और जिनका चरित्र ठीक है, केवल राज-नैतिक मतभेद होने पर मैं उन्हें अपने यहां न ठहरने दूं या उनसे सम्बन्ध न रखूं, इसका कोई कारण मेरी समझ में तो नहीं आता। यदि वास्तव में सरकार की यह इच्छा हो तो यह बहुत ज्यादती है।"

इतना कहकर जमनालालजी दुःखी हृदय से कमिश्नर के यहां से उठकर चले आये। उन्हें कमिश्नर पर रोष नहीं आया, पर उसकी मनोवृत्ति पर क्लेश हुआ। जो हो, कमिश्नर ने जमनालालजी का माप ले लिया और जमनालालजी उसमें

पूरे उतरे। जमनालालजी स्वाभाविक मेल-जोल की नीति के आदमी थे। पर कमिश्नर के इस भद्दे बर्ताव से उन्हें सरकारी मेल-जोल से नितांत निराशा हो गई। सरकार का जमनालालजी से मोह टूटा और जमनालालजी ने सरकार को परख लिया। दोनों ओर से मामला साफ हो गया। थोड़ा-सा मेल-जोल जो सरकार और जमनालालजी के बीच था, वह अब जाता रहा। दोनों की राय पूर्व-पश्चिम की थी, तो मेल कहां तक चलता ? जमनालालजी की तो मीरा की-सी हालत थी :

संतन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई,
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई,
'मीरा' प्रभु लगन लागि होनी हो सो होई॥

जमनालालजी को स्वभावतः झगड़े-बखेड़े का जीवन पसन्द न था। वह मूलतः मेल-जोल की नीति के आदमी थे। उन्हें शांति पसन्द थी। लोगों से प्रेम करना उन्हें प्रिय था। राजनीति में उनका प्रवेश यह प्रवेश नहीं था। यों कहना चाहिए कि राजनीति ने उन्हें अपनी ओर घसीट लिया, और इस प्रवेश में उनकी परमार्थ-वृत्ति ने प्रोत्साहन दिया।

"होनी हो सो होई"—कहकर जमनालालजी गहरे पानी में उतर गए और गंगा की धारा के साथ तेजी से बहने लगे।

सन् १९२० में जमनालालजी ने कांग्रेस में पूरे तौर से प्रवेश किया, यद्यपि कांग्रेस में आना-जाना तो उनका पहले से ही था। इसके एक ही वर्ष बाद, अर्थात् १९२१ में, गांधीजी ने अपना असहयोग-आंदोलन प्रारम्भ कर दिया। उस समय जमनालालजी ने अपनी रायबहादुर की उपाधि सरकार को वापस लौटा दी।

आकाश में काले बादल तो, गांधीजी का सहवास हुआ तभी से, मंडराने लगे थे। तभी से उन्होंने समझ लिया था कि सेठ का जीवन निभना अब कठिन है। पर असहयोग-आंदोलन में उन्होंने रायबहादुर की उपाधि सरकार को लौटाकर अपनी निर्भीकता का परिचय तो दिया ही, अपने इस कार्य से उन्होंने सरकार को एक तरह की चुनौती भी दे दी, और इस चुनौती के परिणाम की तैयारी में वह लग गए। घर में रहते-रहते ही उन्होंने जेल-जीवन का अभ्यास शुरू कर दिया। खाना, पीना, सोना, सारा रहन-सहन जेल-जीवन के उपयुक्त बना डाला, जिससे कि उन्हें जेल में कोई कष्ट अनुभव न हो। पर असहयोग-आंदोलन में उन्हें जेल नहीं जाना पड़ा। तो भी सरकार चुप तो थी ही नहीं। जमनालालजी का भविष्य सांचे में ढल चुका था। विधि ने जो दिन निश्चित किया था, उसी दिन उन्हें जेल का निमन्त्रण आने वाला था, और वह आया। उमंग के साथ बन्धु-बांधवों और मित्र-मंडली से विदा लेकर जमनालालजी ने जेल की प्रथम यात्रा की; पर यह

संयोग सन् १९२३ के पहले नहीं आया।

सन् १९२३ में जब महात्माजी जेल में थे और वाहर नेताओं में यह वाद-विवाद चल रहा था कि कौंसिल में जाना या नहीं जाना, और चारों तरफ राजनीतिक क्षेत्र में सन्नाटा-सा छा रहा था, तव जमनालालजी को अपनी सत्याग्रह-वृत्ति की आजमाइश करने का अकस्मात् एक खास संयोग मिल गया। 'जलियांवाला बाग दिन' उन दिनों प्रायः देश-भर में लोग जगह-जगह मनाते थे, और उसके उपलक्ष्य में जुलूस निकालते थे। नागपुर में जव 'जलियांवाला वाग दिन' मनाया गया और जुलूस निकाला गया, तो पुलिस ने नागपुर की सिविल लाइंस में जुलूस के प्रवेश को रोका। सिविल लाइंस कोई खास अंग्रेजों की बस्ती नहीं है। हिन्दुस्तानी, अंग्रेज, हिन्दू, मुसलमान सभी वहां रहते हैं। सड़कों पर से सभी गुजरते हैं। पर कांग्रेस का जुलूस कांग्रेस के झण्डे के साथ वहां से निकला तो अंग्रेजों को क्षोभ होगा, इस विना पर झण्डे के साथ जुलूस का निषेध कर दिया गया। सी०पी० में और भी कई जगह सरकार और प्रजा के वीच झण्डे के सम्बन्ध में वाद-विवाद चल रहा था। पर नागपुर में तो यह झगड़ा अधिक भड़क उठा।

सिविल लाइंस के अंग्रेज वाशिन्दों को झण्डे के वहां से गुजरने-न-गुजरने में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। न उन्होंने झण्डे के खिलाफ कोई शिकायत ही पुलिस के पास भेजी थी। पर पुलिस ने ख्वाहमख्वाह झगड़ा मोल ले लिया। किसी को शिकायत नहीं थी, तो भी पुलिस को राष्ट्रीय झण्डा सहन नहीं था। इसलिए जुलूस को रोक दिया। पर जुलूस तो झण्डे के साथ निकला, और पुलिस ने लाठियां चलाईं, तो भी सत्याग्रही टस-से-मस न हुए।

और फिर तो झण्डे की मान-रक्षा के लिए लोगों में एक नया जोश उमड़ पड़ा। रोज सिविल लाइंस की तरफ झण्डे का जुलूस जाता था और पुलिस रोज जुलूस वालों को पकड़-पकड़कर जेल में ठेलती चली जाती थी। जब जुलूस निकलता था तो आगे-आगे सत्याग्रही चलते, पीछे-पीछे तमाशबीन चलते थे। नागपुर की सिविल लाइंस के पास पहुंचते ही सत्याग्रही तमाशबीनों को रोक देते थे और खुद आगे बढ़ते थे। पुलिस तो अपनी कतार बांधे पहले से ही तैयार रहती थी। वस वहां पहुंचते ही सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर लेती थी।

यह झण्डे का विवाद अकस्मात् ही उत्पन्न हो गया और जमनालालजी को यह अनायास-प्राप्त वखेड़ा अच्छा लगा :

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

जमनालालजी ने अनायास-प्राप्त इस युद्ध का स्वागत किया। शुरू से ही इस सत्याग्रह के संचालन का भार उन्होंने अपने कंधों पर ले लिया और ठाठ के साथ उसे निबाहा।

सरकार ने पहले-पहल तो सत्याग्रहियों को साधारण सजा दी, पर ज्यों-ज्यों संग्राम की अग्नि बढ़ने लगी, त्यों-त्यों सरकार का रुख भी कठोर होता गया। अन्त में काफी तादाद में सत्याग्रही जेल जाने लगे। अन्य प्रान्तों के लोग भी सत्याग्रह के लिए नागपुर आने लगे। अब तो सरकार ने जोर से हल्ला बोलना निश्चय किया और जमनालालजी को भी पकड़ लिया। उनके साथ-साथ २२० अन्य सत्याग्रहियों की भी गिरफ्तारी हुई। जमनालालजी के मुकदमे की कई तारीखें पड़ीं। अन्त में उन्हें १८ मास की कड़ी कैद की सजा हुई।

सत्याग्रह ने अब और भी भीषण रूप धारण किया। करीब १२०० सत्याग्रही जेल जा चुके थे, और जेल जाने वालों का तांता जारी ही था। हर प्रान्त में सहानुभूति उमड़ पड़ी। जमनालालजी की गैरहाजिरी में अब सरदार पटेल ने नागपुर के झण्डा-सत्याग्रह का संचालन अपने कन्धों पर लिया। अब तो इसमें पूरा रंग जम गया। श्रीमती कस्तूर वा भी स्त्रियों का एक बड़ा झुंड लेकर सत्याग्रह में शरीक होने की तैयारी करने लगीं।

अब सरकार की आंखें खुलने लगीं। सरकार से समझ लिया कि आग शान्त करने में ही शान है। पांच महीने के लगातार युद्ध के बाद सरकार ने हार मानी और बिना किसी रोक-टोक के झण्डे सहित सिविल लाइंस में से जुलूस को गुजरने दिया। सब कैदी छूट गए।

इस तरह जमनालालजी के नेतृत्व में झण्डा-सत्याग्रह की जीत हुई और उनका यश:सौरभ चारों ओर फैल गया।

जमनालालजी का महत्त्व अब कांग्रेस की दृष्टि में और भी बढ़ गया। उनकी व्यावहारिकता, विनय और त्याग ने कांग्रेसी नेताओं के दिल पर एक जबरदस्त छाप जमा दी। आगे चलकर जमनालालजी वर्किंग कमेटी में आ गए, और तब से जीवन-पर्यन्त वह वर्किंग कमेटी के मेम्बर रहे। स्वास्थ्य खराब होने की वजह से कई बार उन्होंने वर्किंग कमेटी से निकल जाना चाहा, पर उनके साथियों ने उनका त्याग-पत्र स्वीकार नहीं किया। झण्डा सत्याग्रह के बाद भी कांग्रेस की हर प्रवृत्ति में जमनालालजी शरीक रहे। सन् १९३० के सत्याग्रह में वह फिर जेल गये।

कांग्रेस के हर कार्यक्रम में उनका महत्त्वपूर्ण हिस्सा तो रहता ही था, पर उनकी सब प्रवृत्तियों में जयपुर का सत्याग्रह एक विशिष्ट स्थान रखता है। वह इसलिए कि नागपुर-सत्याग्रह की तरह जयपुर-सत्याग्रह भी उनके एकान्त तत्त्वावधान में चला, और नागपुर-सत्याग्रह की भांति जयपुर-सत्याग्रह भी एक अनायास-प्राप्त प्रसंग था।

४

जमनालालजी का जन्म सीकर राज्य में काशोकावास गांव में हुआ था। सीकर राज्य जयपुर रियासत के अन्तर्गत है। जयपुर की सरकारी नीति के अनुसार सीकर की रियासत को 'सीकर राज्य' नहीं, 'सीकर ठिकाना' कहा जाता है और सीकर के स्वामी को 'राजा' नहीं, पर 'रावराजा' के नाम से पुकारा जाता है। सीकर को थोड़े-से दीवानी और फौजदारी हकूक एक जमाने में प्राप्त थे, जो प्रायः अब जयपुर राज्य ने छीन लिये हैं। अब सीकर का रुतवा ब्रिटिश हिन्दुस्तान के एक जमींदार या ताल्लुकेदार का-सा ही रह गया है। जमनालालजी सीकर की प्रजा और सीकर स्वयं जयपुर की प्रजा। इस तरह जमनालालजी जयपुर की प्रजानुप्रजा अर्थात् प्रजा की भी प्रजा थे।

जमनालालजी यद्यपि पुश्तैनी ब्रिटिश हिन्दुस्तान के वाशिन्दे हो चुके थे, पर वह अपनी जन्मभूमि को भूले नहीं थे और रियासती होने का उन्हें गर्व भी था।

ब्रिटिश भारत में यदि स्वराज्य हो, तो देसी रियासतें स्वराज्य से क्यों वंचित रहें, यह प्रश्न स्वाभाविक ही सबके हृदय में उठ सकता है। पर इसका यथार्थ उत्तर तो वही दे सकते हैं, जो स्वयं देशी राज्य के निवासी हैं। गांधीजी की इस राय को—कि देशी राज्य में स्वराज्य-स्थापना में अधिक प्रवल बाधा तो ब्रिटिश सरकार ही है—जमनालालजी ने अच्छी तरह पचा डाला था। देशी राज्यों में प्रजा-राज्य स्थापित करना हो, तो पहले बड़ी सरकार से लड़ो। पीछे राजाओं का हृदय-परिवर्तन करो। तब कहीं स्वर्गद्वार खुलने की आशा की जा सकती है। इस तरह देशी राज्य एक समस्या बन गए हैं, यहां तक कि ब्रिटिश भारत के स्वराज्य-स्थापन में भी देशी राज्यों का हौआ बाधा-स्वरूप खड़ा कर दिया जाता है।

जमनालालजी सीकर की प्रजा और सीकर जयपुर की प्रजा, और जयपुर ब्रिटिश सरकार के अधीन ! इस त्रिवेणी को पार करें, तब कहीं स्वराज्य, या कम-से-कम सुराज्य, स्थापित हो।

राजपूताने में एक कहावत है कि यदि दो राम हों तो मौत से मुक्ति और दो राजा हों तो मालगुजारी से मुक्ति। यहां तो दो राजा नहीं, तीन राजा थे। पर मालगुजारी से मुक्ति तो दरकिनार, दुचन्द मालगुजारी देने के बाद भी मुक्ति नहीं मिलती थी। दो राम और दो राजा की हस्ती का अनुचित लाभ, यह कहावत जब चली, उस जमाने में, चाहे किसी ने उठाया हो, पर इस समय तो बड़ी सरकार की नीति इस कला के साथ चलती है कि दो राजाओं के कारण पांचों अंगुलियां घी में, प्रजा की नहीं, किन्तु ब्रिटिश सरकार की ही रहती हैं।

देशी रियासतों की इस पेचीदगी से जमनालालजी खूब परिचित थे। उन्हें

अपने सीकर के रावराजा से प्रेम था, और प्रजा की भी वह भलाई चाहते थे। सीकर-रावराजा की वह रक्षा करना चाहते थे। जयपुर-नरेश को वह एक आदर्श और स्वतन्त्र नरेश और पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट की नागफांस से बिलकुल मुक्त देखना चाहते थे। इसी समन्वय के लिए उनकी दौड़ थी, और इसी ध्येय को सामने रखकर उनकी सारी कार्य-व्यवस्था बनती थी।

समय-समय पर उन्हें जयपुर के खिलाफ आवाज भी उठानी पड़ी। पर असल में तो वह विरोध जयपुर-नरेश का नहीं, ब्रिटिश सरकार का ही था। जयपुर-नरेश को तो वह सुरक्षित करना चाहते थे, इसलिए वह नरेश के प्रेम-भाजन भी बने।

जबसे जमनालालजी राजकाजी कामों में पड़े, तभी से उन्होंने देशी रियासतों के कामों में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया था। उदयपुर के अन्तर्गत बिजोलिया में जब सत्याग्रह चला, तो बीच-बचाव करके जमनालालजी ने राजा और प्रजा दोनों का हित साधा। यह समझौता कराने में उन्हें बीकानेर-नरेश से भी सहायता मिली, और अन्त में तो उदयपुर-दरबार और उदयपुर-सचिव ने भी जमनालालजी को उनके इस सफल प्रयत्न के लिए साधुवाद दिया।

पर असल दिलचस्पी तो उनकी जयपुर की राजनीति में थी, क्योंकि जयपुर तो उनका घर था।

यह आश्चर्य की बात है कि जिस जमाने में विद्या और कला की कम चर्चा थी, उस समय तो जयपुर प्रगतिशील रहा हो, और आज जब चारों ओर संसार उन्नति के पथ पर है, तब जयपुर पिछड़ा हुआ हो! पर असलियत यही है। जयपुर-कालेज, कला-विद्यालय, नगर-निर्माण आदि ये उस समय की निशानी हैं कि जब अन्य रियासतें अविद्या के अन्धकार में सोई हुई थीं। पर अब तो हवा बिलकुल उल्टी दिशा में बहने लगी थी।

जयपुर के स्वर्गीय महाराजा माधवसिंहजी प्राचीन विचारशैली के नरेश थे। प्रगतिशील लोगों को उनकी राज्य-प्रणाली में काफी सुधार की गुंजाइश प्रतीत होती थी। पर तो भी किसीको क्षोभ नहीं था, क्योंकि प्रगति की जहां कमी थी, वहां आत्मीयता का अभाव नहीं था।

पर उनकी मृत्यु के बाद तो अंग्रेजों का अमल आ गया। अंग्रेजी अमल में लोगों ने शायद आशा की थी कि कुछ नवीनता का संचार होगा। पर अंग्रेजों के जमाने में कोई सुधार तो हुआ नहीं। जो आत्मीयता वृद्ध नरेश के जमाने में थी, वह भी काफूर हो गई। जिन लोगों का दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध था, वे भी अजनबी-से बन गए। जो जयपुरी थे, उनकी पूछ तो चली गई और बाहर से अनुभव-शून्य मनुष्य आ-आकर ओहदे भरने लगे। प्रजा और राजा के बीच मृदु या कटु, जो भी सम्पर्क था, वह अब विच्छिन्न हो गया। राज-काज दफ्तरों की

चहारदीवारी और परदों की आड़ से चलने लगा। देशी भाषा में जो हिदायतें निकलती थीं, उनका स्थान अव अंग्रेजी ने ले लिया। कचहरियों में अंग्रेजी चलने लगी।

अंग्रेजी सल्तनत के गुणों से तो जयपुर पहले भी वंचित था। अव तो जयपुर अंग्रेजी दुर्गुणों का एक जमघट-सा वन गया। प्रजा में इससे असन्तोष वढ़ने लगा। परिणामस्वरूप, सन् १९३१ में जयपुर राज्य-प्रजा-मण्डल की स्थापना हुई और सन् १९३८ तक तो मंडल ने गहरी जड़ पकड़ ली। इसी वीच सीकर में सीकर-रावराजा और जयपुर-दरवार के दर्म्यान कुछ तनातनी शुरू हो गई, जिसमें दोनों ओर से गोलियां तक चलने की नौवत आई। जमनालालजी सीकर-निवासी थे और रावराजा से उनकी आत्मीयता थी, इसलिए सीकर के मामले में उनका दिलचस्पी लेना स्वाभाविक था। उन्होंने दिलचस्पी ली और वह सार्थक भी हुई। जमनालालजी के वीच-वचाव के कारण सीकर और जयपुर में समझौता हो गया और हजारों मनुष्य खूनखरावी से वच गए।

पर जयपुर के अंग्रेज अमात्य को इससे उलटे असन्तोष हुआ। समझौते का पालन करना तो दूर, उलटे उसने जमनालालजी पर यह पावन्दी लगा दी कि वह जयपुर-राज्य में प्रवेश ही न करें। अनोखा पुरस्कार था यह !

सीकर-समझौते का जयपुर-राज्य ने पालन नहीं किया, इसकी जमनालाल-जी को खूव चोट लगी। जमनालालजी के शब्दों में "यह एक अव्वल दर्जे का विश्वासघात हुआ।" पर अंग्रेज दीवान को जमनालालजी की इस कटु उक्ति की क्या परवा थी ? वह तो दफ्तर की चहारदीवारी के भीतर से शासन चलाता था और जो भी उसे सलाह देने की हिमाकत करे, या प्रजा का पक्ष सुनाये, वह उसकी दृष्टि में वागी वन जाता था। इसलिए जमनालालजी भी इस श्रेणी में आ गए और जयपुर की प्रजा होते हुए भी दीवान ने उन्हें परदेशी की श्रेणी में रखकर देशनिकाले का सिरोपाव वख्श दिया ! विदेशी दीवान तो स्वदेशी से ज्यादा वाकफियत का दावा रखता है, चाहे फिर वह निपट अनाड़ी ही क्यों न हो। वस जमनालालजी पर उसने चटपट वेसमझे पावन्दी लगा दी। सीकर-समझौते का पालन न होने की चोट तो जमनालालजी वरदाश्त भी न कर पाये थे कि उनके प्रवेश-निषेध की यह दूसरी चोट उनपर की गई। अव तो हद हो गई। जयपुर-सत्याग्रह का यहीं से श्रीगणेश हुआ।

जमनालालजी ने जयपुर की इस आज्ञा की यकायक अवज्ञा नहीं की, वल्कि उन्होंने अपना जयपुर का सारा कार्यक्रम एक मरतवा स्थगित करके अंग्रेज दीवान से प्रेमपूर्वक पत्र-व्यवहार करना शुरू किया। समझौते की कोशिश होने लगी। जमनालालजी ने दीवान को लाख समझाया कि उनकी मंशा अच्छी है, उन्हें जयपुर में कोई राजनैतिक उपद्रव नहीं करना है, उन्हें तो रचनात्मक कामों में

रुचि है, लोगों की सेवा करने तथा अकाल में सहायता करने के लिए वह जयपुर जाना चाहते हैं और उनके इस सेवा के कार्यक्रम से तो रियासत का बोझ उलटे हलका ही होगा। पर दीवान पर इन बातों का कोई असर नहीं हुआ। अन्त में जब समझौते का कोई रास्ता नहीं रहा, तब बाध्य होकर जमनालालजी ने जयपुर की इस निषेध-आज्ञा की अवज्ञा करने का निश्चय किया और इस मंशा की इत्तिला भी उन्होंने दीवान को दे दी। अब तो दीवान को भी होश आया। पर तीर तो छूट चुका था।

अन्त में जमनालालजी ने जयपुर की सरहद में प्रवेश किया। दो मरतबा तो जयपुर-राज्य ने उन्हें पकड़-पकड़कर रियासत के बाहर भेज दिया। पर जमनालालजी इस तरह बैठने वाले नहीं थे। अन्त में जयपुर सरकार को उन्हें पकड़ना ही पड़ा, और जयपुर से ९० मील दूर एक निर्जन स्थान में ले जाकर उन्हें कैद कर दिया गया। इस घटना से लोगों में उत्साह उमड़ पड़ा। और भी सत्याग्रही कैदखाने में जाने लगे। कुल ५०० की संख्या में लोग जेल जा चुके थे। जत्थे-के-जत्थे जेल जानेवाले अब अग्रसर होते जा रहे थे। लोगों का जोश बढ़ने लगा।

पर गांधीजी ने इस जोश को बढ़ने नहीं दिया। जेल जानेवालों में सभी तो सत्य के आग्रही थे नहीं। इसका परिणाम मिश्रित भी हो सकता था। गांधीजी ने इन वर्षों में सत्याग्रह की शर्तों को काफी कड़ा बना दिया था, और जयपुर के सत्याग्रहियों से सख्ती के साथ वह इन शर्तों का पालन करवाना चाहते थे। जब उन्हें यह लगा कि सत्याग्रह को आगे चलाने में चरित्र के ढीले लोगों के प्रवेश की आशंका है, तो जयपुर-सत्याग्रह को उन्होंने यकायक स्थगित कर दिया।

"मैं तो अकेले जमनालाल को भेजकर ही सन्तोष मान लेता, पर कुछ लोग और भी जेल में चले गए तो मैंने उसमें कोई आपत्ति नहीं समझी। लेकिन अब अधिक त्याग की आवश्यकता नहीं है। आप लोग पुनः जोरों से रचनात्मक कार्यक्रम में लग जाइए।" इस आदेश के साथ गांधीजी ने शांति का बिगुल बजा दिया और जयपुर-सत्याग्रह को स्थगित कर दिया।

इस प्रकार सत्याग्रह शांत हुआ, पर वह निरर्थक नहीं गया। जमनालालजी छह महीने कारावास में बिताकर अन्त में जेल से छूटे। अंग्रेज दीवान को रुखसत मिली। दूसरा दीवान उसकी जगह आया और प्रजा-मण्डल और राज्य के बीच एक कामचलाऊ-सा समझौता हो गया। प्रजा को स्वराज्य तो नहीं मिला, पर वाणी-स्वातंत्र्य मिल गया। जमनालालजी पर से प्रवेश-निषेध की आज्ञा उठा ली गई। सत्याग्रह तो वाक्-स्वातंत्र्य की बुनियाद पर ही हुआ था। समझौते के अनुसार प्रजा-मंडल की हस्ती कायम रही। जयपुर-राज्य ने इसकी स्वीकारोक्ति दी, और वाक्-स्वातंत्र्य को स्वीकार किया। जमनालालजी का जयपुर-सत्याग्रह इस प्रकार सफल हुआ।

इस सत्याग्रह के बाद जयपुर-नरेश और जमनालालजी में परस्पर काफी प्रेम बढ़ गया। उनका तो शुरू से ही महाराज के प्रति प्रेम था। महाराज ने भी उनके शुद्ध हृदय की कद्र की और इस प्रकार परस्पर की घनिष्ठता बढ़ी। पर इस घनिष्ठता का कोई लाभदायक परिणाम नहीं निकल सका।

वह जितने दिन जयपुर-जेल में रहे, जयपुर सम्बन्धी कुछ-न-कुछ रचनात्मक कार्यों में दिलचस्पी लेते रहे। इसी बीच जेल के भीतर ही बीमार पड़े। डाक्टरों ने उनकी चिकित्सा की, पर जब कुछ विशेष सफलता नहीं मिली तो उन्होंने इन्हें यूरोप जाने की राय दी। जमनालालजी ने कहा :

"मैं तो यहीं पर जनमा हूं और यहीं मरना चाहता हूं। यूरोप की चिकित्सा गरीबों के लिए सुसाध्य नहीं है, तो मैं उसका लाभ कैसे ले सकता हूं? चिकित्सा के लिए विदेश जाने की अपेक्षा तो मुझे यहीं मरना पसन्द है।"

उनकी इस दृढ़ता का जयपुर के अधिकारियों पर अच्छा असर पड़ा और अन्त में उन्होंने जमनालालजी को मुक्ति देने में ही अपना लाभ माना।

जमनालालजी का जयपुर सत्याग्रह इस प्रकार कई दृष्टियों से सफल रहा। प्रजा के स्वत्वों की रक्षा हुई। जयपुर-नरेश के हृदय पर जमनालालजी के प्रेम और त्याग की छाप पड़ी। कार्यकर्त्ताओं को एक शिक्षा मिली। जनता का आत्म-विश्वास बढ़ा।

५

जयपुर-सत्याग्रह समाप्त हुआ तब तो विश्व-महायुद्ध प्रारम्भ हो चुका था। और उसके बाद भी जब गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह हुआ तो उसमें भी जमनालालजी ने हिस्सा लिया और जेल-यात्रा की। जेल में ही उनका स्वास्थ्य ढीला पड़ गया था और इसी बिना पर उनकी रिहाई भी हुई। पर जमनालालजी कब चुप बैठनेवाले थे? जेल जाने लायक उनका स्वास्थ्य नहीं था, यह समझकर वह अब रचनात्मक कामों में जी-जान से कूद पड़े।

जब से उनका गांधीजी से सहवास हुआ, तभी से गांधीजी के रचनात्मक कामों में ऐसा कोई काम नहीं था, जिसमें जमनालालजी का कम या ज्यादा सहयोग और हिस्सा हर काम के आरम्भ से ही न रहा हो। अखिल भारतीय चर्खा संघ की बुनियाद भी उन्हीं के हाथों से पड़ी, ऐसा कहा जा सकता है। तिलक-स्वराज्य फण्ड की एक बड़ी भारी रकम अन्य राजकाजी आतिशबाजी में फूंक दी गई होती, यदि जमनालालजी हठपूर्वक उस रकम को चर्खा-संघ के लिए सुरक्षित न रखते। चर्खा-संघ के स्थापित होने के कई वर्ष बाद तक जमनालालजी उसके अध्यक्ष रहे और उसका संचालन करते रहे।

वर्धा में महिलाश्रम स्थापित करने में उन्हीं की प्रेरणा थी और उसके वह

अध्यक्ष रहे। वर्धा में और भी अनेक रचनात्मक कार्य चलते हैं। मारवाड़ी शिक्षा-मण्डल, मारवाड़ी विद्यार्थी-गृह और कामर्स कालेज तो जमनालालजी की ही कृतियां हैं। राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, ग्रामोद्योग-संघ और बुनियादी तालीमी संघ इत्यादि में भी जमनालालजी का पर्याप्त सहयोग था और इन सब कामों में वह काफी दिलचस्पी लेते थे। और सबसे बड़ा रचनात्मक काम तो उनका यह था कि गांधीजी से आग्रह करके श्री विनोवा को वर्धा लाकर उन्होंने उनसे आश्रम स्थापित करवाया और अन्त में गांधीजी को भी साबरमती से उठाकर वर्धा ले आये। १६३० के सत्याग्रह के बाद जब गांधीजी ने साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम को छोड़ दिया, तब कहां रहना—इस सम्बन्ध में जब विचार होने लगा तो गांधीजी के कई निकटस्थ अनुयायियों ने अपने-अपने प्रांत में उन्हें ले जाना चाहा। पर अन्त में पंचम पुत्र का आग्रह स्वीकृत हुआ और गांधीजी ने वर्धा में स्थायी आश्रम बनाया। गांधीजी के वर्धा आने से जमनालालजी को गांधीजी के निकट-सहवास का लाभ मिलने लगा, और गांधीजी भी वर्धा के सारे रचनात्मक कामों का भार जमनालालजी पर छोड़कर निश्चिन्त-से हो गए।

जमनालालजी का स्वास्थ्य उनके अन्तिम दिनों में जब खराब रहने लगा, तब गांधीजी ने उन्हें विश्राम लेने की राय दी। पर जमनालालजी के लिए विश्राम कहां ? इसलिए तमाम राजकाजी प्रवृत्तियों से हटकर गो-सेवा का कार्य करते हुए उन्होंने अपने अंतिम दिन बिताने का निश्चय किया।

पर उनके लिए यह कोई शौकिया काम नहीं था। जिस काम में जमनालालजी पड़ते, उसमें वह अपना सारा समय एक जबरदस्त लगन के साथ लगा देते थे। न देखते दिन, न देखते रात। स्वास्थ्य को तो भूल ही जाते थे। यद्यपि उनकी तन्दुरुस्ती बिगड़ चुकी थी और गांधीजी ने उनसे विश्राम लेने का काफी आग्रह कर रखा था, पर जमनालालजी तो गो-सेवा-कार्य में ऐसे लगे कि खाते-पीते, सोते-उठते उन्हें एक ही चीज में रस था, और वह चीज थी गो-सेवा-संघ का कार्य। मृत्यु के कुछ ही दिन पहले उन्होंने गो-सेवा और गो-शास्त्र के परिचित विज्ञों की तथा दिलचस्पी लेनेवाले गो-सेवकों की एक परिषद् बुलाई। काफी अच्छे-अच्छे जानकार लोग आये थे। परिषद् का उद्घाटन गांधीजी ने किया और प्रमुख का आसन श्री विनोबा ने सुशोभित किया। दोनों ने अपने व्याख्यानों में जमनालालजी की अस्वस्थता का जिक्र किया। पर जमनालालजी तो गो-सेवा में ऐसे लीन थे कि उन्हें शरीर का कोई खयाल ही न था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब गो-सेवा करते हुए ही उन्हें जीवन बिताना है। गोपुरी—यहां गो-सेवा-संघ की गोशाला है—में ही उन्होंने अपने लिए फूस की झोंपड़ी बना ली और संन्यासी की तरह वहां रहने लगे।

पर ईश्वर को तो कुछ और ही मंजूर था। देह जर्जर हो चुकी थी। अंतिम

मंजिल की रूप-रेखा जो क्षितिज के पट पर धुंधली-सी दिखाई देती थी, वह अब सुस्पष्ट नजर आने लगी। हेतु समाप्त हो चुका था। फिर गोपुरी के फूस के झोंपड़े में निवास क्यों ? गोलोक के विशाल क्षेत्र में ही निवास क्यों नहीं ?

फाल्गुन कृष्ण एकादशी—एकादशी का भी माहात्म्य है—संवत् १९९८ के दिन जमनालालजी की आत्मा ने इस नश्वर शरीर की कैद से निकलकर वृहत् जन-समुदाय के हृदयों में प्रवेश किया।

गांधीजी ने अपना पंचम पुत्र खोया; गरीबों ने अपना हितैषी खोया; वणिक-समाज ने एक वैश्यर्षि खोया; कांग्रेस ने एक खेवट खोया; मुल्क ने एक सेवक खोया; नेताओं ने एक साथी खोया; मित्रों ने एक मित्र खोया; और जानकीदेवी ने अपना सिर-छत्र खोया।

जमनालालजी में न था आलस्य, न था क्रोध; न था विषाद्, न था धन का लोभ। उनमें कर्मण्यता थी। वह स्नेह के आगार थे। व्यावहारिकता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। स्वदेश-प्रेम उनका एक स्वभाव बन गया था। आतिथ्य से वह कभी अघाते न थे। मैत्री करना तो उन्हें आता ही था, निबाहना भी आता था। उनमें विनय थी। उनमें सत्य का हठ था। वह निर्भीक थे। वह सेठ थे और साधु थे।

६

फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन की बात है। दिन ढल रहा था। सूर्य निस्तेज होकर अस्ताचल की ओर धीरे-धीरे जा रहा था। देखता हूं कि वर्धा शहर की ओर से एक लम्बा जुलूस महिला-आश्रम के आगे से गुजरता हुआ गोपुरी के टीले की ओर तेजी के साथ बढ़ रहा है। लोगों के चेहरों पर विषाद् है, पर गांभीर्य भी हैं। जुलूस के लोग मानो अपने संताप को भुलाने के लिए उच्चस्वर से चिल्ला रहे हैं—"सेठ जमनालालजी की जय !" "वन्देमातरम् !"

यह जयनाद क्या था ? क्या लोग मृत्यु के प्रति अपना तिरस्कार और रोष प्रकट करके अपने दिल का जहर निकाल रहे थे ? क्या उभरे हुए उद्वेगों का यह एक परिवर्तित स्वरूप था ? या जमनालालजी के स्वजन, मित्र और बांधवों को उनके कार्यक्षेत्र की ओर से बुलाहट की यह बांग थी ? कुछ ऐसी ही बात थी, क्योंकि यह बांग, मिजराब की तरह, उनके मित्रों के हृदयस्थ तारों को छेड़-छेड़कर उन्हें जमनालालजी का छोड़ा हुआ काम अपने कंधों पर उठा लेने के लिए उकसा रही थी।

जुलूस के बीच बीसियों आदमियों के कंधों पर जमनालालजी सो रहे हैं। उनका शरीर निस्तब्ध है, और महात्मा गांधी के ओढ़ने की चादर से ढका है। पर चेहरा चादर से बाहर है। आंखें बन्द हैं। कोई दुःखी है या कोई जयनाद

करता है, इससे वह अब सदा के लिए विरक्त है।

जुलूस आगे बढ़ा। कांग्रेसी स्वयंसेवकों ने तिरंगा झण्डा लिये हुए कदम-से-कदम मिलाकर, छाती निकाले फुर्ती के साथ चलते हुए, फिर "वन्देमातरम्" की आवाज लगाई। जवाब में स्त्रियों की टोली ने "रामधुन लागी, गोपालधुन लागी" की ध्वनि से आकाश को गुंजा दिया। गोपुरी के टीले और जंगल ने इसकी प्रतिध्वनि की। एक ओर "वन्देमातरम्" की आवाज, दूसरी ओर विषाद और भक्तिमय "रामधुन" की ध्वनि, और तीसरी ओर पहाड़ और जंगल की प्रतिध्वनि, ये सब ध्वनियां तुमुल कोलाहल के साथ मिलकर इस तरह एकरस हो जाती थीं, जैसे बूंदों का संगीत बिजली की कड़कड़ाहट के साथ मिलकर एक-स्वर हो जाता है।

जो कुछ नाद, ध्वनि, प्रतिध्वनि, संगीत या आह लोगों के अवरुद्ध कंठों से निकलती थी, उसका अपना-अपना, न्यारा-न्यारा वैयक्तिक रूप था, और वह वैयक्तिक रूप शायद प्रलय-काल तक जीवित रहे, क्योंकि किसी भी चीज का आत्यंतिक नाश कैसे हो सकता है? पर मनुष्य-इंद्रिय की सीमाबद्ध ग्रहण-शक्ति के कारण कानों को तो एक मिश्रित कोलाहल ही सुनाई देता था, जिसमें जयनाद भी था और आर्तनाद भी।

जुलूस आगे बढ़ा। सबके पांव तो उड़े जा रहे थे गोपुरी की दिशा में, और सब ध्यानमग्न थे जमनालालजी के ध्यान में।

जमनालालजी के न मालूम कितने जुलूस आजतक निकले हैं। पर यह जुलूस उन सब जुलूसों से अनोखा था। उन सब जुलूसों में मोटर में बैठे हुए या बैलगाड़ी में सवार जमनालालजी को लोग नमस्कार करते थे। जमनालालजी प्रत्युत्तर में अभिवादन करते थे। दर्शकों में कोई हितैषी होता था तो कोई होता था द्वेषी। पुलिस भी होती थी, जो अपनी ताक-झांक में ही व्यग्र रहती थी। पर इस जुलूस में कुछ अन्तर था।

इस जुलूस में जमनालालजी समाधिस्थ हैं ईश्वर में, लोग ध्यानावस्थित हैं जमनालालजी में। पुलिस भी है, पर व्यस्त नहीं, संतप्त है। न कोई नमस्कार करता है, न कोई प्रत्युत्तर देता है। पर "जमनालालजी की जय", "वन्देमातरम्" जारी है। जुलूस के दर्शकों में महात्मा गांधी भी हैं।

जुलूस गोपुरी के टीले पर पहुंचा। जमनालालजी लोगों के कन्धों पर से उतरे। अपार जनता ने नश्वर देह का अंतिम दर्शन किया। लोगों की भीड़ ने कुण्डली का आकार धारण कर चिता को चारों ओर से घेर लिया। क्या जिसे हम प्यार करते थे, उसे ही फूंक डालेंगे? किसने ऐसा संकल्प-विकल्प किया होगा?

प्रज्ज्वलित पूला चिता को लगाया गया। चिता भड़क उठी। सूर्य अस्ताचल

में डूब रहा था। पूला लगाते-लगाते तो सूर्य खिन्न होकर अन्तर्धान भी हो गया था।

एकादशी की काली रात्रि के स्वच्छ आकाश में तारों की अगणित फौज चिता की ओर एकटक देख रही थी। क्या वे जमनालालजी के स्वागत की तैयारी में थे? कुछ तारे टिमटिमाकर कुछ सन्देश भेज रहे थे, तो कुछ शांत थे। कृत्तिका मंद गति से अपने निर्दिष्ट मार्ग की ओर वही-सी जा रही थी। पीछे-पीछे शर से घायल मृग अव्यग्र भाव से चला जा रहा था। व्याध भी अपने उग्र तेज के साथ मृगशिरा के पीछे-पीछे अपने नित्य के भ्रमण में रत था। जिस घटना में हम इतने संलग्न थे, ये तारे उससे बिलकुल बेसुध थे और अपने-अपने निर्दिष्ट कार्यों में मस्त थे।

मैंने मन-ही-मन व्याध की ओर ताकते हुए कहा, "ये तारे भी अद्‌भुत हैं। लाखों मनुष्य रोज जन्मते हैं, लाखों मरते हैं। पाप होता है, पुण्य होता है। हानि होती है, लाभ होता है। लोग कहीं रोते, तो कहीं हंसते हैं। कहीं सुख है, तो कहीं दुःख। पर इनपर किंचित् भी असर नहीं होता। रात-दिन अतन्द्रित, एक क्षण के लिए भी ये अपने कामों से विरत नहीं होते। व्याध ने तो केवल टिमटिमा दिया—मानो कहता हो :

"सुनो ! एक राजा मरुत था। उसने देवताओं के राजा इन्द्र को पराजित किया था। उसके राज्य में बिना हल जोते भूमि धान देती थी। वह धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य में बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसका जीवन भी हमने देखा और मृत्यु भी देखी।

"एक राजा सुहोत्र था, जिसके राज्य में वर्षा इस विधि से होती थी कि पृथ्वी सुवर्णमयी हो गई। वैराग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य में वह बड़ा विख्यात था। वह भी मर गया। हमने उसका जीवन देखा और मृत्यु भी देखी।

"एक राजा शिवि था। उसका यश, धर्म और ऐश्वर्य अनुपम था।

"दुष्यन्त-पुत्र राजा भरत था, जिसने गंगा, यमुना और सरस्वती के तीरों पर एक हजार अश्वमेध और एक सौ राजसूय-यज्ञ किये। वह बड़ा तपस्वी था। वह भी मर गया। हमने उसका जीवन भी देखा और मृत्यु भी।

"दशरथ-पुत्र राजा राम थे, जिनके राज्य-काल में सब प्राणी सहस्र वर्ष की आयुवाले और रोग-रहित होते थे। धर्म में रत होते थे, सदा सन्तुष्ट, सत्यव्रती, निर्भय और स्वाधीन होते थे।

सन्तुष्टाः सर्वसिद्धार्थाः निर्भयाः स्वैचारिणः।
नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति॥

"वह राजा राम भी सिधार गए। हमने उनका जीवन भी देखा और अन्त भी।

"राजा भगीरथ हुए, जिनको गंगा ने पिता माना, क्योंकि गंगा के वह जन्मदाता थे। वह भी न रहे।

"राजा दिलीप हुए, जिनके दर्शन-मात्र से लोग पवित्र हो जाते थे। वह भी न रहे।

"राजा मान्धाता हुआ, जिसका राज्य इतना विस्तृत था कि जहां से सूर्य उदय होता था और जहां अस्त होता था, उस क्षेत्र में अन्य किसी राजा का राज्य नहीं था। इसलिए सारी पृथ्वी 'मान्धाता-क्षेत्र' कहलाई। वह भी आया और चला गया। हमने उसका जीवन और मृत्यु दोनों देखे।

"नहुप-पुत्र राजा ययाति था, जो बड़ा ऐश्वर्यशाली था और तप करते-करते अन्त में मरा।

"राजा अम्वरीप था। उसके नीचे दस हजार छोटे-मोटे राजा थे, जो विद्वानों की सेवा में ही लगे रहते थे। वह भी मर गया।

"राजा गया था, जिसने सौ वर्ष तक परोपकार से वचे अन्न को खाकर ही विताये और जव अग्नि ने उसे वरदान देना चाहा तो उसने इतना ही मांगा कि धर्म और सत्य में मेरी अटल श्रद्धा रहे और परोपकार के लिए मेरे पास अक्षय साधन हों।

"महाराज रंतिदेव हुए, जिनका परोपकार जग-प्रख्यात हुआ। वह भी मर गए।

"राजा सगर हुए, जिनके राज्य में भूमि बिना मांगे अन्न देती थी। वृक्ष के हर पत्ते में से शहद टपकता था, यानी मधुमक्खियों के छत्ते होते थे और गौएं कलस-भर दूध देती थीं। वह भी मर गए।

"ध्रुव हुआ, जिसने अपने तप से विष्णु को अपने वश में किया।

"प्रह्लाद हुआ, जिसने सव प्रकार के कष्ट सहे, पर ईश्वर की भक्ति नहीं छोड़ी।

"बलि ने फना होना स्वीकार किया, पर अपने दान की टेक न छोड़ी।

"हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिज्ञा के पालन में बरबादी का सामना किया।

"श्रीकृष्ण हुए, जिन्होंने पाप का क्षय करके पृथ्वी का बोझ हलका किया।

"बुद्ध हुए, जिन्होंने करोड़ों मूक-पशुओं को धर्म के नाम पर कत्ल किये जाने से बचाया और आधी से अधिक दुनिया की मनोवृत्ति को अहिंसा-धर्म की ओर प्रेरा।

"हमने इन सारे दिग्गजों और महापुरुषों का जीवन भी देखा था और मृत्यु भी देखी। इन बड़े-बड़े पुरुषों को भी अन्त में तो चिता पर ही सोना पड़ा। उनका नश्वर शरीर भी अन्त में अग्नि की शरण गया। लोगों ने शोक-संताप भी किया। शोक में विह्वल भी हुए। पर हमने एक क्षण के लिए भी अपना काम नहीं रोका।

क्यों रोकते ? और क्यों संतप्त होते ?

नायमत्यंत संवासो लभ्यते जातु केनचित्।
अपि स्वेन शरीरेण कितान्येन केनचित्॥

"इस जगत् में कोई लम्बे अरसे तक एकसाथ नहीं रह सकता। जब अपना शरीर ही चिरकाल तक अपने साथ नहीं, तो दूसरों का सहवास कैसे रह सकता है ? इसलिए हम अपना काम किये जाते हैं, तुम अपना काम किये जाओ।"

आग ने चिता पर जिह्वा लपलपाना शुरू किया। चारों तरफ घिरे लोगों के चेहरे चिता की रोशनी से रोशन हो उठे। बीच में हवन-कुण्ड है, और चारों तरफ दर्शकगण जमनालालजी के अत्येष्टि-यज्ञ में मानो आहुति दे रहे हैं। पर कोई रोता न था। जितनी ही रुलाई आती थी, उतने ही अधिक शूर के साथ लोग "रामधुन लागी, गोपालधुन लागी" की गगन-भेदी ध्वनि से नारा लगाते थे। विषाद की अवज्ञा का यह भी एक तरीका है।

अमतुस्सलाम कुरान लेकर आगे बढ़ी और फातिहा कहने लगी। फातिहा समाप्त होते ही विनोबाजी ने वेदपाठ किया।

चिता की अग्नि का ताप असह्य होता जाता था। पर जमनालालजी के अंतिम-यज्ञ के दर्शन-लाभ से कोई वंचित रहना नहीं चाहता था। वेदपाठ समाप्त हुआ। गीता का नवां अध्याय विनोबाजी ने शुरू किया। वह समाप्त हुआ।

"विनोबा, वेद-पाठ और गीता-पाठ ने मुझे मुग्ध कर दिया। लोभ मिटता नहीं, इसलिए तुकाराम के अभंग कहो।" गांधीजी ने कहा।

अभंग शुरू हुआ। ईश्वर के ध्यान में सब मस्त थे। यह स्मशान था या अग्नि-होत्र ? सब वेसुध थे। हरिकीर्तन में मस्त थे। न कोई संताप था, न विलाप, न विषाद। भक्ति-रस आंखों से फूट-फूटकर वह रहा था।

भीड़ में से परचुरे शास्त्री हाथ में वेद लिये चिता की ओर बढ़े। एक हाथ में लाठी, एक में वेद। बदन पर केवल एक लंगोट, बाकी शरीर नंग-धड़ंग। परचुरे शास्त्री के नंगे बदन का सन्मुख भाग चिता के प्रकाश में प्रज्ज्वलित था, तो उनकी पीठ तमाच्छादित थी। चिता की किरणें परचुरे शास्त्री के शरीर से टकरा-टकराकर वापस चिता में लौट जाती थीं। चारों ओर सन्नाटा था। चिता तो अपना काम किये ही जाती थी। न जमनालालजी ने जीवित अवस्था में अपनी गति मंद की, न जमनालालजी की चिता ही मंद थी। जोर-जोर से लपटें आकाश की ओर उछलती थीं। लपटों में से चिनगारियां निकल-निकलकर कोई घूमर घालती थीं, कोई फूंरी, तो कोई उछल-उछलकर नृत्य करती थीं।

परचुरे शास्त्री का पाठ जारी था :

सत्यमुग्रस्य बृहतः संस्रवन्ति संस्रवाः।
सं यन्ति रसिनो रसाः पुनानो ब्रह्मणा हर इन्द्रायेन्दो परिस्रवः।

"उस सत्यमय महान् प्रभु के नाना ऐश्वर्य वह रहे हैं। उस आनंदघन के रस उमड़ रहे हैं। हे जीव, तू उस प्रभु को पाने के लिए आगे वढ़।"

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रवः।

"हे पवमान (सवको पवित्र करने वाले) प्रभो! जहां सदा प्रकाश बना रहता है, जिस लोक में सदा सुख बना रहता है, उस अमृत अक्षय लोक में मुझे रख। हे जीव! तू उन ऐश्वर्यवान् प्रभु को प्राप्त करने के लिए आगे वढ़।"

क्या जमनालालजी इसे सुनते थे? क्या जो हो रहा था, उसे देखते थे? अवश्य; क्योंकि जमनालालजी का पुनर्जन्म हो चुका था। जमनालालजी ने अपने मित्रों के शरीर में स्थान कर लिया था। जमनालालजी के पाप, उनके दोष, उनकी कमजोरियां चिता में स्वाहा हो चुके थे। जमनालालजी का उज्ज्वल स्वच्छ चरित्र चिता में से उठकर उनके मित्रों के शरीर में प्रवेश कर गया। जमनालालजी को नया शरीर मिला। उनका पुनर्जन्म हुआ। परचुरे शास्त्री ने जव कहा, "हे जीव, आगे वढ़," तव तो वह जीव सारी प्रजा में, स्वजनों में, मित्रों में व्याप्त हो गया।

चिता तो जलती ही जा रही थी। एक ओर से लकड़ियां खिसक गईं। जमनालालजी का सिर दीखने लगा। जमनालालजी शायद अन्तिम विदाई ले रहे थे। शायद संकेत से कह रहे थे:

मातर्मेदिनि, तात मारुत, सखे तेजः सुबन्धो जल,
भ्रातर्व्योम, निबद्ध एव भवतामेष प्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्संगवशोपजात सुकृतोद्रेक स्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्त समस्त मोहमहिमा लीने परे ब्रह्मणि॥

"हे माता पृथ्वी, हे तात वायु, हे मित्र तेज, हे वांधव जल, हे भाई आकाश, तुम सवको हाथ जोड़कर यह अन्तिम नमस्कार करता हूं। तुम्हारे सत्संग के कारण जो कुछ सत्कर्म उदय हुआ, उसमें से प्राप्त निर्मल ज्ञान से मेरे मोह का तमाम जोर चला गया है और अव मैं सदा के लिए परब्रह्म में लीन होता हूं।"

उपस्थित जनता ने प्रत्युत्तर में जयनाद किया। गोपुरी की जमनालालजी की झोंपड़ी में उपस्थित उनकी गाय ने रंभाकर अपनी अनुमति व्याप्त की। जमनालालजी के शरीर में वास करनेवाली "माता पृथ्वी" पृथ्वी में लीन हो गई। "तात वायु" वायु में, "मित्र तेज" तेज में, "वांधव जल" जल में, और "भाई आकाश" आकाश में लय हो गए, और असल जमनालालजी जनता-स्वरूप ब्रह्म में लीन हो गए। परचुरे शास्त्री का वेद-गान समाप्त हुआ। फिर सन्नाटा छा गया। गांधीजी ने कहा, "अच्छा अव वापस चलो!" मैंने एक आह भरी। और अपने मन-ही-मन कहा:

न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः!

३. महादेव देसाई

महादेवभाई से मेरा परिचय पहले-पहल कब हुआ, यह तो आज मुझे स्मरण भी नहीं है। लम्बे अरसे की घनिष्ठ मैत्री की तह में वह तिथि दब-सी गई है। पर महादेवभाई के मीठे संस्मरणों पर दृष्टिपात करता हूं तो मुझे विश्वास नहीं होता कि वह मर गए—और फिर जब यह पाता हूं कि हमारे लिए वह आज सदा के लिए अप्राप्य हो गए हैं तो एक लम्बी आह निकल पड़ती है। मरण इस जीवन का नैसर्गिक अन्त है और मृत्यु का अंत जीवन ही होगा, ऐसा भी मान लेना चाहिए। पर तो भी स्वजन की—और सो भी सुजन की—मृत्यु अवश्य ही छलकते हुए हृदय पर मुर्दनी-सी छा देती है। तभी तो भर्तृहरि ने कहा है—'पता नहीं, यह जगत् जहर है या अमृत !'

महादेवभाई के संस्मरण लिखना मेरे लिए आसान भी है तो कठिन भी। इतने संस्मरण हैं कि कहां से आरम्भ करूं और कहां अंत करूं, और सारे-के-सारे संस्मरण अत्यन्त सुखदायी हैं। मुझे याद नहीं आता जब महादेवभाई को मैंने रूठा हुआ पाया हो या क्रुद्ध देखा हो। हंसी तो उनके चेहरे पर आठों पहर खेलती रहती थी। महादेवभाई भावुक श्रद्धालु होते हुए भी व्यावहारिक थे। वह हर पल कार्य में तत्पर रहते थे। वह निरालस्य थे। ज्ञान के वह भंडार थे। गम्भीर होते हुए भी मजाक की उनमें कमी नहीं थी। बापू के मंत्रिपद को उन्होंने बड़ी शान के साथ सुशोभित किया और अन्त में बापू की सेवा करते-करते मर गए। राजाजी ने सच कहा है, "महादेवभाई की मृत्यु से बापू अनाथ हो गए हैं।"

किसी एक सम्मानित पुरुष को पत्र लिखते समय महादेवभाई ने लिखा था, "मैं बापू का मंत्री, सेवक और पुत्र का एक सम्मिलित पुलिंदा हूं।" मैंने महादेवभाई को इन तीनों रूपों में देखा है। मुझसे तो महादेवभाई का घनिष्ठ भाईचारा था, अतः मेरे लिए उनका मंत्रित्व कोई खास मानी नहीं रख सकता था। पर तो भी, मेरे पास भी महादेवभाई बापू के मंत्री बनकर आ सकते हैं, इसका एक मरतबा मुझे दिलचस्प अनुभव हुआ और उसके कारण महादेवभाई की योग्यता का मैं और भी कायल हो गया।

बहुत वर्षों की बात है। गांधीजी दिल्ली आये हुए थे और हरिजन-निवास में ठहरे थे। उन्हीं दिनों कवि-सम्राट् टैगोर भी 'विश्वभारती' के लिए धन-संग्रह करने के दौरे पर निकले थे। वह भी दिल्ली आ पहुंचे। कवि-सम्राट् का कार्यक्रम यह था कि जगह-जगह वह अपनी कला का प्रदर्शन करें और बाद में लोगों से धन के लिए प्रार्थना करें। गांधीजी को यह चीज चुभ-सी गई। एक इतना बड़ा पुरुष 'गुरुदेव' इस बुढ़ापे में जगह-जगह धन एकत्र करने के लिए—और सो भी कुल

साठ हजार रुपयों के लिए—अपने नाट्य और नृत्य का प्रदर्शन करें, यह गांधीजी को असह्य लगा। मैं तो गांधीजी से रोज ही मिलता था, पर मुझसे उन्होंने इसका कोई जिक्र नहीं किया। लेकिन उनकी वेदना बढ़ती जाती थी और जब उसे वह बर्दाश्त न कर सके तो महादेवभाई से उन्होंने अपना सारा दर्द बयान किया।

पहर रात बीती थी। मैं अभी सोया नहीं था। सोने की तैयारी में लेट गया था। बत्ती बुझा दी थी। अचानक किसी के पांव की आहट पाकर मैं सचेत हो गया। "कौन है ?" मैंने पूछा। महादेवभाई ने कहा, "मैं हूं।" महादेवभाई चुपचाप मेरे कमरे में आकर मेरी खटिया के पास बैठ गए। "महादेवभाई, तुम ! रात को कैसे ? सब मंगल तो है न ?" "हां, सब मंगल है। कुछ सलाह के लिए आया हूं।" मैं खटिया पर से उठने लगा। महादेवभाई ने कहा, "लेटे रहिये, लेटे-लेटे ही बातें कर लीजिये, उठने की कोई जरूरत नहीं।" मैंने फिर उठना चाहा, पर अन्त में महादेवभाई के आग्रह से लेटा ही रहा। "हां, तो क्या है ? कहो !" मैंने पूछा। बस, फिर तो महादेवभाई का प्रवचन चला। मुझमें शक्ति नहीं कि मैं उसे लिपिबद्ध कर सकूं। जिस ओज और कला के साथ उन्होंने गांधीजी की मर्म-वेदना का चित्र खींचा, वह देखने लायक था। सारा दृश्य मेरी आंखों के सामने नाचने लगा। महादेवभाई की वाणी में भावुकता थी, मृदुता थी और थी तेजस्विता।

गुरुदेव का गुणगान और हमारा दुर्भाग्य कि गुरुदेव को थोड़े-से धन के लिए इस बुढ़ापे में नाचना पड़े तथा बापू की अंतर्वेदना—इन सब चीजों का मर्मस्पर्शी चित्र हृदयंगम करते ही मुझे रुलाई आने लगी।

"बापू ने कहा है कि घनश्यामदास से कहो, वह अपने धनी मित्रों को लिखे कि कुल छह जने दस-दस हजार की रकम गुरुदेव को देकर हिंदुस्तान को इस शर्म से बचा लें और गुरुदेव को निश्चिन्त करके शांतिनिकेतन वापस भेज दें।" महादेवभाई ने अपने अभिभाषण की समाप्ति पर कहा।

"महादेवभाई, बापू की पीड़ा को मैं समझ सकता हूं, पर तुम इतनी रात गये, ठिठुरते जाड़े में, यहां क्यों आये ? बापू स्वयं भी निर्णय कर सकते थे। मैं किसके पास भिक्षा मांगने जाऊं ? बापू से कहो कि जो देना हो, मुझसे मंगा लें और गुरुदेव को दे दें।" मैंने ऐसा कहा तो सही, पर इसका श्रेय तो महादेवभाई को ही था, क्योंकि उनके शांत, पर मार्मिक अभिभाषण ने मेरे लिए दूसरा कोई निर्णय छोड़ा ही न था।

एक चतुर कलाकार मिट्टी के लोंदे को जिस तरह अपनी अंगुलियों की करामात से जी-चाहा रूप दे देता है, उसी तरह महादेवभाई ने लोगों के दिल पर मनमाना असर डालकर उसे अपने अनुकूल बना लेने की शक्ति प्राप्त कर ली थी और वह शक्ति अद्भुत थी। उनकी लेखनी में भी वही ओज था। पर जबान में

भी कम करामात न थी। पारंगत मंत्री को कभी विनम्र तो कभी रूखा, कभी सहनशील तो कभी असहिष्णु, कभी भावुक तो कभी व्यावहारिक बनना पड़ता है। महादेवभाई एक कलाकार की तरह आवश्यकतानुसार इन सब भावों का प्रदर्शन कर सकते थे।

ठक्करबापा जब सत्तरवें वर्ष में पहुंचे तो उनके कुछ मित्रों ने उनकी 'मंगल-सत्तरी' मनाने का निश्चय किया, और वह निश्चय भी नितान्त निर्जीव था। सत्तरी के उपलक्ष्य में सत्तर सौ—यानी सात हजार—रुपया इकट्ठा करना, इतना ही निश्चय था। गांधीजी ने सुना तो कहा, "ठक्कर बापा की सत्तरी में केवल सत्तर सौ ? न तो सत्तर हजार, न सात लाख। कम-से-कम सत्तर हजार तो इकट्ठा करना ही है।" पर सत्तर हजार भी प्रस्तावकों को पहाड़-सा लगा। सत्तरी के दिन नजदीक आने लगे, पर धन एकत्र न हो सका। अन्त में गांधीजी ने महादेवभाई को बंबई भेजा। अब तो धन बरसने लगा और दो दिन में एक लाख बीस हजार एकत्र हो गया।

कुछ साल बीते, गुजरात में अकाल पड़ा। तब फिर गांधीजी ने महादेवभाई को बंबई धन एकत्र करने के लिए भेजा। निश्चय किया था कोई तीन लाख इकट्ठा करना, पर इकट्ठा हो गया कोई सात-आठ लाख। सबसे आश्चर्य तो यह था कि महादेवभाई को ऐसे लोगों से भी अच्छी रकम मिली, जो अपनी कंजूसी के लिए बाजीमार समझे जाते थे।

सचमुच महादेवभाई गांधीजी के महज एक मंत्री ही नहीं, बल्कि एक दूसरे शरीर बन गए थे। गांधीजी के विचारों को उन्होंने इतना पी लिया था और उन्हें इतना हजम कर लिया था कि वह गांधीजी के मंत्री ही नहीं, ऐन मौके पर गांधीजी के सलाहकार और संचालक तक बन बैठते थे।

कुछ ही दिनों पहले एक विलायती अखबार का प्रतिनिधि मौजूदा परिस्थिति पर गांधीजी का एक वक्तव्य लेने के लिए आया। गांधीजी ने खाते-खाते महादेव-भाई को वक्तव्य लिखाना आरंभ किया। मैं देख रहा था कि महादेवभाई की कलम इस सिफ्त के साथ चलती थी कि गांधीजी की जबान से जो भाषा निकलती थी, उससे दो-एक शब्द आगे उनकी कलम निकल जाती थी, अर्थात् गांधीजी अमुक शब्द के बाद किस शब्द का प्रयोग करेंगे, इसका महादेवभाई को अंतर्ज्ञान था, जिसके कारण उनकी लेखनी अपना काम कर चुकती थी। पर जहां गांधीजी की जबान से कोई अनुपयुक्त शब्द निकाला कि महादेवभाई की लेखनी रुक जाती थी। कुछ अपनी नापसंदगी उस शब्द के सम्बन्ध में महादेवभाई जाहिर करते थे, कुछ वाद-विवाद, फिर समझौता और फिर लेखनी का प्रवाह जारी। यह एक दिलचस्प दृश्य होता था। पर इसके अलावा मैंने यह भी देखा है कि गांधीजी गुजराती या हिन्दी में व्याख्यान दे रहे हैं और महादेवभाई प्रेसवालों के लिए

उसका अंग्रेजी में उल्था करते जाते हैं, और कलम गांधीजी की जवान के साथ-साथ दौड़ती जाती है। यह करामात हर मनुष्य में नहीं होती।

गांधीजी के अनन्य उपासक होते हुए भी महादेवभाई के अपने स्वतंत्र विचार थे। गांधीजी के विचारों का विरोध करने की उनमें क्षमता थी। गांधीजी से भिड़ जाने की उनमें शक्ति थी और गांधीजी पर उनका खूब असर पड़ता था। वह कभी-कभी बापू की कड़ी आलोचना करते थे, पर शुद्ध भक्तिपूर्वक। लेकिन जहां गांधीजी ने एक अंतिम निर्णय किया कि वस, महादेवभाई अडिग निश्चय के साथ गांधीजी की योजना में कूद पड़े। संशय-कल्लोल में खेलना उन्हें पसन्द नहीं था।

गांधीजी की चेष्टाओं और वेश-भूषा की महादेवभाई ने कभी नकल नहीं की। उन्हें कभी 'उपगांधी' वनने का शौक पैदा नहीं हुआ। आजीवन वह गांधीजी के अनन्य अनुचर रहे और उनके विचारों को रोम-रोम में भरकर उनके साथ अभिन्न भी हो गए थे।

दो-तीन सालों में कई मरतवा महादेवभाई ने गांधीजी से वहस करके उनके उपवास-सम्वन्धी विचारों पर प्रहार किया। कई मरतवा उन्होंने गांधीजी के उपवास-सम्वन्धी निर्णयों को वदलवाया भी था।

कहां ऐसे मंत्री होते हैं, जो मंत्री भी हों और सलाहकार भी हों, जो सेवक हों और पुत्र भी हों!

शायद सबको इसका पता भी न हो कि महादेवभाई ने कई साल पहले गीता का अंग्रेजी में अत्यन्त प्रामाणिक अनुवाद कुछ टीका के साथ किया था। ज्ञान का भंडार तो महादेवभाई का अनुपम था ही। जितना उन्हें पाश्चात्य दर्शन का ज्ञान था, उतना ही हमारे शास्त्रों का भी था। इसलिए गीता के अनुवाद के वह अवश्य ही शास्त्रीय अधिकारी थे। अपने किये हुए अनुवाद के कई अंश उन्होंने मुझे समय-समय पर सुनाये, जो मुझे अत्यन्त आकर्षक लगे। वह अनुवाद अवतक छपा ही नहीं। कई मरतबा मैंने उन्हें उसे छपाने का तकाजा किया, पर असल बात तो यह थी कि गांधीजी की टहल-चाकरी से उन्हें इस अनुवाद को छपाने की फुर्सत ही नहीं मिली। गांधीजी के सम्वन्ध में समय-समय पर लिखी हुई इतनी टीपें (नोट्स) उनके पास थीं, वे गांधीजी की बृहत् जीवनी के लिए अत्यन्त उपयोगी मसाला हैं। मैं कहा करता था, "महादेवभाई, बापू का बृहत् जीवन-चरित कभी तुम्हें ही लिखना है।" और महादेवभाई बड़े उल्लास के साथ हामी भी भरते थे, पर वह दिन नहीं आया। 'मन-की-मन ही मांहि रही।'

पर महादेवभाई की मृत्यु अचानक हुई है, ऐसी बात नहीं है। काल भगवान् का पहला न्योता तो उन्हें पांच साल पहले ही आ गया था। गांधीजी के अत्यन्त आग्रह से उन्होंने उस समय विश्राम लिया और मृत्यु की भेंट से बचे। राजकोट-प्रकरण के जमाने में फिर उन्हें दूसरा न्योता मिला। इस समय वहां से दिल्ली में

आकर मेरे पास दो महीने रहे और फिर रोग-मुक्त हुए। इसके बाद तो गांधीजी के आग्रह करने पर भी उन्होंने विश्राम लेने से इन्कार किया। आठेक महीने पहले फिर अचानक रोग ने उनपर आक्रमण किया, पर लाख कहने पर भी दो सप्ताह से ज्यादा उन्होंने विश्राम नहीं लिया।

कुछ समय पहले की बात है। जेठ की दोपहरी थी। गांधीजी के साथ कड़ी धूप में चलते-चलते उन्हें बेहोशी आ गई थी। इसका विवरण सुनकर महादेवभाई से मैंने कहा, "महादेवभाई, यह शर्म की बात है कि बूढ़े बापू तो धूप में चल सकें और तुम बेहोश हो जाओ। कुछ दिन मेरे साथ रहकर विश्राम कर लो और सुदृढ़ बन जाओ।"

पर महादेवभाई की दीर्घदृष्टि के सामने कांग्रेस का आन्दोलन था। गांधीजी के उपवास की आशंका थी। इसलिए उनको न थी विश्राम में रुचि, न थी उन्हें फुर्सत। उपवास की आशंका से महादेवभाई काफी त्रस्त थे। उन्होंने मेरे तकाजे के उत्तर में कहा, "मैं तीन महीने भी विश्राम ले लूं, तो भी मैं कहां बापू की बराबरी करने लायक बनूंगा! मुझसे कहां धूप में चला जायगा? मैं कहां लंबी जिंदगी पाऊंगा? अच्छा हो, मैं तो काम करते-करते ही बापू की गोद में सिर टेके मर जाऊं!"

और जैसे भगवान् ने भी कहा—'एवमस्तु!'
कैसा था वह रतन, जो चला गया!

४. ठक्कर बापा

व्यासजी ने कहा था कि करोड़ों पोथियों में जो बताया गया है, वही मैं आधे श्लोक में बता देता हूं—'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।' अर्थात्—परोपकार ही पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना ही पाप है। ठक्कर बापा को केवल इतने ही कथन से पर्याप्त चित्रांकित किया जा सकता है कि इस आधे श्लोक में बताये धर्म को उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह से ओत-प्रोत किया है।

बापा के संसर्ग में मैं किस सन् या तारीख में आया, यह तो मुझे स्मरण नहीं, पर इतना अवश्य याद है कि उस समय उनका अमृतलाल ठक्कर नाम ही चलता था और पिछड़े हुए लोगों की सेवा करना उनका पेशा था। बापा की उपाधि तो उन्हें पीछे से मिली, जो नितान्त सार्थक है।

कहते हैं, ठक्कर बापा गृहस्थ थे और इंजीनियर भी थे। सुना है कि अफ्रीका

में रेल की पटरियां डालने का काम उनके सुपुर्द किया गया था, जिसे उन्होंने अच्छे शऊर के साथ पूरा किया। पर उनकी जीवन-झांकी, रहन-सहन या वेश-भूषा से उनका गृहस्थ होना या इंजीनियर बनकर रेल की पटरियां बिछाना कुछ अनोखा-सा लगता है। ठक्कर बापा के असली माने तो उनके जानकारों के लिए इतना ही है कि वह एक शुद्ध, विनम्र और गरीबों के निःस्वार्थ सेवक हैं, जिनमें न थकान है और न अभिमान। सेवा में विघ्न आने पर उन्हें अवश्य रोष होता है, पर क्षणिक; और लोगों के दुःख से उन्हें चोट लगती है, वह स्थायी। उनकी कोई फिलासफी है तो सेवा की, और भक्ति है तो गरीब, पीड़ितों की।

मेरा गाढ़ सम्बन्ध ठक्कर बापा से हुआ १९३२ में। बापू जब यरवडा में आमरण उपवास की दीक्षा लेकर मृत्यु-शय्या पर लेटे थे, तब हम लोग श्रीअम्बेडकर से बातचीत करके किस तरह हरिजन-गुत्थी को सुलझावें, इस चिन्ता में डूबे पड़े थे। समय बीतता जाता था और बापू का शरीर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर डूबता जा रहा था। कुछ लोग सीटों की खींचतान में थे, जिनपर हम लोगों को रोष आता था। उस समय कितनी सीटें न्यायानुकूल हरिजनों को मिलें, इसका हिसाब निकालने का भार ठक्कर बापा पर रखा गया और उन्होंने इस भार को पक्षपात-रहित होकर उठाया। पूना-पैक्ट का प्राण हरिजनों को दिया हुआ मताधिकार है, जो ठक्कर बापा की कृति है। इस दस्तावेज पर हम लोगों ने आंख मूंदकर हस्ताक्षर किये।

उसके बाद जब 'हरिजन सेवक संघ' गठित करने का प्रस्ताव हुआ और मुझे उसका सभापति बनने का आदेश हुआ, तब इसी शर्त पर मैंने इसे स्वीकार किया कि संघ का मंत्रित्व ठक्कर बापा को सौंपा जाय। सत्रह साल इस तरह ठक्कर बापा के संसर्ग में बीते, जिसकी स्मृति मुझे चिरस्थायी रहेगी।

ठक्कर बापा के सम्बन्ध में अधिक लिखना बेकार है। कागज, कलम और स्याही उनकी कृति का क्या वर्णन दे सकती है! मेरा यह सद्भाग्य है कि मुझे एक साधु का संसर्ग मिला।

५. मणिबेन

किसीके जीवन का चित्र खींचते समय अमुक व्यक्ति कब जन्मा, उसने कब-कब क्या-क्या किया, इस चक्कर में फंसना फिजूल समय गंवाना है, क्योंकि किसी के भी जीवन के सम्बन्ध में जानना तो हमें इतना ही है कि उसमें कौन-कौन-सी

खूवियां थीं, जिनसे कि हम कोई सवक सीखें।

कहने के लिए तो जन्म से मृत्यु तक हर मनुष्य के जीवन में एक अविच्छिन्न श्रृंखला वतायी जाती है, जो हर मंजिल में उसके व्यक्तित्व को व्यक्त करती रहती है। तात्पर्य ऐसा कहने वालों का यह है कि जो व्यक्ति जन्म के समय था, वही जवानी में है और मृत्यु के समय भी वही रहेगा। किसीके मन्तव्य या विश्वास को ठेस लगाना, यह अभिप्राय कदापि नहीं है, पर जो जन्मा था वही युवा और वही वृद्ध होकर मरेगा, यह प्रमाणित करना जरा कठिन है; क्योंकि मनुष्य हर घड़ी और हर अवस्था में सतत वदलता रहता है। ज्यों-ज्यों आयु वीतती है, न तो वह पुराना शरीर ही रहता है और न वह पुराना मन और बुद्धि ही।

आत्मा क्या है? उसे तो हम देख नहीं पाते, इसलिए उसके तर्क-वितर्क में न पड़ना ही अच्छा है। पर इस कथन की भी कोई वुनियाद नहीं कि आत्मा जीवन-भर 'अपरिवर्तनशील' रहती है। कहनेवाले यह भी तो कहते हैं कि आत्मा एक शुद्ध, बुद्ध, अनादि वस्तु है, जो सदा, सब जगह और सबमें एकरस हो व्याप्त रहती है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न नहीं। यदि ऐसा ही हो, तो फिर मनुष्य अपनी निजी आत्मा की अलग हस्ती का दावा भी कैसे करे! इसलिए जिससे हम कल मिले थे, आज भी वह वही है, यह शुद्ध सत्य नहीं कहा जा सकता।

जो हो, प्रस्तुत प्रसंग तो मणिवेन का है और कहना यह है कि वह कव जन्मी, कैसे पली, क्या शिक्षा पाई, उसने कैसे त्याग को अपनाया, ये अनावश्यक प्रश्न हैं; क्योंकि जिस मणिवेन की मैं वात करना चाहता हूं, वह मणिवेन तो वह है, जो इन कुछ सालों में जनता के सामने आई और वह सचमुच एक अद्भुत चरित्रवाली तपस्विनी है, जिसका जोड़ ढूंढ़ना आसान नहीं।

१९४५ की जाड़े की वात है। दिल्ली में कड़ाके की सर्दी पड़ती थी। आकाश स्वच्छ रहता था और दिन में धूप प्रखर होते हुए भी प्रिय लगती थी। उसी जाड़े में सरदार वल्लभभाई पटेल राज-प्रकरण को लेकर दिल्ली आये थे। मणिवेन भी साथ थी। वैसे तो मैं सरदार और मणिवेन दोनों को वर्षों पहले से जानता था, पर १९४५ के वाद के पांच वर्षों में पिता-पुत्री से जो निकट संपर्क हुआ, उसीसे उनके हर पहलू का अध्ययन करने का मुझे विशेष अवसर मिला।

रात को हम लोग रोज कमरा वन्द करके अंगीठी जलाकर तापते थे। सरदार को हम लोगों पर इसी कारण तरस आता था। वह स्वयं तो एक खादी का कुरता और एक गर्म जाकेट में ही कड़ाके की सर्दी का सामना कर लेते थे और मणिबेन की आवश्यकता तो और भी कम थी। खादी की मोटी एक सफेद साड़ी और एक सफेद जाकेट इतना ही उसके लिए पर्याप्त था, चाहे कैसा ही हड़कंप जाड़ा क्यों न पड़ रहा हो।

कुछ-कुछ अधपके बाल, कद की नाटी और वजन की अत्यन्त हलकी, जीर्ण-

काय मणिबेन यदि मुंह पर सफेद पट्टी बांध लेती तो वह जैन साध्वी में भी खप सकती थी। व्यवस्था-प्रिय मणिबेन हर चीज को अपने कमरे में व्यवस्थित रखती थी और सरदार की भी व्यवस्था करती थी। बाप-बेटी समय के इतने पाबन्द थे, मेजबान की सुविधा-असुविधा का उन्हें इतना खयाल रहता था कि उसे संकोच में डाल देते।

सरदार के दिमाग की मशीन हर समय काम करती ही रहती थी। उनको जीर्ण जुकाम की शिकायत सदा बनी रहती थी। इसलिए नाक को रूमाल से बार-बार खुजलाते हुए कमरे में टहलते रहते थे। बैठने की आदत उन्हें कम थी। टहलते-टहलते अचानक कह देते, "बुलाओ अमुक को !" नया आदमी शायद इसका अर्थ भी न समझे। किसे और कहां से बुलाओ ? पर मणिबेन जानती थी कि वह सम्बोधन उसके लिए है और बुलाने के माने हैं अमुक को टेलीफोन पर बुलाना। कभी-कभी टेलीफोन पर आमंत्रित वह सज्जन पूना में होता था, तो कभी बम्बई, कलकत्ता, नागपुर या पेशावर में; पर मणिबेन ने सबके टेलीफोन के नम्बरों की अपने दिमाग में एक पक्की नोंध कर रखी थी, जिसके कारण बिना कुछ हिचकिचाए वह अपने काम पर जम जाती। मेरे मन पर उसकी इस अद्भुत कार्यक्षमता की यह पहली अमिट छाप पड़ी।

मणिबेन के जीवन का क्या लक्ष्य रहा है, सो तो शायद वह भी ठीक तरह से न बता सके, क्योंकि मनुष्य जबतक अपने-आपका अध्ययन नहीं करता, तबतक स्वयं भी नहीं जानता कि वह क्या है। पर एक चीज स्पष्ट है। मणिबेन के जीवन का ध्येय उसका अपना 'पिता' रहा है। सरदार को उनकी छाया भी सूर्यास्त के उपरान्त विश्राम के समय छोड़ देती थी, पर मणिबेन का पहरा रहता था चौबीस घंटे। उसकी नजर सरदार सोते हों या जागते हों, काम करते हों या विश्राम करते हों, हर समय उनपर सजग होकर गड़ी रहती थी और सरदार की हर क्रिया के पीछे प्रच्छन्न रूप से चलती रहती थी। कितनी ही गुप्त मंत्रणा या किसीके साथ निजी मुलाकात ही क्यों न हो, मणिबेन मूर्ति की तरह सरदार के निकट सदा प्रस्तुत रहती थी, जैसे वह सरदार का ही अविच्छिन्न अंग हो।

कानून का तकाजा था कि कैबिनेट-मीटिंग में मंत्री की हैसियत से केवल सरदार ही शरीक हों। इसलिए सरदार कैबिनेट के भीतर अकेले जाते और मणिबेन बाहर बैठ जाती थी। सरदार संसद में जाकर बैठते तो मणिबेन ऊपर गैलरी में जा बैठती। मणिबेन को इसका कोई क्षोभ नहीं था, क्योंकि वह एक तरह से सरदार के पास ही रहती थी। तन न सही, मन तो था ही।

सरदार का नित्य का अभ्यास था कि सुबह शौच-स्नान के बाद टहलने जायं। टहलना उनका तेजी के साथ होता था, तीन मील सुबह और दो-तीन मील शाम को। घर में भी जब कोई काम न हो तो घूमते ही रहते थे। शायद घूमने से उनके

विचारों में चंचलता ज्यादा आ जाती थी। पहाड़ों पर जब जाते तब तो सरदार दोनों वेला पंद्रह-बीस मील का भी चक्कर लगा लेते थे। पर मणिबेन भी इस सब घूम-टहल में अपनी हड्डियों के पिंजर को दौड़ाती हुई साथ ही रहती थी। मुझे आश्चर्य होता था कि इतना कम खानेवाली मणिबेन को बीस मील चलने का यह बल कहां से मिलता था ! अन्न से नहीं, यह उसके दृढ़ मानस से मिलता था। जो हो, इस दौड़ में सरदार से एक कदम, सिर्फ एक ही कदम पीछे, मणिबेन को मैं पाता था।

सरदार को जब से हृदय-रोग का आक्रमण हुआ, तब से उनका टहलना भी चला गया और साथ ही गया मणिबेन का भी टहलना। अब सरदार ने टहलने के बदले केवल मोटर का घूमना जारी रखा। इसके साथ मणिबेन का भी कार्यक्रम बदल गया।

मैं रोज सुबह सरदार के साथ घूमने के लिए उनके घर जाता तो सरदार को पाता स्नानघर में स्नान करते और मणिबेन को स्नानघर के दरवाजे के सामने चर्खा कातते। मणिबेन की एक आंख चरखे पर तो दूसरी आंख रहती थी स्नानघर के दरवाजे पर, और भीतर से पानी की कलकल की, खांसने की या खड़ाऊं की, जो भी आवाज आती, उन सबके संकेत मणिबेन को याद थे। सरदार की हर गति का उसके पास एक कोष था, जो उसे कंठाग्र था और जिसके अर्थ केवल वही जानती थी। पानी की एक तरह की आवाज के माने थे सरदार मुंह धो रहे हैं; दूसरी तरह का शब्द हुआ, अब शरीर पर पानी डाल रहे हैं, अब गमछे से शरीर पोंछते हैं, अब धोती पहनते हैं, तो अब खड़ाऊं की आवाज आई और सरदार स्नानघर से निकलेंगे। बस, मणिबेन का चर्खा बन्द, और सरदार की चप्पल स्नानघर के दरवाजे के सामने जा सजीं। स्वयं उठी कि सरदार निकले। "अच्छा, आ गए चलो," और चली मणिबेन पीछे-पीछे। चर्खे से सूत इतना निकालना कि जिससे निजी और सरदार के सारे कपड़े उसीमें से बन जायं। इतना काम, फिर भी किसी चीज का व्यक्तिक्रम नहीं। ऐसी गजब की रही है मणिबेन !

शारीरिक भोगों का त्याग कइयों ने किया। कइयों के पास भोग की सामग्री ही नहीं थी, फिर भी बिना त्याग किये ही त्यागी कहलाये। पर सरदार ने सचमुच में त्यागा, क्योंकि बैरिस्टरी पास करके उन्होंने संग्रह किया, अंग्रेजी ठाठ का जीवन-क्रम चलाया, बच्चों को पादरियों के स्कूल में भेजकर विद्यारम्भ कराया, पैसे कमाये और फिर त्यागा, और त्यागा तो ऐसा कि फिर मुंह मोड़कर नहीं देखा।

राजसत्ता आई, तो भी उनकी जीवन-शैली में कोई फर्क नहीं पड़ा। वही सादा जीवन, वही रहन-सहन, वही खान-पान और वही वेश-भूषा। पर मणिबेन का त्याग तो और भी उत्कृष्ट; क्योंकि सरदार ने तो भोग करके त्यागा, मणिबेन ने तो भोग को छुआ ही नहीं। इसका मणिबेन को खयाल हो तो अभिमान भी हो,

पर न खयाल है और न अभिमान।

"वीरवल, ला कोई ऐसा नर; पीर, वावर्ची, भिश्ती, खर।" मणिवेन ऐसी ही 'पीर', 'वावर्ची', 'भिश्ती', 'खर' रही है। घर की देखरेख में वावर्ची कहो या चाकर। सफाई तो घर में ऐसी कि कंचन-सा आंगन। धूल खोजने पर भी न मिले। खर्च कम-से-कम, पर राजाओं-महाराजाओं, राजदूतों और मेहमानों को खिलाने-पिलाने में कोई कंजूसी नहीं।

सरदार के साथ संसद में जाकर सरदार के व्याख्यान के नोट ले, सरदार की डाक मणिवेन के हाथों से गुजरे, मुलाकात की नोंध भी मणिवेन रखे और रात को दिन की सारी डायरी लिखे। ऐसी 'पीर', रात को सरदार को सुलाकर पीछे सोये और उनके उठने के पहले उठे। एक ही शरीर में वह सरदार की पुत्री, चाकर, मंत्री, धोवी और अंगरक्षक रही।

सरदार की अंगरक्षा में मणिवेन ने वहुतों को तंग किया, वहुतों को क्षुब्ध किया। कुछ लोगों को अपमानित भी किया। पर मणिवेन को इसका कोई खयाल नहीं, क्योंकि उसने अपनी जान में किसीका अपमान किया ही नहीं। उसकी दृष्टि एकांगी रही और वह थी सरदार की रक्षा।

मणिवेन की पितृ-भक्ति यदि मूक थी, तो सरदार का पुत्री-वात्सल्य भी मूक था। दोनों एक-दूसरे की भक्ति और स्नेह को पहचानते थे और इसकी स्वीकारोक्ति दोनों ही की मूक होती थी। पर मणिवेन एक वार वीमार पड़ी तो सरदार की जवान का ताला टूट पड़ा, "यह मरी, तो मैं मरा..." पर वह तो पहले ही चल दिये।

सरदार जब मृत्यु-शय्या पर पड़े तो मणिवेन ने स्पष्ट जान लिया कि अब उनका अन्त आ गया है। सरदार ने समझ लिया कि अब मृत्यु का द्वार खुल गया है। वह मृत्यु-शय्या पर पड़े गुनगुनाते रहते थे—"मंगल मंदिर खोलो, दयामय!" पर पिता-पुत्री का वह मौन जारी ही रहा। सरदार ने कभी पुत्री से नहीं कहा, "मैं अब जाऊंगा और तुम्हें यह करना है।" और न मणिवेन ने यह पूछा, "तुम्हारे पीछे से कोई आदेश है क्या?" दोनों-के-दोनों ईश्वरवादी ठहरे, सो भविष्य भगवान् को सौंपकर निश्चिंत रहा करते थे। मणिबेन अपने कर्त्तव्य से कभी नहीं घबराई।

"जिस दिन का मुझे डर था, वह अब आ रहा है"—कहकर उसके कुछ आंसू गिर पड़े। मैंने ढाढस देते हुए कहा, "ऐसा क्यों मानती हो?" पर मैं तो एक साल से मानता था कि उनका अन्त आ रहा है।

सरदार १९४५ के जाड़े में दिल्ली आये और १९५० के जाड़े में दिल्ली से उन्होंने अन्तिम विदाई ली। दिल्ली छोड़ने के पहले सरदार ने अपने मित्रों से, एक-एक करके सबसे, आखिरी भेंट की। वह जानते थे कि यह अतन्मि विदा थी, मित्रों

से और दिल्ली से भी। मणिबेन भी यह जानती थी। पर उसने अपना धीरज कभी नहीं खोया। "ईश्वर को जो स्वीकार है वही होगा, इसमें घबराने की क्या बात है"—यह कहकर वह सन्तोष कर लेती। विदा के दिन सरदार को पहुंचाने के लिए हवाई अड्डे पर सब मित्र-बांधव आये थे। सरदार अपने प्लेन के दरवाजे के पास एक कुर्सी पर बैठकर मुस्कराते हुए सबसे नमस्कार करते रहे और विदा लेते रहे मैं उस समय का उनका वह चेहरा भूल नहीं सकता। शरीर अत्यन्त दुर्बल और नितान्त अशक्त हो गया था। चेहरा पीला पड़ गया था। पेट में असह्य पीड़ा थी, पर सरदार मन को कड़ा करके कुर्सी पर बैठे-बैठे मखौल करते जाते थे और हंस-हंसकर सबसे अन्तिम विदा ले रहे थे। उनके पास अब कुछ दिन या घंटे बाकी थे। मणिबेन उनके पीछे खड़ी उनकी अंगरक्षा के ध्यान में शान्त-चित्त निमग्न थी। उसको भविष्य की कोई चिन्ता नहीं थी। बम्बई पहुंचकर सरदार केवल तीन दिन जिन्दा रहे। 'मंगल मंदिर' के द्वार खुल गए।

पर सरदार के प्राण निकले, तब भी मणिबेन ने अपना विवेक अक्षुण्ण रखा। दर्शकों की एक बड़ी भीड़ बिड़ला-हाउस में घुस आई और हर कमरे में आदमी घुस गए। व्यवस्था-प्रिय मणिबेन को यह अव्यवस्था अखरी। सरदार के मृत शरीर को छोड़कर व्यवस्था में लग गई। जब मित्रों ने कहा, "सरदार का दाह चौपाटी पर होना चाहिए," तो उसने कहा, "मेरी दादी सोनापुर गई। बम्बई का हर गरीब सोनापुर जाता है, मेरा बाप भी और कहां जायगा !" फिर भी मित्रों ने आग्रह किया, पर मणिबेन अचल रही। आखिर दाह चौपाटी में न होकर, सोनापुर में ही हुआ।

कथाओं में पिता-भक्त पुत्र मिलते हैं। राम तो थे ही और श्रवणकुमार भी उसी श्रेणी के थे। पति-परायणा सावित्री, सीता और अनेक देवियां इस देश में हो गईं। भाइयों में भरत का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। तुलसीदास ने कहा है, "जो न होत जग जनम भरत को, सकल धरम धुर धरनि धरत को !" किन्तु पिता पर अनन्य निष्ठा रखनेवाली कुमारी मणिबेन-जैसी कोई दूसरी नहीं सुनी।

कल्पना भी एक अजीब चीज है। सरदार यदि गांधीजी से न मिले होते और अपना साहबी ठाठ न छोड़ते तो क्या ? मणिबेन भी शायद इंग्लैंड में जाकर पढ़ती, और जैसे अन्य सम्पत्तिशाली लोगों की पुत्रियां अन्त में शादी करके अपना गृहस्थ-स्थापन करती हैं, वैसे ही वह भी करती। पर इससे देश को क्या मिलता ! असलियत तो यह है :

> **अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।**
> **विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥**
> **न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः॥**

इस संसार का गाड़ा अकस्मात् चलता है, चाहे उसे दैव कहें या ईश्वर !

६. हीरा

वैसे तो मेरे जन्म के करीब पैंतीस साल पहले से हीरा हमारे यहां नौकर था, पर जव मैं तीन साल का हुआ, तभी से मैं उसे पहचानने लगा। शायद इससे पहले मैं उसे पहचानने लगा होऊं, पर उसकी आज मुझे कोई स्मृति नहीं है। इस हिसाब से मेरे लिए तो हीरा का जन्म उसी समय हुआ जबकि मैं तीन साल का था, हालांकि हीरा मुझसे करीब वावन वर्ष बड़ा था।

तो हीरा को जब मैंने पहले-पहल जाना, उस समय मुझपर उसकी क्या छाप पड़ी, यह वताना मेरे लिए टेढ़ा काम है। पर प्रयत्न करता हूं तो मुझे फिर एक मरतवा उस सुदूर और धुंधले अतीत में प्रवेश करना पड़ता है और प्रवेश करने पर मुझे लगता है कि मैं एक ऐसे स्थान में पहुंच गया हूं, जहां चारों ओर केवल कुहरा-ही-कुहरा है। दस कदम के बाद तो—यदि हम काल को भी कदम से नापें तो—एक ऐसा प्रगाढ़, पर स्वच्छ और धवल अन्धकार है, जो लाख कोशिश करने पर भी हमारे स्थूल और सूक्ष्म चक्षुओं को विलकुल अंधे बनाये रखता है। पर यदि हम एक कदम आगे देखने का प्रयत्न करें तो सिवा धुंधलेपन के और कोई चीज सामने—अत्यन्त सामने—खड़ी है, उसे भी—जैसी है वैसी देखने के लिए—आंखें फाड़-फाड़कर एकटक देखता हूं तो भी उसकी रूप-रेखा स्पष्ट नहीं दिखाई देती। ऐसे उस सुदूर अतीत में दृष्टि बेकार बन जाती है।

पर जो चित्र आंखों पर उस समय खिंच गया है, वह एक ऐसे फोटो की तरह है, जो किसी अनाड़ी चित्रकार ने खींचा हो और जिसे खींचने में न तो उस चित्रकार ने कैमरे की दृष्टि को ठीक एकाग्र किया हो और न रोशनी ही सही दी हो। हम लाख उस चित्र की रूप-रेखा दुरुस्त करने की कोशिश करें, पर हमें उसमें कामयावी नहीं होती। उस अतीत काल की स्मृति की एक ऐसे सपने से भी तुलना की जा सकती है, जो जिस समय आता है, उस समय तो साफ-सुथरा—सामने मानो नाटक खेला जाता हो और उस नाटक में हम भी अभिनय करते हों—ऐसा लगता है; पर आंखें खुलते ही स्मृति फीकी पड़ने लगती है और जब हम संसार के कोलाहल और दिन की धक्कामुक्की में फंस जाते हैं तब तो वह चित्र हमारी आंखों से विलकुल गायब हो जाता है।

वाल्यकाल के कच्चे दिमाग पर खिंचा हीरा का वह धुंधला-सा चित्र, रूप-रेखा सारी अस्पष्ट और ऊपर समय की रफ्तार की घिसावट।

समय की रफ्तार तो मानो रात-दिन का अविच्छिन्न प्रपात। रही-सही रूप-रेखाओं को और भी धुंधला बना दिया। पर हीरा का चित्र तो फिर भी सामने खड़ा ही रहा। और जो चित्र पहले-पहल अस्पष्ट रूप से दिमाग के पटल

पर पड़ा, वह फिर ज्यों-ज्यों पटल-चित्र आगे चला, स्पष्ट बनता गया और बाद के चित्र ने पहले के चित्र की रूप-रेखाओं को स्पष्ट करने में सहायता पहुंचाई। इस तरह हीरा का चित्र सुस्पष्ट बन गया।

मैं बता चुका हूं कि हीरा, जब उसे मैंने पहले-पहल जाना, तबतक बावन साल का हो चुका था और करीब पैंतीस साल हमारे यहां नौकरी करते भी उसे हो गए थे। मैंने बाद में सुना कि हीरा के मां-बाप उसके बचपन में ही मर गए थे और वह बचपन से ही हमारे यहां आकर नौकरी करने लगा था। हीरा को अपने बाल्यकाल की कोई स्मृति नहीं थी, पर उसका खयाल था कि उसके मां-बाप संवत् १६०० के भयंकर दुर्भिक्ष में बिना अन्न के, भूख के मारे, मर गए थे।

सं० १६०० और १६०१ ये दोनों साल अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष के थे। सुना है, इन दोनों सालों में राजपूताना में लाखों मनुष्य, बिना रोटी, कुत्ते की मौत मर गए। चूंकि ये दोनों दुर्भिक्ष एक के बाद एक सटे आये, इसलिए लोगों ने इनका नाम 'सैंया' और 'भैया' रखा। संवत् १६०० के दुर्भिक्ष का नाम पड़ा 'सैंया' और संवत् १६०१ के दुर्भिक्ष का नाम 'भैया' पड़ा। इनकी भीषणता का खयाल दिलाने के लिए लोग आज भी गीतिका 'चाकी चाले रे सैंया, माणस बोले रे भैया' गाते हैं, अर्थात् सैंया और भैया की भीषणता के बाद "चक्की चलती है या तो मनुष्य अब भी बोल रहे हैं।" ऐसा कथन भी आश्चर्यजनक माना गया। हीरा का खयाल था कि इन्हीं अकालों में उसके मां-बाप मर गए, और सुना कि हीरा की नौकरी पहले-पहल हमारे यहां केवल एक रुपया माहवार थी। पर जब मैंने उसे जाना तब तो एक रुपया, खाने को रोटी और पहनने को कपड़ा भी मिलने लगा था। शादी तो हीरा ने की ही नहीं। मां-बाप तो रहे ही नहीं। इसलिए हमारे कुटुम्ब को छोड़कर हीरा के लिए और कोई ममत्व का स्थान नहीं रह गया था। हमारे कुटुम्ब को ही उसने आश्रय का स्थान माना और अन्त तक ऐसा ही मानता रहा।

जब मैंने पहले-पहल हीरा को देखा, तब वह साठी के नजदीक पहुंच रहा था। बाल उसके किरड़काबरे हो चले थे। पर हीरा के मन में बुढ़ापे ने प्रवेश नहीं किया था। उसे अपने व्यक्तित्व का तो अभिमान था ही, उत्साह, उमंग और आशा की भी उसमें कमी नहीं थी।

हमारे यहां उस जमाने में दो ऊंट थे। अकस्मात् प्रायः एक ऊंट काले रंग का रहता था और एक सफेद रंग का। काले को हम लोग कालिया ऊंट और सफेद को धोलिया ऊंट कहते थे। हीरा को ऊंटों का प्यार, यह वर्णनातीत वस्तु है। उसकी थाह तो, हीरा को ऊंटों की सार-संभाल करते जिन्होंने देखा है, वे ही जानते हैं। पर मैंने यह देखा कि उन दो ऊंटों में हीरा का ममत्व धोलिये पर ज्यादा रहा करता था। इसका कारण भी था। धोलिया ऊंट और यह भी अक-

स्मात् तेजस्वी और आकरे स्वभाव का होता था और हीरा को इसका खूब गर्व था; क्योंकि ऐसे ऊंट हर टोले में नहीं जन्मते थे। हीरा का ऊंट और ऊंटों से कुछ भिन्न है, उसकी अपनी अलग शान है, यह प्रकट करने में हीरा कभी नहीं चूकता था। इसलिए वह जब ऊंट पर सवार होता था तो बेतकल्लुफी से नहीं। शायद उसने माना हो कि ऐसा करना यह धोलिये-जैसे प्रतिष्ठित ऊंट के लिए अपमान होगा। इसलिए ऊंट पर चढ़ने से पहले गाढ़े का पाजामा और नैनसुख की (और अगर जाड़े का मौसम हो तो रुईदार) कमरी, पांवों में चोवदार ज़री की मोचड़ी, एक पांव में चांदी का छैलकड़ा और तांती, कमर में तलवार और बगल में सींगसाज—इन सब चीजों से सिंगरकर ही हीरा ऊंट पर चढ़ता था, और सींगसाज भी पूरे दुरुस्त। कूपी में बारूद, बटुए में पंटाखा और दूसरे बटुए में शीशे की दस-बीस गोलियां। बन्दूक भरी, सिर्फ दागने-भर की देर। दाढ़ी बीच में फांटकर, आधी एक कान पर से और आधी दूसरे कान पर से और कान के इर्द-गिर्द अढ़ाई आंटे (यह माप भी हीरा ने बताया था) देकर बांधी हुई। कानों में सोने की बीरबली और गले में हनुमानजी की मूर्ति की सोने की तख्ती। दाढ़ी पर जाड़िया। सिर पर साफा और साफे पर चद्दर का दुमाला मारे हुए।

इस साजबाज के साथ हीरा की शक्ल एक योद्धा की-सी लगनी चाहिए थी। पर अफसोस कि हीरा का कद ठिगना था, शरीर हलका। इसलिए लाख कोशिश करने पर भी हीरा जरा-सा 'माणसा' लगता था, और ऊपर से यह दूसरा अफसोस कि हीरा राजपूत न था, जाट था। हीरा अपनी जात को बाहर अनजाने लोगों के सामने छिपाता भी था, पर लोग ताड़ जाते थे। इसका हीरा को दुःख था। फिर भी अपनी शान बताने में हीरा को कभी आलस्य नहीं होता था। और इस वेश-भूषा से सजने का भी शायद यही कारण था कि हीरा अपने गर्व को छिपाना नहीं चाहता था। पर एक बात का हीरा का गर्व बिलकुल सही था—धोलिया-जैसा ऊंट चोखले-भर में ढिंढोरा फेरने से भी मिलना असम्भव था। इसलिए जब हीरा ऊंट पर चढ़ता था, तब वह सातवें आसमान पर पहुंच जाता था।

वैसे तो धोलिया ऊंट हजारों में भी नहीं छिप सकता था, पर ऊंट की ख्याति छिपी न रह जाय, इसके लिए हीरा अहर्निश सावधान रहता था। इसलिए जब ऊंट पर चढ़ने का समय आता था तब तो हीरा के लिए सवारी एक असाधारण कृत्य बन जाता था। ऊंट की गोडी बांधकर जब वह कूंची कसने की तैयारी करता, तो पहले ऊंट का मिजाज गरम करने के लिए वह ऊंट पर दो बेंत जोर से फटकार ही देता था। बस, इतना किया कि ऊंट ने शुरू किया अरड़ाना। यह तो मानो लोगों को इकट्ठा करने का आह्वान था। सटक-सटक काम छोड़-छोड़कर लोग हीरा के इर्द-गिर्द आ जमते थे, क्योंकि हीरा का ऊंट पर चढ़ना यह एक

देखने लायक दृश्य होता था। ऊंट भी तो लाजवाब था। ऊंट की पीठ पर पान कटे हुए। उसके पहनने को नया मोहरा और वेलचा। उसके गले में कौड़ियों की पट्टी। नाकों में चांदी की बाली और गिरवाण। कूंची के थड़े बनाती। पागड़े पीतल के, ऊपर लाल मजीठ की खोली चढ़ी हुई। पूंछ बंधी हुई। कूंची पर सफेद स्वच्छ गद्दी। इस शान का ऊंट! और वह शान हीरे की! और ऊपर से यह सजावट!

जब कूंची मांडी जा चुकती थी तब हीरा ऊंट को ठोकर मारकर खड़ा करता था। इसपर तो ऊंट और भी उग्र हो उठता था। अरड़ाना तो जोरों के साथ जारी था ही। उधर मींगणे और तरड़ा फेंकना भी बेतरह शुरू हो जाता था। हो-हल्ला सुनकर गांव के और भी लड़के आ जमते थे। यह सब क्रिया हो चुकने पर हीरा ऊंट को गांव के बाहर ले जाकर सवार होता था। एक आदमी ऊंट की गोडी दबाकर हीरा को सवारी करने में सहायता देता था। हीरा सवार हुआ कि ऊंट फलांग मारकर जोर से उछलता था।

उस समय हीरा का अभिनय तो कमाल का होता था। एक तरफ तो ऊंट को मानो वह किसी जिद्दी, अड़ियल, उग्र लड़के को शांत करता हो, इस तरह प्यार से सम्बोधन करता था, दूसरी ओर नकेल खींचकर ऊंट को रोकता था, तो तीसरी ओर ऊंट को छिपी ठोकर मारकर उसे दौड़ाने के लिए उकसाता था। इन तीन परस्पर-विरोधी क्रियाओं का ऊंट पर तो एक ही असर पड़ता था। आखिर ऊंट तो पशु ठहरा, और सो भी गंवार पशु। तो फिर हीरा के दुलार के सम्बोधन को ग्रहण करना उसके मस्तिष्क के बूते के बाहर की बात थी। हीरा इसे जानता भी था, पर हीरा की भाषा तो दर्शकों के लिए थी, और ठोकर ऊंट के लिए। मोहरी खींचने का तात्पर्य यह था कि लोग समझें कि ऊंट हीरा के लाख शांत करने पर उड़ जाना चाहता है और हीरा-जैसा उस्ताद चाबुक-सवार ही इसकी पीठ पर टिक सकता है।

पर इसके माने यह नहीं कि हीरा कोई साधारण सवार था, या उसका ऊंट कोई साधारण ऊंट था, क्योंकि हीरा ने कई बार सुबह से शाम तक साठ कोस की मंजिल आसानी से तय की थी।

और जितनी हीरा की चाबुक-सवारी, उतना ही उसका भूगोल का ज्ञान। हीरा दो-चार मरतबा तो पिलानी से अहमदाबाद तक ऊंट पर ही जा चुका था। पर दो बेर जाने-मात्र से तो किसीको रास्ते का पूरा ज्ञान नहीं हो जाता, लेकिन हीरा की यह खूबी थी कि पिलानी से अहमदाबाद पहुंचने में कौन-कौन-से गांव से गुजरना पड़ता है, यह सब भूगोल, सविस्तार पचास साल के बाद भी, उसकी जीभ के अग्रभाग पर जमा पड़ा था। सौ-सवा सौ कोस की परिधि में तो ऐसा कोई शहर या गांव नहीं, जिसके पहुंचने के रास्ते का ज्ञान हीरा को न हो। "यहां से

दो कोस पर फलां गांव, उसे वाएं छोड़ देना। फिर फलां जोहड़ आ जायगा। उसके वाद एक कुआं, फिर एक ऊंची भर..." यह हीरा का रास्ता वताने का तरीका था। हीरा जहां नहीं गया, वहां उसने सुनकर उस स्थान का भूगोल जिह्वाग्र कर लिया था। इसी तरह हीरा वहुश्रुत भी वन गया था।

पर हीरा के दिल में एक तमन्ना थी। उस जमाने में चोर-धाड़ियों का खूब उपद्रव था। हीरा चाहता था कि कभी उसकी धाड़ियों से मुठभेड़ हो। हीरा का ऊंट तो हवा से वातें करनेवाला था ही। उसकी वन्दूक भी हाजिर-जवाब। घोड़ा दवाने-भर की देर थी। लोग कहते थे कि हीरा का शरीर चाहे छोटा हो, पर उसकी वन्दूक कभी धोखा नहीं देगी। हीरा का दावा यह था कि वह एक चुस्त निशानेवाज है। पर उसने निशाने मारने के लिए एक बड़े घड़े से, जो दो-तीन फुट लम्वा-चौड़ा हो, छोटे निशान का कभी उपयोग नहीं किया, और हीरा निशाना मारने के लिए भी तो दस-पन्द्रह कदम पर ही वैठता था। जब गोली की चोट से घड़ा चूर-चूर हो जाता था तव तो हीरा मुलकता हुआ उठकर सवकी तरफ गर्व से ताकता था, मानो कहता हो—"वताओ है कोई ऐसा निशानेवाज !"

और एक दिन कुछ वन्दूकचियों से उसने वाजी मार भी ली। हीरा ने अपने साथियों को ललकार दी कि निकाले कोई लोहे के कड़ाहे में से गोली। यह करतव न तो निशाने की अचूकता का द्योतक था, न हीरा की ताकत का प्रमाण। पर लोगों ने इस चुनौती को झेला। दंगल में हीरा की गोली तो दनदनाती हुई लोहे के कड़ाहे को छेद गई। औरों की गोलियां चिपटी होकर कड़ाहे से टकराकर गिर गईं। प्रतिपक्षियों के चेहरे उतर गए। हीरा की छाती फूलकर सवा गज चौड़ी हो गई। कहनेवालों ने हीरा के विरुद्ध विश्लेषण करने की कोशिश की, पर इतना तो सावित हो गया कि हीरा की वन्दूक पूरी फरमावरदार है और मौके पर काम देगी। हीरा में आत्मविश्वास की कमी तो थी नहीं। ऊंट और वन्दूक, इन दो के जोर पर हीरा यह मिन्नतें मानता था कि उसे डाकू मिलें, और अन्त में डाकू मिले भी, पर हीरा की हार हुई। लेकिन जिन दो चीजों पर हीरा का विश्वास था, उन्होंने दगा नहीं दी। गीता में कहा है :

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥

हर काम में क्षेत्र, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएं और पांचवां दैव, ये पांच हेतु होते हैं। मालूम होता है कि इन साधनों में से कइयों ने तो हीरा के खिलाफ षड्यन्त्र ही कर लिया था कि उसका मान-मर्दन हो।

बात थी भिवानी के रास्ते की। कलकत्ते से एक सज्जन आ रहे थे, जो वीमार थे। उन दिनों पिलानी का रेलवे-स्टेशन था भिवानी। ये सज्जन भिवानी उतरनेवाले थे और वहां से उन्हें पिलानी आना था। हीरा को भेजा गया उन्हें

भिवानी से पिलानी ले आने के लिए। भिवानी ठंहरा अंग्रेजी इलाके में। इसलिए बिना पास कोई हथियार नहीं ले जा सकता था। हीरा ने लाख कोशिश की कि बन्दूक का पास मंगा लिया जाय, पर सब लोगों ने कह दिया—"क्या डर है, ऐसे ही चले जाओ।" बन्दूक हीरा की विश्वस्त संगिनी थी। वह उसे छोड़कर अकेला नहीं जाना चाहता था, पर लाचारी !

हीरा बिना बन्दूक के गया सही, पर उसका मन उन्मना था। हीरा ने पीछे बताया कि जब वह सवार होकर भिवानी की ओर चला, तब रास्ते में उसे बिना तिलक-तोंदवाला ब्राह्मण मिला। खुले केशवाली स्त्री, सो भी विधवा, मिली। घड़ेवाले के पास घड़ा रीता था। सोनचिड़ी बाएं आ बैठी। गदहा दाहिने बोला। हरिन दाहिने से बाईं ओर निकल गया और एक सुनार भी तो मिला। पर कर्त्तव्यवश हीरा ने इन सबकी अवहेलना की।

हीरा भिवानी पहुंचा और उन सज्जन को सुबह गजरदम ऊंट पर पिछले आसन पर बैठाकर पिलानी की ओर चला। हीरा का कहना था कि जब भिवानी से चला तब भी सारे अपशकुन हुए और बायां अंग भी फड़का। सुबह पौ फटते-फटते हीरा इन्दोखले जोहड़ के पास पहुंचा और उसने देखा कि सात ऊंट, उन-पर चौदह जवान, सबके पास बड़े-बड़े लट्ठ, हीरा के ऊंट को चारों ओर से घेर रहे हैं। हीरा ने देख लिया कि दाल में काला है, पर तो भी उसने ललकारकर डाकुओं से कहा, "माई के लालो, मंशा तुम्हारी खराब मालूम होती है। क्या बात है ?" उन्होंने कहा, "हमारे ऊंट खो गए हैं, उनकी खोजों के पीछे हम आये हैं।" हीरा को विश्वास नहीं हुआ। पिछले आसन पर बैठे सज्जन से हीरा ने कहा, "भरोसा एक ही है, वह है मेरा ऊंट। एड़ मारने-भर की देर है, फिर तो ऊंट उड़ेगा। आप सावधान होकर मेरी पीठ से चिपक जाइये और मैं ऊंट को टिचकारी देता हूं। इस ऊंट को कोई नहीं पहुंच सकता।" पर पीछेवाले सज्जन ने कहा, "हीराजी, मैं इतना बीमार हूं कि ऊंट ने जरा भी तेजी दिखाई कि मैं धम से नीचे गिरूंगा। इसलिए मेरे प्राण जायं, इससे तो बेहतर है कि हम लुट जायं।"

हीरा ने देख लिया कि बस होनहार बलवान है। उसने अपना लट्ठ संभाला। ऊंट पर से कूदा और ललकारा डाकुओं को ही। हीरा का बूता ही क्या था ! छोटा-सा शरीर। उसने लाठी का वार किया, एक-दो लाठी चलाई भी, पर दो-एक लट्ठ हीरा के सिर पर लगे कि हीरा जमींदोज हो गया। डाकू ऊंट ले गए।

हीरा के सदमे का क्या ठिकाना ! बन्दूक पीछे रह गई। ऊंट धाड़ी ले गए।

जबतक हीरा जिन्दा रहा, तबतक इस रासे को वीर और करुण में वर्णन करता ही रहा। इस कथा को कहते-कहते हीरा रो भी देता था। पर वह कभी थकता न था। क्या तमन्ना थी और कैसा हुआ अन्त ! हीरा का दिल टूक-टूक

हो गया। हीरा फिर भी ऊंटों पर चढ़ा, बन्दूक भी लटकाई, पर उसका दिल तो टूट चुका था। लोग भी तो ताना मारने से कहां बाज आते थे, पर हीरा को रह-रहकर पछतावा होता था, "मैंने बन्दूक साथ क्यों न ली ? मैंने ऊंट को टिचकारी क्यों न दी ?"

इसके बाद हीरा कुछ ही साल और ऊंट पर चढ़ा। वैसे भी साठी पार कर चुका था, और ऊपर से प्रतिष्ठा का भंग। इस घटना के बाद भी ऊंटों पर कई बार भिवानी गया-आया, पर उदासी के साथ। जब-जब वह इन्दोखले जोहड़े में से निकलता था तो अपना बखान करते-करते वह रो देता था। वह लाख लोगों को समझाये, पर हीरा ने शिकस्त खाई, इस कथन को कौन मेट सकता था ! हीरा कवि न था, पर इन्दोखले जोहड़े की तरफ मुंह करते ही उसका दिल कह देता था :

मत नाव उधर लेजा मांझी, उस घाट को मैं पहचानता हूं;
फूंकी थी वहीं पर मैंने चिता अपनी मरहूम तमन्ना की।

हीरा ने समझ लिया कि अब ऊंटों की सवारी में कोई लुत्फ नहीं, और हीरा ऐसा आदमी भी नहीं जो अपने क्षेत्र में स्वल्प श्रेष्ठ होकर रहे। वह तो था गर्वीला। सर्वश्रेष्ठ होकर ही रहना चाहता था। "अबतक तो जिस जमीं पै रहे आसमां रहे।" इसलिए हीरा ने अब अपना क्षेत्र बदलने का निश्चय किया। धीरे-धीरे उसने ऊंटों का ममत्व और जिम्मा छोड़ दिया। एक रोज अचानक देखा गया कि हीरा ने दाढ़ी और पट्टे दोनों सफा करवा डाले। धीरे-धीरे उसने योद्धा का स्वांग छोड़ना शुरू कर दिया।

हीरा था बड़ा मितव्ययी। साठी पार करने तक तो उसके पास पांच सौ की पूंजी जुट गई थी। एक रुपया माहवार की आमद पर भी वह पूंजीपति बन गया था। पर हीरा का दिल भी तो शाह ही था। इसलिए अब उसने अपना खजाना खाली करने का प्रण कर लिया। कान की बीरबली और पांवों के चांदी के कड़ों से उसने दान का श्रीगणेश किया। फिर तो धीरे-धीरे अपनी और पूंजी भी लुटाने लगा और अन्त में उसने अपना सारा कोष खाली कर दिया, पर इस बीच में तो हीरा की नौकरी एक रुपया माहवार से दो रुपया माहवार हो गई और इनाम भी समय-समय पर मिलता था। इसलिए हीरा फिर पूंजीपति बनने लगा। पर हीरा की तमन्ना अब केवल एक ही थी। वह थी कर्ण-सा दानी बनने की। हीरा की व्यवस्था और मितव्ययिता इस आला दरजे की थी कि उसके पास पचास साल पहले के अपने कपड़े, कम्बल, चद्दर, अंगरखी, इनाम में पाया हुआ शाल, हाथों की सोने की चूड़—ये सब चीजें ज्यों-की-त्यों मौजूद थीं। पचास साल पहले के दो-एक बेंत भी ज्यों-के-त्यों सुरक्षित थे।

हीरा के रहने की एक कोठरी थी, जिसे हम हीरा की कोठरी कहते थे। उस

कोठरी की लम्बाई छः फुट, चौड़ाई तीन फुट, और ऊंचाई छः फुट थी। जगह का अभाव न था; पर हीरा ने इसी कोठरी को अपना स्थायी स्थान बनाया और यह कोठरी क्या थी, गागर में सागर था। व्यवस्था का एक जीता-जागता चित्र। इस कोठरी में खूंटियों पर बाकायदा हीरा के हथियार लटकते रहते थे। एक खटिया थी। उसके नीचे हीरा के तमाम कपड़े, तमाम पोशाकें थीं। न मालूम और कितना सामान था। हीरा ने अब धीरे-धीरे अपनी सारी चीजों का भी दान करना शुरू कर दिया था, और एक-एक करके हीरा ने अपनी तमाम बुगची में से सब कपड़ों को वितरित कर दिया। सोगे की तख्ती भी दान में दे डाली। अब हीरा के पास पहनने-भर के कपड़े रह गए।

इतना हुआ, पर हीरा की सजावट में कोई फर्क नहीं आया। पहले योद्धा का स्वांग सजता था और अब साधारण नागरिक का। पर वही पुरानी स्वच्छता, वही दिन में दो बार नहाना, वही दो बार कपड़े बदलना। कपड़े धोने की कला तो हीरा को हस्तामलकवत् थी। इसलिए सफाई में हीरा से कोई बाजी मार ही नहीं सकता था। धुलाई में उसकी शोहरत यहां तक फैल गई थी कि जब कोई बेशकीमती शाल धुलवाना होता तो वह हीरा के सुपुर्द किया जाता।

तो हीरा ने फिर दूसरी बार कोष खाली करना शुरू किया और अन्त में सब कुछ दे ही तो डाला।

बुढ़ापा तो आता ही जाता था। अब तो हीरा ने सत्तर पार कर लिया था। आंखों की ज्योति कम हो चली थी। हीरा ने अब माला हाथ में ले ली। पर शाम को जब टहलने निकलता था तब कुछ तो सजावट रहती ही थी, हाथ में माला और बेंत भी रहते थे। कन्धे पर एक स्वच्छ गमछा। दूसरे कन्धे पर गर्मियों में धुली हुई कमरी पड़ी रहती थी और यह बताती थी कि हीरा के पास कमरी है, पर गर्मी की वजह से वह उसे पहनता नहीं है।

हीरा की पूंजी फिर बढ़ने लगी और दान भी बढ़ने लगा। दिन बीतते जा रहे थे। अब हीरा अस्सी पार कर गया। शक्ति धीरे-धीरे घटती जा रही थी।

उन दिनों की जब मैं याद करता हूं तो हीरा का एक ही चित्र मेरी आंखों के सामने आता है। स्वच्छ कपड़े पहने, हाथ में माला लिये हीरा हवेली के गोखे पर बैठा है और 'राम-राम' कर रहा है। हीरा का अब किसी चीज में ममत्व नहीं रहा। पर इन्दोखले जोहड़े की धाड़ को हीरा भूल नहीं सका, और न भूला वह धोलिये ऊंट को। यदि कोई इसकी चर्चा कर देता था तो हीरा एक बेर माला को ताक पर रखकर उस पुराने रासे को रस के साथ वर्णन करते-करते उसमें तल्लीन हो जाता था। पर इस चर्चा को छोड़ उसे और किसी चीज में ममत्व नहीं रहा, और माला तो उसकी दिन-रात चलती ही रहती थी। अब हीरा ने देख लिया कि अन्त आ गया। ऊंटों की कई यात्राएं हीरा ने की थीं। अब उसकी जीवन-

यात्रा का भी अन्त हो चला था, ऐसा जानने में हीरा को कोई कठिनाई नहीं हुई। चौरासी साल तक हीरा ने अपने भौतिक शरीर में वास किया। एक दिन हीरा ने अपना जीवित श्राद्ध करके फिर तीसरी बार अपना कोष खाली कर दिया और उसके कुछ ही दिन बाद चल बसा।

क्या शान की जिन्दगी हीरा ने बसर की ! हीरा का न कोई रासा है, न कोई महाभारत है, पर हीरा का शौर्य किस वीर से कम रहा ! अभिमन्यु की शोहरत इसलिए फैली कि वह अकेला व्यूह में घुस गया और वीरोचित मृत्यु का उसने आलिंगन किया। पर हीरा भी तो अकेला चौदह से लड़ा। यदि जीता नहीं तो उसमें हीरा का क्या दोष !

और दान भी तो कर्ण से क्यों कम ! कर्ण का महाभारत में बड़ा स्थान है, और हीरा का कोई ग्रन्थ नहीं बना, इसी बुनियाद में हीरा परख में कम नहीं उतर सका। तीन बार हीरा ने अपना खजाना खाली कर दिया। यह उदारता कर्ण से किस बात में कम उतरती थी ? और हीरा की वफादारी तो लाजवाब। बड़े-बड़े श्लोकों से भरे ग्रन्थों से चौंधिया जाने से यदि हम इन्कार करें तो मैं कहूंगा कि हीरा का शौर्य, उसकी दान-शूरता और उसकी वफादारी बेमिसाल चीजें हैं।

हीरा मर गया। उसकी छोटी-सी स्मृति हरपाणे जोहड़े में एक कुई और एक कोठरी के रूप में आज भी खड़ी है। बड़े-बड़े स्मारकों के सामने यह तुच्छ यादगार नाचीज है; पर इसके पीछे जो शान है, उसकी भी तो कोई वक़त है ! यदि इस यादगार में जिन्दा जबान होती तो वह कह उठती :

यहां सोता है एक तुच्छ प्राणी,
जिसका शरीर था रूपे का,
जिसका सिर था सोने का,
और जिसका दिल था हीरे का।

जनवरी, १९४१.

७. नाहरसिंह

नाहरसिंह एक छैल-छबीला राजपूत था। जवानी की उमंग में जब वह बन-ठनकर दुपहरिया की चहल-कदमी करने गांव की गलियों से गुजरता, तो वह

समझता था कि उसके जैसा और कोई वांका जवान दुनिया छानने पर भी मिलना दुर्लभ है। हालांकि नाहरसिंह खूबसूरती से कोसों दूर था, बल्कि यह कहना चाहिए कि कुछ वदसूरती की तरफ ही लुढ़क थी, पर उसे इतना गर्व था कि वह अपने-आपको वेनज़ीर मानता था।

खूबसूरती की उसमें जो कमी थी, उसे वह सजावट के ढक्कन से ढककर पूरा करने की कोशिश करता रहता था। खासी सफेद दो छिरंगेदार धोती, कली-दार कोट, सिर पर सांगानेरी साफा, पांव में बूंटेदार चोबकारी का जूता, हाथ में एक अच्छी-सी वरछी, कंधे पर सांग। इस सजावट के साथ नाहरसिंह दोपहरी में चमचमाते हुए नये जूतों में गलियों में अपनी शान और सजावट का प्रदर्शन करते हुए जव टहलने निकलता तो मानो कहता था—'कोऽन्योस्ति सद्दशो मया ?'

उस जमाने के निकम्मे आवारों का यही क्रम था कि सुवह को खाकर सो जाना और दुपहर में उठकर चहलकदमी के लिए निकल पड़ना। यह कहना चाहिए कि ऐसे ठलुओं की सुवह दोपहरी के वाद ही शुरू होती थी। नाहरसिंह भी उन्हीं आवारों में से एक था।

नाहरसिंह दाढ़ी रखता था। सवेरे खा-पीकर दाढ़ी पर जाडिया और मूंछ-पाटी कसकर खटिया पर सो रहता और दिन-ढले जाडिया खोलता था। जव जाडिया खोलता तो दाढ़ी के वाल नियमवद्ध चारों ओर बिखरकर इस तरह खिलाव खाते थे, मानो देवदार की पैनी और दृढ़ पत्तियां नोकों द्वारा चारों ओर मुंह फैलाकर दिग्दर्शन करती हों।

वह खिली हुई दाढ़ी, वह सजावट और वह कुरूपता, इस सामग्री को लेकर जव नाहरसिंह जमीन पर कदम रखता था तो शायद कहता था—"धरती परे सरक जा, छैला पांव धरेगा।"

नाहरसिंह से लोग डरते भी थे, क्योंकि वह शस्त्र-सुसज्जित, गैरजिम्मेदार और हर समय झगड़ने पर उतारू रहता था।

नाहरसिंह अविवाहित था और जैसाकि ऐसे आवारा लोगों का क्रम होता है, उसकी एक विधवा से लाग-फांस हो गई। गांव के लोग इस वात से नावाकिफ नहीं थे। विधवा के कुनबे के लोगों को भी इस लगावट का ज्ञान था, पर किसकी हिम्मत कि नाहरसिंह से कोई झगड़ा मोल ले !

कुदरत का नियम है कि क्रिया होती है तो प्रतिक्रिया भी होती है। इस नियम का कोई अपवाद नहीं होता। जहां एक गुंडा होता है, वहां उसकी प्रतिद्वंद्विता में और गुंडे भी पैदा हो जाते हैं। इस न्याय के परिणामस्वरूप नाहरसिंह की प्रति-द्वंद्विता में एक और वांका जवान निकल आया, और वह था एक मुसलमान। उसका नाम था मोहम्मद खां। वह भी उसी विधवा के घर पहुंचता था। नाहरसिंह को और उस विधवा के रिश्तेदारों को उस मियां का आना-जाना काफी

अखरता था। रिश्तेदारों की हिम्मत नहीं पड़ी कि कुछ बोलें, इसलिए आंख-मिचौवल किये वैठे रहे, पर नाहरसिंह को मोहम्मद खां का यह खाका सहन नहीं हुआ। इसलिए उसने उसे चुनौती दी कि वह उसके सुरक्षित क्षेत्र से दूर रहे, वरना उसे भुगतना पड़ेगा। पर मियां को भी अपने बाजू और सीने पर भरोसा था। वह हटा नहीं। उसने नाहरसिंह को दुत्कार बताई और अपना क्रम जारी रखा। नाहरसिंह आगबबूला हो उठा। अन्त में नाहरसिंह और उसके एक रिश्तेदार ने मिलकर मोहम्मद खां की नाक काटने की योजना रची।

कई दिनों तक वे लोग इसी टोह में रहे कि मौका मिले तो नाक पर चाकू की आजमाइश हो, और अन्त में मौका मिल ही गया। एक रात को जब मोहम्मद खां उस विधवा के घर से निकलकर अपने घर जा रहा था, इन लोगों ने एक सुनसान जगह पर उसे घेर लिया और धर पटका जमीन पर। एक ने उसके पांव पकड़े और नाहरसिंह उसकी छाती पर बैठकर लगा नाक काटने का प्रयत्न करने। पर चाकू भी उनको मिला तो ऐसा कि बिलकुल भूठा। लाख प्रयत्न करने पर भी नाक पर घाव नहीं मार सका। चिल्लाहट हुई, पर रात का समय और सुन-सान जगह, इसलिए किसीने सुनी तो भी अनसुनी कर दी। इसी खींचातानी में मियां साहब का गला मर्यादा से कुछ ज्यादा दब गया और किस्सा समाप्त हुआ किसी और ही दिशा में। चाहा था नाक नदारद करना, सो तो दारद रही, और बदले में जान नदारद !

नाहरसिंह और उसका साथी दोनों धारणा के विपरीत परिणाम देखकर सन्न हो गए। कुछ देर दोनों झगड़ते रहे कि किसकी गलती हुई, अन्त में नाहरसिंह ने सफाई दी कि चाकू भूठा था, इसलिए गला दबाना जरूरी समझा गया। जो परि-णाम हुआ, वह बेबसी के कारण। दोनों ने अपने-आपको लाचार माना।

जब नाहरसिंह और उसके साथी ने देखा कि नाक तो रह गई और शिकार खत्म हो गया तो सवाल यह पैदा हुआ कि अब करना क्या ? कुछ अपने जानी दोस्तों से सलाह भी की। अन्त में कुछ योजना सोची गई और मुर्दे को उठाकर वे उसके घर पर चुपचाप खटिया पर सुला आए और सुबह क्या जाल गूंथना, उसका विचार करने लगे।

सुबह हुई। गांव में शोर मचा कि फलां मियां अचानक मर गए। आसपास के पड़ोसी, किलेदार और थानेदार उसके घर पहुंचे। किसीको पता नहीं कि हुआ क्या ! एक हट्टा-कट्टा जवान जो कल तक मूंछों पर मूंछ-पट्टी चढ़ाये फिरता था, आज एकाएक अल्लाताला के घर कैसे पहुंच गया !

गांव के ठाकुर का प्रतिनिधि किलेदार कहलाता था। उसका मुकाम भी पिलानी के गढ़ में था। किलेदार राजपूत था और उसे नाहरसिंह की करतूत का पूरा पता था। पर वह अपने जात-भाई को बचाना चाहता था। इसलिए उसने

कुछ तिकड़मबाजी रची। किलेदार ने थानेदार को अपना अनुभव प्रमाण में बता-कर यह समझाया कि मियां को पाटडा गोह ने काट खाया और उस गोह के विष से वह मर गया है।

उस जमाने के लोगों का ज्ञान इतना अधूरा और बेसिर-पैर का था कि सभी लोग यह मानते थे कि गोह एक विषैला जीव होता है, यद्यपि अब तो लोगों को पता चल गया है कि गोह महज एक छिपकली की जाति है और विषैली नहीं है; लेकिन किलेदार की अक्ल और उसका अनुभव, यह भी तो एक वजनी चीज थी, जिससे गोह के पक्ष में पल्ला और भी झुक गया। सबने हां-में-हां मिलाई। कुछ उत्साही खुशामदियों ने गोह के बिल का भी पता बता दिया। खोजी ने खोज निकालकर, गोह किधर से आई और किधर गई, उसका भी सारा किस्सा बता-कर अपने इल्म को नुमाइश कर दी। गांव के मूर्खों ने भी मतीरा-सा सिर हिला-कर कह दिया, "हां साहब, गोह ने काटा है।" गोह के विष से मृत्यु साबित हुई और मियां को कब्र के सुपुर्द किया। इस तरह खून का किस्सा एक बार तो समाप्त हुआ।

इसमें नाहरसिंह की कमबख्ती यह हुई कि मृतक मुसलमान था। हिन्दू होता तो जलाकर प्राण के साथ शरीर भी खत्म हो गया होता, पर मुसलमान होने की वजह से प्राण तो गए, पर शरीर बाकी रह गया था। वह शरीर मृतक भी क्यों न हो, खून का साक्षी तो था ही। इसी साक्षी ने नाहरसिंह की बरबादी की।

मैं उन दिनों पच्चीस वर्ष का था। मुझे पता लग गया कि यह मियां का खून हुआ है, जो जान-बूझकर दबा दिया गया है। नाहरसिंह के चरित्र और उसके आवारापन से भी मुझे नफरत थी। गांव में उसकी और भी कई शिकायतें थीं। इसलिए एक खूनी इस तरह बेदाग बच निकले, यह मुझे अखरा। खून के बाद भी नाहरसिंह की चहलकदमी उसी क्रम से जारी थी। "वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी थी"—यह नाहरसिंह का हाल था।

थानेदार निरा बुद्धू था और किलेदार शिवनाथसिंह ने उसे और भी उल्लू बना दिया। पर उसके नीचे मुंशी बनवारीलाल था। वह था बड़ा चलता-पुर्जा। मुंशी बनवारीलाल की जब-जब तरक्की की बात चली और जयपुर-सरकार ने उसे बड़े ओहदे पर भेजने का प्रस्ताव किया, तब वह यह कहकर इन्कार कर गया कि—"मुझे इसी ओहदे से संतोष है। मुंशीगीरी से विश्राम पाने पर मैं काशी-वास करूंगा और भजन-स्मरण में ही जीवन व्यतीत करूंगा।" मुंशी बनवारीलाल का दावा था कि वह एक सिद्धान्त का आदमी है। वह मानता था कि वह रिश्वत जरूर लेता है, पर जुर्म करनेवाले से नहीं। रिश्वत लेता था भुगतनेवाले से, और रिश्वत लेकर न्याय करता था, अर्थात् सजा पाने-योग्य को सजा और रक्षा-योग्य को रक्षा दिलाता था।

मुझसे कहा करता था, "बाबूसाहब, मैंने रिश्वत जरूर ली, पर भले का पक्ष करके। रिश्वत भी मैं उसूलन लेता हूं।"

लोग चाहे इस उसूल पर हंसें, पर बनवारीलाल को पूर्ण श्रद्धा थी कि इस काम में ईश्वर भी उससे सहमत है।

इस तरह रिश्वत लेकर उसने बीस-तीस हजार इकट्ठे कर लिये थे। पर उसने अपनी बात निबाही। मरने से पहले उसने अपनी सारी सम्पत्ति दान-पुण्य में खर्च करने के लिए ट्रस्ट को सौंप दी और मुझे ही एकमात्र ट्रस्टी बनाकर चल बसा। ट्रस्ट का मजमून भी उसने अपने-आपही लिखा था। उस मजमून का आरम्भ इस तरह था—"जिन्दगी का भरोसा नहीं और जमाना नाजुक है, इसलिए लिख दिया है मैंने यह वसीयत...।" यह 'नाजुक' जमाने की दुहाई देने की परिपाटी सदा से रही है, जो आज भी प्रचलित है। जमाना कब नाजुक नहीं था, यह मैंने अबतक किसी से नहीं सुना। अब भी बनवारीलाल के ट्रस्ट से पिलानी में छात्र-वृत्ति दी जाती है। खैर, यह तो विषयांतर हुआ।

पर बनवारीलाल, जैसा कि मैंने कहा है, था बड़ा चलता-पुर्जा। इसलिए थानेदार की अवहेलना करके मैंने उसे बुलाया और बताया कि मियां का खून हुआ है और यह सारी कार्रवाई बनावटी है। सजायाफ्ता को सजा न मिले तो फिर गुंडेपन का कोई अन्त नहीं। मुंशी ने कहा, "बात सच है। मैं रजामंद हूं। पर बाकायदा 'रपट' जबतक नहीं आती, तबतक मैं लाचार हूं।" 'बाकायदा' यह भी एक सरकारी वेद समझना चाहिए और 'रपट' का महत्त्व भी नहीं भूलना चाहिए। इसलिए 'रपट' का इन्तजाम करना पड़ा। 'रपट' होते ही मुंशीजी की चक्की चलने लगी। कब्र खोदकर मियां की लाश को बाहर निकाला गया, डाक्टर बुलाया गया और मुर्दे का पोस्ट-मॉर्टम हुआ। पोस्ट-मॉर्टम में साबित हुआ कि मियां गला घोंटकर मारा गया था। बस, खून साबित होते ही गिरफ्तारियां शुरू हुईं।

उस जमाने में कैदी को हवालात में बन्द नहीं करते थे, बल्कि काठ में दे देते थे। हवालात-जैसी फिजूलखर्ची से लोगों को और सरकार को बड़ी नफरत थी। इसलिए हवालात के स्थान पर काठ की संस्था प्रचलित थी। हवालात यह सनकी सरकार की सनक की निशानी मानी जाती थी। एक बड़ा लक्कड़ होता था, जिसके ऊपर-नीचे के दो पाट होते थे और बीच में पांव डालने के कई छेद। उन छेदों में दोनों पांव डालकर लक्कड़ का ऊपरी सिरा ताले से बन्द कर दिया जाता था, जिससे कैदी के दोनों पांव उन छेदों में इस तरह जकड़बन्द हो जाते थे कि कैदी भाग न सके। एक-एक काठ में पांच-पांच आदमी तक जकड़ दिए जाते थे। न जरूरत रहती थी हवालात की और न बेड़ी की।

जितने आदमियों को पकड़ा, उन सबको खुले मैदान में पड़े हुए काठ में डाल

दिया गया। यह तरीका बड़ा क्रूर था, पर उस जमाने का यही सनातन धर्म था। इसकी क्रूरता का तो किसीको खयाल ही नहीं होता था। कैदी खुले मैदान में काठ में पड़ा रहता था। घरवालों और मिलने-भेंटनेवालों को कोई मुमानियत नहीं थी। सारी चीज सीधी-सादी, कम खर्चीली प्रतीत होती थी। इसमें कोई ऐब है, ऐसा किसीने नहीं बताया, और जिसने बताया, उसको ही ऐबी माना गया।

उस समय की प्रथा के अनुसार नाहरसिंह के दोनों पांव काठ में डाल दिये गए। काठ में जकड़बन्द नाहरसिंह को उसके घरवाले रोटी खिला जाते थे। चिलम-तम्बाकू की आवभगत भी होती थी, जिसमें पुलिस और कैदी दोनों शरीक होते थे। गपशप तो चलती ही रहती थी। पर तो भी आखिर काठ तो काठ ही है। नाहरसिंह तीन रात और दिन लगातार काठ में पड़ा रहा। खाना भी उसको जब दिया जाता, तब पांव काठ में ही रहते थे। पाखाना जाने के लिए ही छुट्टी मिलती थी। जाहिर है कि ऐसी वेदना कड़े-से-कड़े दिल को भी हिला देती है।

नाहरसिंह का भी यही हाल हुआ। नाहरसिंह ने सोचा, आखिर कैदखाने में इससे ज्यादा और क्या परेशानी हो सकती है। फिर कैद को ही दावत क्यों न दी जाय !

जब यह कष्ट असह्य हो चला तब अन्त में नाहरसिंह की मर्दानगी भी काफूर हुई। दो-चार थप्पड़ भी पड़े और थप्पड़ पड़ते ही नाहरसिंह ने सारा किस्सा स्वीकार कर लिया। अदालत में मुकद्दमा चला। उन दिनों की अदालत में 'सेशन' और 'जूरी' का झमेला नहीं था। 'नाजिम' अपनी बुद्धि से मुकदमे को समझ लेता था। गद्दी और मसनद के सहारे बैठकर इजलास होता था और नाजिम अपना फैसला सुनाता था। नाहरसिंह का मुकदमा भी इसी क्रम से हुआ। अन्त में नाजिम ने फैसला दिया और नाहरसिंह को जनम-कैद की सजा सुना दी गई।

जबतक हमें स्वतन्त्रता नहीं मिली, तबतक जयपुर में फांसी की सम्पूर्ण रोक थी। चाहे कितना ही बड़ा जुर्म क्यों न हो, किसी भी जुर्मी को तबतक फांसी नहीं हुई। इसलिए नाहरसिंह को भी जनम-कैद की ही सजा हुई। सजा होते ही उसे वहां से चालान करके जयपुर की जेल में जनम-कैद भुगतने के लिए भेज दिया गया।

जेल में पहुंचते ही नाहरसिंह की दाढ़ी-मूंछ मूंड़ दी गई और कैदी के कपड़े दे दिये गए।

नाहरसिंह ने स्तब्ध होकर नये भेष को धारण तो किया, पर उसे विश्वास नहीं हुआ कि वह नई दुनिया में आ गया है। नाहरसिंह रो पड़ा। अपनी पुरानी जीवनी की याद उसे सताने लगी—"कहां वह मेरा बांकापन, कहां मेरी दाढ़ी, कहां मेरा जाडिया और कहां यह मुंडन और यह नया भेष और ऊपर से पांव में बेड़ी !"

कुछ दिनों तक तो नाहरसिंह पागल-सा हो बैठा। भीतर-ही-भीतर आग धधकती थी। मुंशी वनवारीलाल ने आश्वासन दिया था, "गुनाह मंजूर कर लो, फिर सब तरह से तुम्हारी मदद करूंगा।" उसने धोखा दिया। मदद के बजाय यह जनम-कैद करवा दी! पर अब कोई सुननेवाला भी नहीं। जरा चीं-चपड़ करो तो मार पड़ती है। भीतर आग को बुझाने के लिए पानी था, वह भी आंसू होकर वह गया, इसलिए आग धधकती ही रही।

नाहरसिंह का रोना जारी रहा। वह शायर तो नहीं था, पर उसकी आहें शायरी का स्रोत बनकर बहने लगीं :

आता है याद मुझको
गुजरा हुआ जमाना।
जब से चमन छुटा है
यह हाल हो गया है।
दिल ग़म को खा रहा है,
ग़म दिल को खा रहा है।
आजाद मुझको कर दे
ओ कैदखाने-वाले।
मैं बेज़बां हूं कैदी,
तू छोड़कर दुआ ले।

पर आजाद कौन करे! नाहरसिंह जब रो-रोकर थक गया तो उसका उद्वेग शिथिल हो चला। ग़म दिल को खा गया और दिल ग़म को खा गया। ज़बां बेज़बां हुई। अब रोना बन्द हुआ।

कैद के आश्रय से पहले मन मारकर फिर धीरे-धीरे सहिष्णु होकर, समन्वय करने लगा। पिछले जमाने को भूलने लगा। "सबका चहचहाना" और चिड़ियों का चहचहाना यहां भी था। उसीसे गांठ बांधी।

जब नाहरसिंह जेल में कुछ शांत हुआ तो मैं उससे मिलने गया। मैंने कहा, "नाहरसिंह, आखिर तुमने एक प्राणी की हत्या की है, अब तुम्हें सजा भुगतनी है। उसे रो-रोकर क्यों भुगतते हो? खुशी-खुशी क्यों न भुगतो! बहादुरी इसीमें है कि ईश्वर ने जो भेजा, उसे सिर चढ़ाकर मंजूर करो। यहां भुगत लोगे तो आगे की छुट्टी है।" नाहरसिंह को शांति मिली, और जेल के जीवन से मैत्री करने लग गया।

जेल के सुपरिंटेंडेंट मेरे मित्र होते थे। मैंने उनसे बात करके नाहरसिंह को कुछ सुविधाएं भी दिलवा दीं। जेलर की सिफारिश से नाहरसिंह को गलीचे बुनने का काम सिखाया जाने लगा। नाहरसिंह उद्योग में कुशल निकला और जल्दी ही वह गलीचा बुनना सीख गया। इसके अलावा और भी दो-चार हस्त-कौशल के

उद्योग उसने सीख लिये। नाहरसिंह दक्ष हो गया और इस लायक बन गया कि वह जेल के बाहर आकर अच्छी तरह अपनी जीवन-यात्रा संभाल सके। मगर नाहरसिंह था पूरा उपद्रवी।

कुछ काल के बाद जेल के एक वार्डन से झगड़ा करके उसकी नाक को वह दांतों से चबा गया। सम्भव है, मनोवैज्ञानिकों की कल्पना के अनुसार नाहरसिंह का नाकों से कोई नाता रहा हो, या फिर कोई ग्रह ऐसा पड़ा हो, जो नाहरसिंह को नाकों की ओर आकर्षित करता रहा हो। पर वार्डन की नाक की घटना ने इतना तो प्रमाणित कर दिया कि नाहरसिंह नाक ढूंढ़ता फिरता था। मियां की नाक न सही तो वार्डन की ही सही। नतीजा यह हुआ कि नाक चबा जाने के अपराध में उसकी जेल की मियाद बढ़ गई। पर नाहरसिंह की औद्योगिक शिक्षा तो जारी थी ही। इस तरह साढ़े बीस साल तक नाहरसिंह जेल में रहा और जब जेल से बाहर निकला तो सौम्य होकर, कई उद्योगों में कुशल होकर ही निकला।

जबतक जेल में रहा, नाहरसिंह से मेरा सम्पर्क जारी था। इसलिए जेल से निकलते ही वह मेरे पास आया। फटे कपड़े पहने था, पांव में बीस साल तक बेड़ियां पड़ी रहने की वजह से कदम छोटे हो गए थे और दाढ़ी भी नदारद थी। नियंत्रण के आने के कारण उसका पुराना औद्धत्य चला गया था और वह विनम्र हो गया था।

मैंने पूछा, "कहो नाहरसिंह, कैसे हो ? अब क्या करना है ? कमाकर तो खाना ही है, फिर सोच लो, क्या करोगे ?"

नाहरसिंह ने कहा, "बाबूजी, मैं बीस साल तक महाराजा माधोसिंहजी का मेहमान रहकर आया हूं, अब किसी छोटे-मोटे का मेहमान नहीं रह सकता। हाथी पर चढ़कर गदहे पर कैसे बैठूं ?" उन दिनों जयपुर के महाराजा माधोसिंहजी थे। मुझे उसकी चुटकी पर हंसी आई। नाहरसिंह की ओर मेरा आकर्षण तो था ही। इसलिए मैंने उसे अपनी शिल्पशाला में विद्यार्थियों को गलीचा बुनना सिखाने के लिए मास्टरी के पद पर तैनात कर दिया। नाहरसिंह ने अच्छे-अच्छे गलीचे बनवाये और कई लड़कों को कारीगर बनाकर कमाने-खाने लायक बना दिया।

धीरे-धीरे अब नाहरसिंह पर बुढ़ापा सवार होने लगा। आंखें कमजोर हो चलीं। नाहरसिंह फिर मेरे पास आया और बोला, "मुझसे अब यह गलीचे का काम नहीं होगा, कुछ और काम दीजिए। आंखें काम नहीं दे रही हैं, और बुढ़ापे की कमजोरी भी आ रही है।"

चिड़ावा जानेवाली सड़क के दोनों ओर मैंने वृक्ष लगवाये थे। ऊंट और गायें उन्हें बीच-बीच में खाकर नुकसान पहुंचाती थीं। इसलिए उनकी रखवाली के लिए एक चुस्त रक्षक की जरूरत थी। मैंने पूछा, "नाहरसिंह, वृक्षों की रखवाली का काम करोगे ?" "हां, यही तो राजपूत के लायक काम है। अबतक तो आपने

मुझे छोटा काम सौंप रखा था। राजपूतों का काम तो रक्षा करना है, और वह मुझे पसन्द है।"

दूसरे दिन नाहरसिंह रखवाली के लिए सजकर आया। अपनी सफेद दाढ़ी पर कलप चढ़ा ली और वही पुरानी सांग और बरछी, पीठ पर ढाल, कमर में तलवार और कटार लटकाकर खासा अच्छा साफा बांधकर वह हाजिर हुआ। देखता हूं, साथ में एक टट्टू भी लाया। मैंने पूछा, "यह क्या है?" "यह टट्टू मैंने बारह रुपये में खरीदा है। बिना सवारी के राजपूत शोभता नहीं।"

दूसरे दिन टट्टू पर चढ़कर नाहरसिंह रणबांका राजपूत बनकर रखवाली के लिए सफ़र पर निकला। टट्टू पूरा टिंघण था, इसलिए नाहरसिंह जब सवार होता तो उसके पांव करीब-करीब जमीन को छू जाते थे। लोग हंसकर मुंह फेर लेते थे, क्योंकि नाहरसिंह के मुंह के सामने हंसना अब भी खतरनाक था।

नाहरसिंह के संसार की गाड़ी इस तरह चलती जाती थी, और वह बुड्ढा भी होता जा रहा था।

पर इसी बीच में एक अद्भुत घटना घट गई। नाहरसिंह पर इश्क का भूत सवार हो गया—"सारे आजारों से बढ़कर इश्क का आजार है।" नाहरसिंह भी इस आजार के सपाटे में आ गया। एक जाटनी थी। वह भी अपने पति की हत्या करके नाहरसिंह की तरह जयपुर-जेल में जनम-कैद काटकर आई थी। नाहरसिंह को अपने लिए एक साथी की आवश्यकता महसूस होती थी, और जब यह जाटनी मिली तो उसे वह जोड़ी पसन्द आ गई। नाहरसिंह ने झटपट उससे शादी कर ली। जाटनी नाहरसिंह से उम्र में छोटी थी, पर गुणों में उससे पूरा मुकाबला करनेवाली थी। शादी के कुछ दिनों बाद ही उस जाटनी के पराक्रम का नाहरसिंह को पता चल गया। जाटनी ने नाहरसिंह को पीटना शुरू कर दिया। वह 'नाहर' और 'सिंह', जिसका गांव में तहलका था, अब उस जाटनी के सामने भीगी बिल्ली हो गया। नाहरसिंह घर के बाहर तो अब भी शेर था, पर घर के भीतर था पूरा बिल्ली। नाहरसिंह को जो तनख्वाह मिलती, वह सारी-की-सारी जाटनी अपने पल्ले में बांध लेती थी। नाहरसिंह सिवा खाने-पीने के नकद से पूरा वंचित हो गया।

जरदार मरद नाहर घर रहो या बाहर;
बेजर का मरद बिल्ली, घर रहो या दिल्ली।

नाहरसिंह 'बेजर' हो गया और बिल्ली भी हो गया। पर नाहरसिंह की शान और शौकत घर के बाहर वही थी, जो पहले थी। उसमें कोई भी कमी नहीं हुई। अब नाहरसिंह और बुड्ढा हो चला। एक दिन आकर बोला, "सरकार, अब तो पेंशन कर दीजिए। घोड़े पर अब नहीं चढ़ा जाता।" मैंने कहा, "अच्छा, पेंशन ले लो और 'राम-राम' करते रहो!"

नाहरसिंह अब पेंशन से जीवन व्यतीत कर रहा है। ८६ साल का हो गया है। जब-जब पिलानी जाता हूं, नाहरसिंह मुजरा करने आता है। वही दाढ़ी और मूंछों की सजावट, वही ढाल, तलवार, कटार, वही सांग और बरछी। केवल एक परिवर्तन हुआ है। नाहरसिंह के एक हाथ में बरछी है, तो एक हाथ में माला—वह एक तरफ अपनी शान की अकड़ निभाता है, और दूसरी ओर 'राम-राम' भी जपता रहता है।

नाहरसिंह एक अविस्मरणीय व्यक्ति है, जिसे भूलना असम्भव है।

८. बाबा खिचड़ीदास

हमारे हरिया की मां में (पूरा नाम तो हरिश्चन्द्र है, पर दुलार में हम उसे हरिया कहते हैं) आवश्यकता से कहीं अधिक श्रद्धा है।

मैं भी श्रद्धा का विरोधी नहीं हूं। केवल बुद्धिवादी ही नहीं हूं, श्रद्धा का भी पुजारी हूं, पर बुद्धि को ताक में रखने का पक्षपाती नहीं हूं। स्वयं भगवान ने भी गीता में साफ-साफ कहा है—'बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ' अर्थात् बुद्धि की शरण ले। मेरा कथन यह है कि श्रद्धा ठीक है, पर अक्ल को खटाई में डालना मूर्खता को अपनाना है। 'यो यत् श्रद्धः स एव सः', यानी मूर्खता की श्रद्धा इंसान को मूर्ख बना देती है।

पर हरिया की मां न मेरी मानती है, न भगवान् की। यही हमारे झगड़े की बुनियाद है। इस प्रश्न पर अक्सर हमारी झपट भी हो जाया करती है। पर अब तक मैं उसे हरा नहीं पाया, बल्कि वह तो यह समझती है कि मैं अंग्रेजी पढ़कर नास्तिक हो गया हूं और नरक के रास्ते जा रहा हूं।

मैंने लाख समझाया कि ऐसा कोई खतरा नहीं है, पर हरिया की मां तो ठहरी मेरे शरीर और आत्मा दोनों की रक्षक। शरीर को मोटा-ताजा रखने के लिए तो वह मुझे चुपड़ी देती है। हालांकि मेरे दीर्घ जीवन में वह रोड़ा हो सकता है। पर मोटापे में उसका इतना ही विश्वास है जितना कि श्रद्धा में, और आत्मा को तंदुरुस्त रखने के लिए घंटों मुझसे बकवास करती रहती है और उपदेश के मारे नाकों-दम कर देती है। पर सुनना भी पड़ता है। मैं ऊब भी जाता हूं, पर आखिर अर्द्धांगिनी है, इसलिए सुनना भी चाहिए।

पर ज्यादा शास्त्रार्थ का नुक्ता है हमारे पड़ोसी का कुत्ता। हमारे पड़ोसी

खां साहब, भूरे खां साहब, जिले के कलेक्टर हैं। मैं भी सरकारी मुलाजिम हूं। हम दोनों पुराने यार-दोस्त होते हैं।

इन भूरे खां साहब के यहां एक कुत्ता है। उसके बारे में यह शोहरत फैला दी गई है कि वह कोई पुराने जनम का पहुंचा हुआ औलिया है, जो किसी दुर्घटना के कारण कुत्ता बन गया है तथा अब भी राम-राम रटता रहता है और भजन-स्मरण में अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। बस, इस किंवदंती को हमारे हरिया की मां ने वेद-वाक्य मान रखा है।

अव्वल तो किसी पहुंचे हुए राम-राम रटने वाले औलिया को भूरे खां के यहां क्यों, किसी हरचरनदास के घर जाना चाहिए था। दोयम कुत्ते के कण्ठ या जीभ की बनावट ऐसी है, नहीं कि वह स्वर-व्यंजनों का उच्चार कर सके। पर हरिया की मां के पास इसका भी जवाब है। वह कहती है, यह 'पूरब जनम का पुन्न-प्रताप' है।

इस कुत्ते की कहानी यह है कि इसकी मां ने एक साथ पांच पिल्ले जने। यह भी मेरी चिढ़ का एक कारण है, क्योंकि परिवार-नियोजन का मैं जबरदस्त हिमायती हूं और मेरी समझ में इस कुत्ते के मां-बाप ने इस सिद्धान्त की अवहेलना करके काफी गुनाह किया। इन पांच पिल्लों के जनम ने मेरी भावना को काफी धक्का पहुंचाया।

मैं परिवार-नियोजन का कट्टर पक्षपाती हूं। इसका पहला सबूत तो यही है कि चाहे वह कुदरत की करामात हो या हमारा 'प्लान' रहा हो—इस बहस में उतरना बेकार है—पर वाक़या यह है कि हरिया की मां ने सिर्फ एक हरिया को ही प्रसव किया और उसके बाद प्रसव की पीड़ा को तलाक ही दे डाला।

मेरी यह मान्यता है कि परिवार-नियोजन की सीमा केवल मानव-समाज तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए। पशु-पक्षी और अन्य प्राणी इस मंगल यज्ञ से क्यों वंचित हों! अन्य प्राणि समाज पर भी यह सिद्धान्त इतनी ही क्रूरता से लागू करना चाहिए, जितना कि मनुष्यों पर।

अन्य प्राणियों में परिवार-नियोजन की क्या विधि होगी, इस संबंध में मेरा दिमाग अभी स्पष्ट नहीं है। पर इस डिटेल में जाना, इस सिद्धान्त को भुला देना है। मेरा उसूल तो यह है कि यह नियोजन-संग्राम महज मानव-समाज तक ही सीमित न होना चाहिए, पर इसका दायरा बृहत् होना चाहिए। हरिया की मां से मैंने इस संबंध में कई बार शास्त्रार्थ भी किया, पर वह तो मुझे खब्ती समझती है और मुझ पर तरस खाकर गहरे पानी में उतरने से कतई इन्कार कर देती है। पर इसके कारण मैं अपने सिद्धान्त को कैसे छोड़ूं? और वह भी अपनी राह पर डटी है। खैर, यह तो विषय से बाहर की बात हुई।

चर्चा तो यह छिड़ी कि भूरे खां का कुत्ता एक प्राचीन भक्त है, जो अब राम-

राम रटकर अपने संकट के दिन काट रहा है। अब मेरे-जैसा कुशाग्र बुद्धि वाला ऐसी बेसिर-पैर की बात पर कैसे विश्वास कर सकता है, पर हरिया की मां भी अपने विश्वास पर दृढ़ है। इस कुत्ते की कहानी यह बताई गई है कि भूरे खां साहब का कुत्ता 'पूरब जनम' में बाबा खिचड़ीदास के नाम से विख्यात था। काफी नेम-धरम से रहता था। सुबह-शाम गंगा-स्नान और कई तरह की उपासनाएं करता था। हर एकादशी को व्रत रखता था। अर्थात् अन्न को जीभ के पास भी जाने नहीं देता था। पारणा के समय वह लेता था सिर्फ गाढ़े दूध की रबड़ी, मिश्री मिलाई हुई कूटू की पूरी और पकौड़ी तथा सिंघाड़े का हलवा। ऐसी कई तरह की बानगियां बनती थीं, जो बाबा हजम करते थे, पर अन्न से उन्हें पूरा परहेज था।

संयोग की बात है, इसे चाहे होनहार कहिए या विधि की चाल, बनिये की लापरवाही से एक दिन बाबाजी ने जो कूटू का आटा मंगाया, उसमें कुछ मैदा मिल गई। इसी आटे की पूरी-पकौड़ी बनीं और बाबाजी खा भी गए। उन्हें शायद कुछ वहम तो हुआ कि यह निरा कूटू का आटा नहीं है, पर आंख मींचकर इसको बर्दाश्त कर गए। बस इस छोटी-सी बात पर एकादशी ने बाबाजी को शाप दे डाला कि हो जा कुत्ता। बस खिचड़ीदासजी कुत्ते के अवतार होकर भूरे खां साहब के यहां कुतिया के पेट से उतरे। खिचड़ीदासजी से अब बन गए कुक्कर। यह इस कुत्ते की कथा बताई गई।

अब यह भी आप जरा पक्ष छोड़कर सोचिए कि शाप खिचड़ीदास को क्यों दिया। यदि एकादशी को अन्न से आपत्ति थी तो कुक्कर बनाना था उस बनिए को, जिसने मिलावटी आटा बेचा। पर वह बनिया तो बच गया और सपाटे में आ गए खिचड़ीदासजी। जैसे सरकारी दफ्तरों में अंधेर होता है, वैसे ही एकादशी के दरबार में भी कोई इन्साफ नहीं था और इस गैर-इन्साफी में भुगतना पड़ा खिचड़ीदासजी को। यह कथा हरिया की मां ने पूरी हजम कर रखी थी।

यह किसीने नहीं पूछा कि इस कथा का कोई यथेष्ट प्रमाण भी है क्या? हरिया की मां कहती थी, "ईश्वर है, इसका क्या प्रमाण है? मुझे तो इसका पूरा यकीन है, नहीं तो यह कुत्ताजी राम-राम कैसे रटते!" मैंने कहा, "कहां रटता है राम-राम?" तो हरिया की मां कहती है, "चलकर देख न लो, तुम्हारा अविश्वास भी दूर होगा और दर्शन का लाभ भी होगा। हाथ कंगन को आरसी क्या? तसल्लीबख्श मुलाकात ही क्यों न कर लो?"

मेरी अपनी भी कुछ हैसियत है। सरकारी महकमों में साख भी है। इस तरह का मैं कदम उठाऊं तो यार-दोस्त क्या कहेंगे—इसकी भी शर्म थी। पर दूसरे पलड़े में हरिया की मां का आग्रह था, जिसने पलड़े को झुका दिया और एक कमजोरी के क्षण में मैंने कुत्ते से सम्मेलन करने की हां भी भर ही ली। हां भरने

के बाद कुछ मिचलाहट-सी हुई, पर "अब पछताए क्या होत है, जब चिड़िया चुग गईं खेत।" अब इस वादे से मुकरना नामुमकिन था।

खैर, तिथि निश्चित हुई और समय भी। हरिया की मां तो साथ होने ही वाली थी, पर मोहल्ले के कुछ नौजवान भी इस मजाक को देखने के लिए साथ हो लिये। कुछ हरिभक्त श्रद्धालु भी शरीक हो गए और इस भीड़-भड़क्के के साथ हमारा जुलूस घर से निकलकर भूरे खां साहब के घर पहुंचा।

भूरे खां साहब का कुत्ता था अलसेशियन। अलसेशियन वैसे ही खूंखार होते हैं, और यह तो अलसेशियनों में रुस्तम था। दरवाजे पर लेटा था। कुत्ते ने गुर्रा-कर मेरी ओर जो ताका तो मेरा कलेजा बैठ गया। न तो इस कुत्ते को मेरी सूरत ही पसंद आई, न पसंद आया मेरा जुलूस।

परिवार-नियोजन के सिद्धान्त पर इस कुत्ते और इसके मां-बापों से मेरा जो मतभेद था, उसका भी इसके दिमाग पर कुछ असर पड़ा हो और इसलिए भी मुझसे रुष्ट हो तो मैं समझ सकता हूं। पर भीड़ को देखकर तो वह आग-बबूला हो उठा। शायद उसने यह समझा कि मैं उसकी और उसके पुरखों की लानत-मलामत करने आया हूं। मैंने उसकी खूंखार तबीयत को देखकर ही समझ लिया कि खैरियत नहीं है। पर वापस भागना भी आसान नहीं था। हरिया की मां भी तो थी, वह कब वापस जाने देती थी।

कुत्ते ने हमारे मजमे को नापसंद किया यह तो जाहिर था। वह चट से उठ बैठा और शोरगुल सुनकर तो वह भड़क ही उठा।

वह भड़का और मेरा दिल धड़का। कुछ पीछे हटने की कोशिश करने लगा, तो हरिया की मां ने मेरी पीठ पर दोनों हाथ रखकर आगे धकेलने की कोशिश की। मैंने कहा, "हरिया की मां, यह क्या करती हो, देखती नहीं, आगे खतरा है?" उसने कहा, "कैसी भोली बातें करते हो। खतरा कहां, सद्‌भाग्य है। तीर लगी नाव को क्या फिर से मंझधार में ले जाना है।"

मैं भी तीर लगी नाव को मंझधार में ले जाना नहीं चाहता था। मंझधार से डरता था। पर इस शब्द के माने हमारे दोनों के भिन्न-भिन्न थे। हरिया की मां के माने में, तीर था कुत्ता और मंझधार था हमारा घर। पर मेरे माने में तीर था घर, और मंझधार था कुत्ते के नीचे और ऊपर के जबड़ों के मध्य में स्थित पैने-पैने दांत। इस मंझधार के डर के मारे मैं कांप रहा था। पर अब कोई चारा नहीं रह गया।

पीछे से हरिया की मां ने धकेला। इस धकेल के दबाव में मैंने एक कदम आगे रखा और कुत्ता सतर्क होकर लगा भों-भों करने। मैंने कहा, "हरिया की मां, कुत्ता काटेगा, यह भों-भों कर रहा है।" पर हरिया की मां ने कहा, "आपकी अकल पर पर्दा पड़ गया है, यह तो ओम्-ओम् रटता है, इसके बाद यह राम-राम

रटेगा।" मैंने कहा, "क्या खाक पत्थर कहती हो ! कैसा ओम्-ओम् ! इसने तो दांत निकाल रखे हैं और काटने पर उतारू है।" पर हरिया की मां ने एक न सुनी, पीछे से धकेलती ही गई। मैं कुछ ऐंठता था, मानों शरीर में धनुषबाय आ गया हो। पर हरिया की मां का चेहरा मारे संतोष के प्रफुल्लित था।

इस तना-तुनी में कुत्ता भी अपने धीरज को खो बैठा और उछलकर चबा गया मेरी एक पूरी अंगुली। मैंने चीख मारी और साथ ही मारे दर्द के अनायास ही मुंह से 'हे राम, हे राम' निकल गया। हरिया की मां ने कहा, "सुना, महात्मा राम-राम रटने लगा है।" मैंने कहा, "नरक में जाय तेरा महात्मा ! सुनती नहीं, यह कुत्ता नहीं, यह तो मैं राम-राम चिल्ला रहा हूं।" पर हरिया की मां ने इसका समाधान इस तरह किया कि बाबाजी मेरी जिह्वाग्र पर बैठकर राम-राम रट रहे हैं। ऐसी पगली से अब कौन झगड़े !

इस दर्द की बेचैनी में शास्त्रार्थ करना भी मेरे लिए असंभव था और क्रोध के मारे शरीर भी कांप रहा था। मेरी लकड़ी हाथ में होती तो उस गंडक की खोपड़ी को फोड़कर मैं टुकड़े-टुकड़े कर डालता। अब तो मुसीबत यह थी कि लकड़ी तो थी नहीं और कुत्ता अपने दांत निकालकर मुझे पछाड़कर मेरी छाती पर चढ़ बैठना चाहता था।

खुशबख्ती से ऐन मौके पर भूरे खां साहब ने जो इस धमा-चौकड़ी का शोर सुना तो घर से बाहर निकल आए। कुत्ते को डांटा तो कुत्ता दुम दबाकर बैठ गया और मुझे देखकर आश्चर्य से कहने लगे, "अरे मुंशी कवड्डीलालजी, मेरे कुत्ते के साथ यहां क्या मखौल कर रहे हो ?" कैसे समझाऊं कि मखौल नहीं, मैं तो अपनी जान की बाजी पर खेल रहा था और जाल में फंसी हुई चिड़िया की तरह हरिया की मां को बहेलिये के रूप में देख रहा था।

खैर, मरहम-पट्टी हुई। डाक्टर भी आया। हमारी मुलाकात तसल्लीबख्श तो नहीं हुई, पर खां साहब ने मरहम-पट्टी बांधकर चाय-वाय पिलाई। गुलाबजामुन खिलाए और हम जिन्दा वापस घर पहुंच गए, यही तसल्लीबख्श बात हुई।

पर हरिया की मां को न दिल-धड़कन हुई, न बेचैनी हुई, उलटे उसे तो संतोष हुआ कि आखिर मैंने महात्मा का दर्शन कर ही लिया।

रूप-स्वरूप

१. रूप और स्वरूप

'आम खाना या पेड़ गिनना' ऐसा कहनेवाले व्यक्ति को अक्सर लोग समझदार मानते हैं। पर हम जरा ज्यादा सोचेंगे तो पता लगेगा कि इस उपदेशक ने शायद दूरदर्शिता की बात नहीं कही, न वह गहरे पानी में उतरने की फिक्र में था। इसलिए सम्भव है कि आलस्यवश झंझट में न पड़ने की फिक्र में उसने यह कह डाला हो कि आम खाना ही अभीष्ट है तो फिर पेड़ गिनना निरी मूर्खता और समय की बरबादी है। यदि वह थोड़ी मेहनत से काम लेता तो अवश्य सोचता कि यदि आम का बाग खरीदना है तो केवल एक ही दो आम खाकर झटपट बिना पेड़ गिने ही थैली खोलकर रुपया गिन देना और पीछे जब पता चले कि पेड़ बहुत कम थे और सो भी जीर्ण-शीर्ण, तब पछताना, यह भयंकर मूर्खता होगी। ऐसा सोचता तो वह आम खाकर पेड़ भी अवश्य गिनवाता।

बात यह है कि रूप और स्वरूप का यह पुराना झगड़ा है। साधारण मनुष्य जो चीज सामने दिखाई देती है, उसे ही स्वीकार करके उसपर इमारत बनाता है, तो तत्त्ववेत्ता जो द्रष्ट है उसे भूलकर अद्रष्ट की बातें करता रहता है। तत्त्ववेत्ताओं ने समझाया कि ऊपरी शक्ल में कुछ नहीं रखा है, जो रूह है, वही सच्चा स्वरूप है, उसकी कीमत है और वही ग्रहण करने योग्य है। "गुलाब किसी भी नाम से पुकारा जाय, आखिर गन्ध तो देगा ही।" ऐसा कहकर उन्होंने नाम की अवहेलना करके तत्त्व की महिमा गाई।

कबीर ने भी "तू कत बंभन हम कत सूद, हम कत लोहू तू कत दूध", कहकर नाम और रूप दोनों की अवहेलना करके स्वरूप पर जोर दिया। तू ब्राह्मण क्यों और मैं शूद्र क्यों? आखिर दोनों ही में तो लोहू है। यह तो है नहीं कि मेरी नसों में तो लोहू है और तेरी नसों में दूध? तो फिर ऊपर की शक्ल तुम्हारी ब्राह्मण को

हो, गले में जनेऊ हो, ललाट पर तिलक हो और मेरी शक्ल शूद्र की हो तो भी क्या ? जब भीतर वही रक्त, वही हाड़-मांस है तो हम दोनों ही समान हैं, न तू ब्राह्मण है और न मैं शूद्र। ब्राह्मण और शूद्र को उसकी वृत्ति से पहचानो। वृत्ति ही असली स्वरूप है।

पर यह तत्त्ववेत्ता के वाक्य हैं। संसारी लोग कवीर की तरह संसार को खुर्दबीन, माइक्रोस्कोप था एक्सरे से नहीं देखते। संसार को यह आम खाने और पेड़ न गिनने की आदत के पक्ष में काफी मसाला है। तत्त्ववेत्ता वस्तु का असली रूप उसे ही मानता है, जो द्रष्ट के पीछे अद्रष्ट है। उसे मनुष्य की एक्सरे तसवीर ज्यादा आकर्षित करती है, वजाय उसकी बाहरी तसवीर के। भीतर फुफ्फुस, गुर्दा, लीवर, हृदय इत्यादि अंग-प्रत्यंग अपना-अपना काम कैसे करते हैं, इसमें एक प्रकांड चिकित्सक को ज्यादा दिलचस्पी होती है, वजाय बाहरी रूप के। मनुष्य-शरीर तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में हाड़, मांस, रक्त, मज्जा, मेद इत्यादि का एक भांड है। मनुष्य का असली स्वरूप उसकी आत्मा है, पर साधारण मनुष्य यदि इस तरह सब चीजों को देखे तो अवश्य ठोकर खा जाय। इसलिए वह झंझटों में नहीं पड़ता और जो सामने है, उसे ही देखता है।

यह मान भी लें कि चाहे किसी भी नाम से पुकारो, गुलाव की गन्ध में कोई फर्क नहीं पड़ता, तो भी यह मानना होगा कि गुलाव को यदि हम नरक के नाम से पुकारें तो अवश्य एक सूग पैदा होगी, चाहे उसमें सुगन्ध कितनी ही आती रहे। इसलिए साधारण मनुष्य गन्ध के साथ-साथ नाम और रूप पर भी मोहित है और उसने गुलाव का नाम गुलाव ही रखकर रूप की पूजा की और स्वरूप का तिरस्कार भी नहीं किया।

संसारी मनुष्य नाम और रूप की पूजा करके तत्त्ववेत्ता के मुकावले में हलका उतरता, ऐसी बात भी नहीं है। आखिर रूप का भी तो महत्त्व है ही।

राम, कृष्ण, जिन्हें हम अवतार मानते हैं, उनपर पुराने शास्त्रकार इसलिए मुग्ध नहीं हुए कि रामचन्द्रजी या कृष्णजी चोटी के नेता थे, जिन्होंने समाज और राष्ट्र की बड़ी सेवा की या उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा था अथवा वे निरामिष भोजी और त्यागी थे और उनमें वह वक्तृत्व-शक्ति थी कि जनता चित्रांकित और मंत्रमुग्ध हो जाती थी या उन्हें शरीर और कपड़ों की कोई सुध नहीं थी। इन वातों में उनकी कोई तारीफ नहीं थी। उलटे, उनके माहात्म्य का जो वर्णन है वह या तो उनके सौन्दर्य का है, या उनके वाहुवल का।

दोनों-के-दोनों अवतार सौन्दर्य के ही तो रूप थे। स्त्रियां उन्हें देखकर मोहित हो जाती थीं और पुरुष देखकर विस्मय करते थे। अच्छे वस्त्र और आभूषणों को स्वीकार करके उन्होंने सादगी का भी तिरस्कार किया। कमललोचन, विशाल वाहु, उन्नत स्कन्ध, कठोर जंघा इत्यादि की प्रशंसा करने में न तो उन्हें और न

उनके प्रशंसकों को ही संकोच हुआ। इसी तरह उनके बाहु-पराक्रम का वर्णन करते समय भी कवि ने उनके द्वारा की गई हिंसा का खूब ठाठ से वर्णन किया। राम-कृष्ण ने तो बात-की-बात में दुष्टों का नाश इस तरह किया मानो घास काट रहे हों। किसीको वाणों से, तो किसीको वज्र से और किसीको गदा से मार गिराया।

आज की-सी रुचि यदि उस जमाने की होती तो क्या मजाल कि कवि उनके सौन्दर्य या उनके हिंसक पराक्रम का इस तरह रस-भरा वर्णन करता। जिस बुरी तरह से राम-कृष्ण दुष्टों को काटते थे उस तरह तो क्या, आज का नेता यदि साधारण बेंत से भी किसीपर प्रहार कर दे तो देशी और विदेशी अखबारों में तहलका मच जाय और नेता को गिड़गिड़ाकर माफी मांगनी पड़े।

इसके यह माने नहीं कि आज के लोग अहिंसक और अत्यन्त सादे हैं या आज का नेता स्वयं अहिंसक या सादा बन गया है। बात यह कि लोगों का दृष्टिकोण और मूल्य आंकने का तरीका बदल गया है और इसलिए ग्राहकी में फर्क पड़ गया है।

सौन्दर्य की उपासना तो कम नहीं हुई, पर नेताओं से तकाजा सौन्दर्य का नहीं है। उनसे चाह कुछ दूसरी ही शक्ल की है। इसलिए नेता ने भी बाध्य होकर सौन्दर्य और हिंसा से संबंध-विच्छेद कर लिया है। नेता को सजावट और बनावट में दिलचस्पी हो भी तो उसकी हिम्मत नहीं कि वह दिलचस्पी प्रकट करे। इस-लिए उसे अपनी शक्ल को भी बदलना पड़ा है। एक विख्यात नेता के बारे में तो यहांतक कहा जाता है कि उनके मीटिंग के कपड़े अलग होते थे और साधारण समय की पोशाक अलग। आज कोई नेता, कितनी भी उसकी सेवा हो, यदि रंग-मंच पर सूट-बूटधारी होकर खड़ा हो तो लोगों के दिल पर जबरदस्त धक्का लगेगा और लोग उसके बारे में कानाफूसी करने लगेंगे।

यह भी यही सिद्ध करता है कि हम स्वरूप के नहीं रूप के ही उपासक हैं। हम कहां नेता के भीतर प्रवेश करते हैं? कहां हम देखते हैं कि नेता तमोगुणी है या सतोगुणी, चरित्रवान है या सैलानी जीव? हम तो इतना ही देखते हैं कि उसने क्या कहा, कब जेल गया, कैसा भाषण दिया और उसका बाहरी आडम्बर क्या है और अखबारों ने उसको कैसा चित्रांकित किया है।

प्राचीन लोगों ने जहां अपने आदर्श पुरुष को सुन्दर, आभूषणों से सजा हुआ, कसा हुआ धनुषधारी देखना चाहा तो उस समय का नेता भी उनके सामने उसी शक्ल में आया। आज के लोग अपने नेताओं की गिरी हुई शक्ल, मैले कपड़े, झुकी हुई कमर, कुछ-कुछ खांसी की ठनक के साथ देखकर खुश होते हैं, तो नेता भी जब प्लेटफार्म पर चढ़ता है तो कुछ अलग ही सूरत में आता है। उसके दिल में अहंकार, ग़रूर और प्रलयंकारी क्रोध भी हो तो जनता के सामने विनम्र, झुका

हुआ और मुस्कान के साथ ही अभिवादन करता हुआ प्रकट होता है। नेता को खांसी न भी आती हो, तो भी प्लेटफार्म पर उसे पैदा करना ही शायद अच्छा लगता होगा।

स्त्रियों को भी इस जमाने के लोग एक खास तरह से सजी हुई देखना चाहते हैं। नतीजा यह है कि नूपुर और ताम्बूल गया और ऊंची एड़ी का जूता और लिप-स्टिक आया। सोना और मोती-मणियों के आभूषण गये, कौड़ी और हाड़ों की मालाएं आईं। यूरोप और अमरीका में ताम्रवर्णी स्त्रियां सुन्दर मानी जाने लगीं तो लाखों युवतियां समुद्रतट पर सूर्य को से-सेकर अपना रंग बदलती हैं। यहां भी यदि यह फैशन चल जाय कि रंग तो श्यामल ही अच्छा तो फिर शायद स्त्रियां मुंह पर कोयला भी पोतने लगें।

पुराने समय में ऋषि-मुनियों को लोग जटाजूटधारी, भस्मी लपेटे हुए और रुद्राक्ष की माला सहित देखना पसंद करते थे तो ऋषि-मुनि भी उसी शक्ल में फिरते थे। ऋषि को राजा की लड़की ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं होता था, पर दिमाग पर इतने बड़े बालों का बण्डल लेकर फिरना और नाहक गन्दगी मोल लेना उसे नहीं अखरता था। सेफ्टी रेजर न सही, पर उस जमाने में उस्तरे की कोई कमी नहीं थी। पर मजाल ऋषि जटा काटें। ग्राहक जो मांगता है, वही तो दूकान पर रखना पड़ता है !

पुराने ग्राहक अवतार को जिस रूप में चाहते थे उसी रूप में अवतार सामने आया। ऋषि को जैसी सूरत में देखना चाहते थे उसी सूरत में ऋषि आया। इसी तरह आज के लोग जिस रूप में नेता को देखना चाहते हैं उसी रूप में नेता को आना पड़ता है। रूप की महिमा हजारों साल के बाद भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

क्या करे पुराना नेता और क्या करे नया ! फसाद तो सारा यह जनता का है। इस दृष्टि से किस रूप को सिंहासन पर बैठाना और किसको गिराना यह भी बड़े महत्त्व का विषय है। 'विद्यातपोवित्तवपुर्वयः कुलैः सतांगुणैः षड्भिरसत्त-मेतरैः', विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्चकुल यह किसी जमाने में सत्पुरुषों की निशानी थी। अब यह सब बदल रहा है। विद्या तो बुनियादी तक और तप जेल तक सीमित हो गया। जवानी का सम्मान सोशलिस्ट लोगों तक ही सीमित है। धन, सुदृढ़ शरीर और उच्चकुल तो दूषण हैं। इन्हें गुण बताना फट-कार सुनना है।

यह बदली हुई भावना अच्छी है या बुरी, यह तो विचारने की बात है।

नेता के नसीब में से कसरती शरीर, सौन्दर्य, अच्छे वस्त्र और योगक्षेम तो उसी जमाने में चला गया जबकि नेता कारावासी था। उस समय नेता ने गरीबी मेटने की ललकार तो लगाई, पर उलटे दरिद्रनारायण की प्रशंसा में पड़कर

दरिद्रनारायण, और उसके साथ-साथ कुरूपनारायण, रोगनारायण, मलिननारायण को भी सिंहासन पर आसीन कर दिया, चाहे 'हाथ सुमरनी कांख कतरनी' ही रही हो। अब नेता राजा बन गया। इसलिए राजसी ठाठ के साथ कई तरह के ये विचित्र, दरिद्र, मलिन, कुरूपनारायण इत्यादि कहांतक निभेंगे, यह सोचने की बात है।

जो हो, रूप का मोह संसार ने न छोड़ा, न कभी छोड़ेगा। "पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ स्वकन्यां चर्माम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः," समुद्र ने पीताम्बर पहने देखकर अपनी कन्या लक्ष्मी को तो विष्णु को दे डाला और बेचारे शिव को चमड़ा लपेटे हुए देखकर जहर अर्पण किया। इस तरह का घोटाला फिर न हो, इसलिए स्वतन्त्रता के बाद अब नेता को भी चर्माम्बरी न होकर पीताम्बरी बनने के लिए सत्साहस करना अच्छा लगता है। बाकी जनता-सरकार की मर्जी।

रूप और स्वरूप में कुछ समन्वय भी होना जरूरी है। एक तरफ यह राजसी ठाठ, दूसरी ओर यह अजीब वेशभूषा और भीतर धधकती हुई अभिलाषा का यह सम्मिश्रण! कुछ दिन बाद ऐसा लगेगा, जैसे हलवे में नीम या लंगोटी पर मुकुट।

पर बात तो यह थी कि आम खाना तो पेड़ क्या गिनना! इतनी बकझक के बाद भी मुझे यही लगता है कि आम भी खाना चाहिए और पेड़ भी गिनने चाहिए। रूप भी ठीक चाहिए और स्वरूप भी। 'विषकुम्भं पयोमुखम्' भी बुरा और 'पयोकुम्भं विषमुखम्' भी बुरा। जरूरत तो यह है कि पयोकुंभम् भी हो और पयोमुखम् भी हो।

२. लोक और परलोक

स्वर्ग-नरक की यह परम्परा सदियों से चली आती है और इसमें दिलचस्प बात तो यह है कि सभी मुल्कों में और सभी मजहबों में इनका वर्णन करीब-करीब मिलता-जुलता है। मेरा खयाल है कि वेदों में स्वर्ग का इस तरह का रोचक वर्णन नहीं है और न उपनिषदों में ही स्वर्ग-नरक का रोचक और भयानक विवरण मिलता है।

जो पुण्य करते हैं वे स्वर्ग को जाते हैं, और पापी नरक में, ऐसा बताया गया है। पर क्या स्वर्ग का जो वर्णन है, वह पुण्यशीलों के लिए आकर्षक हो सकता है? इसमें सन्देह है। स्वर्ग के राजा इन्द्र का तो यह हाल है कि जहां किसीने तप का आरम्भ किया कि उसके दिल में घबराहट पैदा हो जाती है। होनी तो चाहिए,

देवता को क्या हर पुरुष को, खुशी कि कोई पुण्यशील व्यक्ति शुभ कर्म में जुटना चाहता है। देवता को तो और भी अधिक खुशी होनी चाहिए, पर इससे उलटा कोई तप करता है तो इन्द्र के घर मानो स्यापा-सा पड़ जाता है। कारण यह माना जाता है कि तप सिद्ध होने पर तपस्वी द्वारा इन्द्र का इन्द्रासन छीन लिये जाने का भय रहता है।

पर यदि दो तपस्वी एक ही कोटि के हों तो फिर इन्द्रासन एक ही को मिलेगा या दोनों को ? यह प्रश्न सुलझाया नहीं गया। हां, एक आसन के दो उम्मीदवार होने का मौका आया हो, इसका पुराणों में कोई प्रसंग नहीं मिलता। और किसी तपस्वी ने अपने तप के वल से इन्द्र को दरिद्र वना डाला हो, ऐसा भी मेरी निगाह में कोई उदाहरण नहीं आया।

ब्रह्म-हत्या के आक्रमण से डरकर इन्द्र अपनी पुरी छोड़ भाग गया, तव ऋषियों ने इन्द्रपुरी को सूना छोड़ना उचित न जानकर नहुष को इन्द्रासन पर वैठा दिया। पर नहुष भी निकम्मा निकला। उसके सिर पर ऐसा भूत सवार हुआ कि उसने इन्द्राणी को छीनना चाहा। उसकी जव नीयत विगड़ी तो फिर उसे सर्प बनना पड़ा। यही एक उदाहरण इन्द्रासन पर कब्जा करने का आता है और सो भी लोकमत से बाध्य होकर। बाकी तो ध्रुव-प्रह्लाद-जैसे अनेक तपस्वी हुए, जिन्होंने इन्द्र के मोहल्ले की तरफ आंख तक उठाकर न देखा। तो फिर पता नहीं, इन्द्र तप करनेवालों से इतना क्यों डरता था ? शायद उसका स्वभाव ही शक्की वन गया था !

जो हो, स्वर्ग के राजा इन्द्र का धन्धा शिष्ट पुरुषों के आचार-विचार से इतना उलटा रहा है कि तपस्वी को स्वर्ग लुभावना लगे, यह समझ में नहीं आता।

इन्द्र स्वयं ऐश में गर्क रहता था, अप्सराएं उसके यहां नित्य नृत्य-गान किया करती थीं और मालूम होता है कि उनका इन्द्र के साथ काफी लगाव-उलझाव भी था। इन्द्र को भी केवल अप्सराओं से ही संतोष नहीं था और वह इधर-उधर भी चक्कर काटा करता था, जिसके फलस्वरूप गाली-गलौज के सिवाय शाप तक की भी नौवत आ गई थी।

इधर अप्सराओं का यह हाल कि किसीने तप शुरू किया कि झट इन्द्र की प्रेरणा से वे तपस्वी को गिराने-उलझाने की फिक्र में लग जाती थीं। एक-आध मरतवा तो वे खुद भी फंस गईं। मेनका और विश्वामित्र का किस्सा तो है ही। इधर उर्वशी का पुरुरवा में मन फंस गया। ऐसे अनेक किस्से हैं, जो स्वर्ग की स्वर्गीयता सिद्ध नहीं करते।

स्वर्ग की अन्य भी अनेक विचित्रताएं मिलती हैं। नारद और अन्य ऋषि-मुनि तो विना मरे भी वेरोक-टोक स्वर्ग में आते-जाते रहते थे; पर दूसरी तरफ त्रिशंकु बेचारा सशरीर जाने लगा तो उसे धक्के खाने पड़े ! स्वर्ग की ये परस्पर-विरोधी

बातें और उसकी महिमा उलझन में डालनेवाली हैं और विदेशियों के जन्नत से इतनी मिलती-जुलती हैं कि यह संस्था जिस रूप में वर्णित है वह आर्य है या अनार्य, इसमें भी शंका उपजती है। पर यह सब तो विद्वानों के अन्वेषण की सामग्री है।

गोलोक, विष्णुलोक ये कुछ भिन्न प्रवृत्ति के लोक थे। उनका भी वर्णन है। पर वहां यह खटपट और षड्यन्त्र नहीं रहे।

दूसरी ओर गीताकार ने भी 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्' कहकर स्वर्ग की महिमा बढ़ाई है। पर उपर्युक्त स्वर्ग और गीता का स्वर्ग दोनों एक ही प्रांत की राजधानी हों, ऐसा नहीं लगता। गीता का स्वर्ग, पुनर्जन्म और मुक्ति समालोचना की कसौटी पर कसे जाने लायक मसाला है। पर इन सबका अर्थ स्पष्ट नहीं है। असलियत क्या है, इसकी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, कल्पना ही की जा सकती है।

मुझे तो लगता है कि गीता के स्वर्ग और नरक शायद इसी संसार में और अक्सर इसी शरीर में ही हमें मिल जाते हैं। रोजमर्रा हम गीता के स्वर्ग और नरक की यात्रा करते रहते हैं। अच्छी वस्ती में अच्छी वायु में विचरते हैं तो स्वर्ग और गन्दगी में हमें नरक का अनुभव होता है। सज्जन की संगति में स्वर्ग और कुसंग में नरक का अनुभव लेते हैं। तबीयत फुर्तीली होती है तो स्वर्ग का सुख अनुभव करते हैं और रोग में नरक का दुःख झेलते हैं। क्रोध या लोभ का भूत सवार हो गया तो समझिये कि नरक में पड़ गये; दया, उदारता की भावना उठती है तो स्वर्ग-सा लगता है।

व्यायाम करना, हित और मित भोजन करना, आहार-व्यवहार दुरुस्त रखना पुण्य है; क्योंकि इसके फलस्वरूप हमें तन्दुरुस्ती मिलती है। उद्योग करना, निरालस होना यह भी पुण्य की निशानी है; क्योंकि इसके कारण दरिद्रता भागती है और लक्ष्मी आती है।

पुण्य क्षीण होते ही हम स्वर्ग से गिर मृत्यु-लोक में आ पड़ते हैं। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति' अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर याने मिथ्या आहार-विहार, व्यायाम के छोड़ने से, गन्दी हवा और गन्दे वातावरण में रहने से, कुसंग करने से हमें दुःख और रोग-शोक का सामना करना पड़ता है। हम शुभ कर्म करके मरते हैं और लोग हमारी मृत्यु पर परिताप करते हैं तो हम स्वर्ग में गये हैं, ऐसा मानना चाहिए, अन्यथा नरक में। यदि स्वर्ग-नरक यहीं है तो फिर उन्हें दूर खोजने की आवश्यकता कहां?

सभी धर्मों में स्वर्ग और नरक के बहाने लोगों को अच्छे सलूक से चलने का उपदेश दिया गया है। साधारण बुद्धि के लोगों को हम कहें, "अच्छा करोगे तो स्वर्ग, और बुरा करोगे तो नरक पाओगे", तो उसका उनके मन पर असर होता है। इस जीवन में जिन्होंने ऐश-आराम, खाना-पीना और विषय को ही सुख

माना हो, जिन्हें सुख में आकर्षण और दुःख का भय हो, उन्हें अवश्य ही स्वर्ग का लोभ दान-पुण्य और भलाई की ओर खींचता है और नरक का डर बुराई से हटाता है। पर यह लोभ या डर साधारण लोगों तक ही परिमित है। जो लोग गहरी कौड़ी लाते हैं उन्हें स्वर्ग और नरक में खोखलापन लगता है।

फिर भी, मनुष्य हानि-लाभ की सम्भावना से काफी प्रभावित होता रहता है। मनुष्य लोभ तथा डर का पुतला है। तो फिर मालूम होता है कि कुछ ऊंची सतह पर विचारनेवालों के लिए स्वर्ग-नरक की जगह पुनर्जन्म की योजना रखी गई।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

"यह न जन्मता है, न मरता है। यह शरीर के मरने पर भी मरेगा नहीं।" पर यह आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है। हिन्दुओं ने सर्वसम्मति से आत्मा को अजर और अमर माना है। शरीर की तो यहीं राख हो जाती है। उसका जन्म कहां? पर कहा गया है कि जबतक आत्मा मोह-माया और कर्म-बंधन में फंसी है तबतक शरीर धारण करती और छोड़ती रहती है:

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जैसे कपड़ा पुराना होने पर दूसरा कपड़ा पहन लिया जाता है, वैसे ही आत्मा भी पुराना चोला छोड़कर दूसरा शरीर बदलती है। यही पुनर्जन्म है। पर इतने से ही तो गुत्थी नहीं सुलझती।

वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि रक्त के एक छींटे में करोड़ों जीव हैं। इस हिसाब से हमारे शरीर में असंख्य जीव हैं। उनका अपना-अपना कर्म रहता होगा। उनकी बुद्धि और अहंकार भी अलग-अलग होंगे। जब हमारा शरीर जल जाता है तब उसके साथ वे सब असंख्य जीव भी जल जाते हैं। तो क्या वे भी जुलूस बनाकर सब-के-सब एक साथ ही एक ही शरीर में अपना अड्डा जमाते हैं? या अलग-अलग? यदि संयुक्त अड्डा एक ही शरीर में जमाते हैं तो क्या उन असंख्य जीवों का उनकी असंख्य मृत्युओं के बाद एक ही जन्म होता है? या अलग-अलग? यदि उनका अलग-अलग जन्म होता है तो किस हिसाब से? क्या उन सबके कर्म अलग-अलग थे?

यदि एक-एक शरीर में एक-एक आत्मा रहती है तो हमारे शरीर में असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों में असंख्य आत्माएं हैं। फिर अपने इस शरीर को हम

एक ही शरीर क्यों मानें ? कर्म भी एक ही का किया हुआ कैसे माना जायगा, जबकि इसके भीतर असंख्य स्वामी बैठे हैं ? 'राम का यह शरीर है' ऐसा न कहकर यह कहना होगा, "इन असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों के पुंज को लोग राम के नाम से पुकारते हैं।"

यदि सब जीवों के कर्म अलग-अलग नहीं हैं, एक ही हैं, यदि इस शरीर में रहनेवाले असंख्य जीवों का एक ही सम्मिलित कुटुम्ब है तो फिर इस कुटुम्ब की सीमा एक शरीर तक ही क्यों सीमित हो ? सारे विश्व के प्राणियों को भी हम एक ही सम्मिलित कुटुम्ब में क्यों न मानें ? और यह भी क्यों न मानें कि अन्त में हमारे सबके पाप-पुण्य एक ही थैले में जमा होकर साम्यवाद के सिद्धांत पर विश्व के सभी जीवों को उसके बंटवारे का अच्छा और बुरा हिस्सा मिलता है ?

पाप हिटलर ने किया पर भुगता जर्मनी ने, इंग्लैंड ने, अमरीका और अन्य देशों ने भी। हाथ में फोड़ा होता है तो दर्द तो हाथ में होता है, पर कष्ट तो सारे शरीर को भुगतना पड़ता है। कोई आश्चर्य नहीं, यदि हमारे पड़ोसी की करनी का फल हमें भी चखना पड़े, चाहे पूरा नहीं तो अधूरा, या अधूरे का भी अधूरा ही सही।

यदि आत्मा अनेक नहीं, एक ही हो तो फिर पुनर्जन्म की सारी कल्पना को सुधारना पड़ता है। जो नया शरीर बनता है, उसमें वही व्यापक आत्मा है, जो अन्य शरीरों में पहले से ही थी। जिस तरह आकाश सब जगह है, न किसी पात्र के फूटने से लोप होता है और न नये पात्र बनने से नया बनता है—वैसे ही यदि आत्मा सदा और सर्वत्र है तो फिर जन्म किसका ?

यह सही हो सकता है कि पुराने कपड़े की तरह जब शरीर जर्जर हो जाता है तो आत्मा नया चोला पहन लेती है। पर यह तो इतना ही हुआ कि जो व्यापक आत्मा पहले से ही असंख्य शरीरों में एकरस और सदा से व्याप्त थी, उसका अनेक शरीरों में से केवल एक शरीर जब जीर्ण हुआ तब उसकी जगह एक और नया शरीर धारण कर लिया—याने सहज अपनी सीमा का संकोच और विस्तार किया।

आकाश यदि असंख्य पात्रों में प्रविष्ट है और उनमें से एक पात्र पुराना होकर फूट जाता है और उसकी जगह नया पात्र आ जाता है तो इतना ही कह सकते हैं कि एक नया पात्र आया—पुनः एक पात्र आया। पर यह नहीं कह सकते कि आकाश ने पुनर्जन्म लिया। सर्वव्यापी आकाश तो जैसा था वैसा ही है। एक पात्र फूटा और एक बना। एक पात्र मरा और दूसरा जन्मा। पर जो मरा, वही नहीं जन्मा, तो फिर आत्मा ने असंख्य शरीरों के रहते-रहते एक नया शरीर धारण किया तो इसमें पुनर्जन्म किसका हुआ ?

गंगोत्री से गंगा चलती है तब उसमें थोड़ा-सा पानी होता है। फिर रास्ते में

चलते-चलते अनेक नदी-नाले उसमें मिल जाते हैं। ज्यों-ज्यों गंगा आगे सरकती जाती है, उसमें अनेक तरह का मैल, मिट्टी, भिन्न-भिन्न जाति के पत्ते, कूड़ा-कर्कट मिलता जाता है। शहरों के पास से गुजरती है तब उसमें मलमूत्र के गन्दे नाले भी मिल जाते हैं। वर्षा का पानी भी बीच-बीच में मिलता जाता है। जमुना, चंबल, गंडक, गोमती, घाघरा इत्यादि नदियां भी आगे चलकर मिल जाती हैं। सारा-का-सारा पानी हिमालय का ही नहीं होता। विन्ध्याचल का, आकाश का, मेघों का भी जल उसमें मिल जाता है। इस तरह अनेक तरह का मिश्रण होते हुए भी हम उसे गंगा के नाम से ही पुकारते जाते हैं। जिन नदियों का गंगा में लोप हो गया, उनके नाम और रूप दोनों मिट जाते हैं। इसीके साथ-साथ गंगा का कुछ पानी नहरों में बिखरकर गंगा में से निकल जाता है। वह पानी कौन-सा था, हिमालय का या विन्ध्य का, इसका कोई हिसाब नहीं। कई चीजें निकल गईं। कई नई मिल गईं। जो गंगा गंगोत्री से चली थी, वह समुद्र तक पहुंचते-पहुंचते बदल गई। गंगोत्री की गंगा और गंगासागर की गंगा में अन्त में इतना ही सादृश्य रह जाता है, जितना कि बैल और मगरमच्छ में। तब भी हम उसे कहते हैं गंगा ही, पर समुद्र में मिलते ही गंगा का नाम मिट जाता है। यही गंगा की मृत्यु हुई, यद्यपि गंगा का पानी तो समुद्र में पड़ा ही रहा।

फिर समुद्र में से पानी भाप बनकर आकाश में बादल होकर कई जगह बरस जाता है। जो पानी बरसा, उसमें गंगा का भी पानी था। चंबल, जमुना, गंडक, गोमती का भी था। हिमालय के भिन्न-भिन्न प्रदेशों का भी था और गन्दे नाले का भी था। वर्षा का यह पानी जो जगह-जगह से एकत्र हुआ था, वह अब कृष्णा, कावेरी, नर्मदा और ताप्ती में और अनेक जोहड़ों और पोखरियों में गिरा। तो क्या गंगासागर की वह गंगा वही थी जो गंगोत्री की थी ? गंगा से हमारा क्या तात्पर्य था ? और जब गंगा का पानी मरकर याने भाप बनकर ऊपर गया तो मृत्यु गंगा की हुई या सैकड़ों नालों और नदियों की ? और फिर जब उन्हीं का पानी बरसकर गिरा तो जन्म किसका हुआ ? गंगा का या मिश्रित नदी-नालों का या भिन्न-भिन्न पानियों का, गंडक और गोमती का ? और जब एक ही गंगा का पानी कई नदियों में गिरा तो क्या एक ही गंगा के कई जन्म हुए ? पर बात यह हुई कि न तो एक नदी की मृत्यु हुई, न एक नदी एक जगह जन्मी। कई पानियों का मिश्रण मरा जो कई जगह पुनः उद्भव हुआ। न गंगा अकेली मरी, न उसने एक ही शरीर धारण किया। तो फिर किसका जन्म और किसकी मृत्यु ? यह तो सारा-का-सारा साम्यवाद-सा मालूम होता है।

विश्व एक था, एक है, एक रहेगा। इसमें कोई परिवर्तन नहीं है। इसलिए न मरता है, न जन्मता है। कहीं से एक टुकड़ा लोप होता है तो कहीं उदय होता है।

पर जो लोप हुआ वही उदय हुआ, ऐसा नहीं कह सकते। पर यह भी कल्पना ही है।

पता नहीं, जब पुनर्जन्म कहते हैं तब इतना ही क्यों नहीं मानते कि कोई एक जन्म हुआ। किसका जन्म हुआ? जिसका हुआ उसीका। पुनर्जन्म हुआ, इसका इतना ही तात्पर्य क्यों न मानें जितना यह कहने का कि पुनः वर्षा हुई, पुनः खांसी आई या पुनः छींक आई। पुनः खांसी से इतना ही निर्देश होता है कि खांसी फिर से आई, न कि कोई खांसी थी, वह मरकर फिर से वही अपने संस्कार लेकर आ धमकी। पर जब कहते हैं, पुनर्जन्म हुआ, तब उसी वाक्य का हम दूसरा अर्थ कर लेते हैं।

बच्चा जब जन्मता है, बिलकुल अबोध होता है। धीरे-धीरे उसका बदन बढ़ता जाता है। मस्तिष्क का विकास होता जाता है। फिर बुद्धि फैलती है। अच्छी संगत से उसमें अच्छे गुणों का समावेश होता है, बुरी से ऐब आते हैं। फिर बाद में बदला-बदली चलती ही रहती है। कभी मोटा, कभी दुबला, कभी क्रोध, कभी दया। अनुभव के साथ ज्ञान बढ़ता है, या विलास में पड़कर ऐब बढ़ते हैं। इस तरह बाल्य, युवा और प्रौढ़ अवस्था आती है। बाल काले से सफेद हो जाते हैं। फिर वृद्धावस्था आती है।

अब जिसने इस पुरुष को बाल्यावस्था में देखा हो, वह बुढ़ापे में कैसे पहचानेगा? नाम वही रहा हो, पर मनुष्य तो वह है ही नहीं। हर पल परिवर्तन होता है और हर परिवर्तन में मृत्यु और जन्म, धाराप्रवाह गति से चलते ही रहते हैं। जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह भी एक नया परिवर्तन-मात्र है।

मरे मनुष्य का पानी बनकर न मालूम किस आम के फल का रस बनता होगा। उसका पृथ्वीतत्त्व न मालूम किस कटहल के फल में समाविष्ट होता होगा। इस तरह न मालूम उसके शरीर के कितने विभाग बनकर कितनी जगह पुनः उद्भव होते हैं या पुनर्जन्म लेते हैं। उसी तरह उनके आध्यात्मिक गुण-दुर्गुण भी क्या पता कितनों से उसे मिलते हैं और कितनी जगह उनका उद्भव होता है। उसके पाप-पुण्य या दुःख-सुख भी न जाने कितनों के हिस्से में आते हैं और न मालूम कितनों के पाप-पुण्य उसके हिस्से में आते हैं।

तो फिर उसकी आत्मा को सीमित मानना यह हमारी कूपमंडूकता ही तो है।

एक बात जंचती है। ज्ञानी के जन्म-मृत्यु छूट जाते हैं। वह मुक्त हो जाता है, यह सही है। जिसने जान लिया उसने शायद यह भी जान लिया कि इस ईश्वरीय साम्यवाद में जन्म-मृत्यु है ही नहीं। न कोई अपना है, न पराया।

पर कौन कहे, असलियत क्या है?

३. स्थूल और सूक्ष्म

स्थूल और सूक्ष्म के तुलनात्मक विवेचन में तत्त्ववेत्ताओं में चाहे मतभेद न रहा हो, पर साधारण जनसमाज स्थूल का ही उपासक रहा है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि स्थूल सामने है और सूक्ष्म परोक्ष है।

सोने की कदर इसलिए है कि उसके भीतर सूक्ष्म रूप से कीमत छिपी है। एक साधारण मनुष्य भी यह जानता है कि सोने का संग्रह प्रकारान्तर में जिन्सों का ही संग्रह करना है। पर नोट के भीतर सोना और कीमत दोनों ही सूक्ष्म रूप से निवास करते हैं, तो भी एक पिछड़ा हुआ गंवार नोट की अपेक्षा सोने की तरफ अधिक आकर्षित होता है—चाहे सोना एक सौ की कीमत का हो और नोट एक हजार का। और यदि पशु के सामने हम चारा, सोना और नोट तीनों चीजें रखें तो वह नोट और सोने को अग्राह्य मानकर चारे पर झपटेगा।

वात यह है कि सूक्ष्म बुद्धिगम्य वस्तु है। बुद्धि जितनी ही कुशाग्र और प्रखर हो,उतना ही अधिक हम सूक्ष्म की तह में उतर सकते हैं। असल में ज्यों-ज्यों हम गहरे पानी में उतरने लगते हैं त्यों-त्यों बुद्धि भी कुंठित होती जाती है और एक हद के वाद तो हमें केवल श्रद्धा से ही काम लेना पड़ता है। पर विवेकी की श्रद्धा मूर्ख की अंध-श्रद्धा नहीं है। समझदार की श्रद्धा के पीछे बुद्धि-प्रयोग हर हालत में जारी रहता है। इसलिए उसकी श्रद्धा को भी ज्ञान ही कहना चाहिए, चाहे वह ज्ञान सीमित और कुंठित ही हो।

पर उस सीमित ज्ञान और तर्क के आधार पर भी इतना तो हम समझ गये हैं कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का प्रभाव अत्यन्त विशाल है। स्थूल मरणान्त है, जड़ है, गम्य है; सूक्ष्म अनन्त है, अनादि है और अगम्य है।

मनुष्य की वनाई चीजों में ज्यादा-से-ज्यादा तेज चलनेवाला हवाई जहाज एक घण्टे में १,५०० मील जाता है, अर्थात् हम एक घण्टे में कराची से कलकत्ता पहुंच सकते हैं। पर गोली की रफ्तार इससे भी ज्यादा होती है, जो एक घण्टे में कोई ४,००० मील की रफ्तार से चलती है। ईश्वरकृत स्थूल चीजों में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और तारागण हैं, जिनकी गति काफी तेज है। पृथ्वी तो अपने अक्ष या धुरी पर २४ घण्टे में महज २५,००० मील की मंजिल तय करती है। सूर्य पृथ्वी से कई गुना वड़ा है। उसका व्यास ही ८,६६,००० मील लम्बा है, जो पृथ्वी के व्यास के सौ गुने से भी अधिक है। उसे यह चक्कर लगाने में प्रायः २५ दिन लग जाते है। हां, स्थूल होते हुए भी सूर्य पृथ्वी की तरह घन नहीं है।

पर इन सवकी तुलना में शब्द की—जो इनसे सूक्ष्म है—गति इतनी तेज है कि १०,००० मील से भी बेतार के यन्त्र द्वारा हमें एक सेकेंड में शब्द मिल जाता

है। रोशनी एक सेकेंड में १,८०,००० मील सफर करती है। इससे सूक्ष्म यदि मन को मानें तो उसकी गति का तो कोई माप ही नहीं; हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि मन की भी गति है और अत्यन्त वेगवान् है। यदि मन से आत्मा को और अधिक सूक्ष्म कहें तो उसकी कोई गति है या नहीं, यह भी बताने में हम असमर्थ हैं, अर्थात् ज्यों-ज्यों सूक्ष्म तत्त्व होते गये, उनकी शक्ति और गति भी बढ़ती गई।

आत्मा की गति भी होती ही होगी। अत्यन्त गतिशील वस्तु हमारी स्थूल आंखों से चलायमान नहीं दिखाई देती, वल्कि स्थिर ही लगती है। यही हाल आत्मा की गति का भी हो सकता है, अर्थात् गति हो भी तो हमारे पास उसके माप का कोई साधन नहीं।

अत्यन्त गतिशील वस्तु हमें स्थिर इसलिए दिखाई देती है कि हमारी आंख उस गति का अनुसरण नहीं कर सकती। हां, ऐसे कैमरे अवश्य होते हैं, जो काफी तेजी से चलती चीज की तस्वीर भी खींच सकते हैं। सूक्ष्म वस्तु के माप-तोल के लिए उतना ही सूक्ष्म यन्त्र चाहिए, जितनी कि वस्तु सूक्ष्म है।

वैज्ञानिक लोग पृथ्वी का कितना वजन है, यह वता सकते हैं। पृथ्वी ही क्यों, सूर्य कितना वड़ा है, चन्द्रमा का तोल क्या है, यह भी बता सकते हैं; पर अणुओं का भी अणु यह कितना छोटा है, उसमें कितना वजन है, उसका क्या माप है, यह हम नहीं वता सकते, क्योंकि उसके माप-तोल का हमारे पास कोई यन्त्र नहीं है। तो फिर मन और आत्मा तो अणु से भी सूक्ष्म ठहरे। उनका माप-तोल कैसे हो? जो हो, हमारी यह लाचारी भी सूक्ष्म की महत्ता को ही प्रमाणित करती है।

जल में एक शक्ति है। पर जल जव वाष्प वन जाता है तो वही शक्ति बहुत बढ़ जाती है। करीव चार सेर जल के साधारण वाष्प में एक घोड़े की जितनी ताकत होती है, और यही भाप यदि और भी सूक्ष्म हो तो इससे भी ज्यादा प्रचंड वेगवती वन जाती है। मतलव यह हुआ कि जल ज्यों-ज्यों सूक्ष्म होता गया त्यों-त्यों उसकी शक्ति बढ़ती गई।

नानकजी ने जव कहा, 'नानक नन्हे ह्वै रहो, जैसी नन्ही दूब। घास-पात जर जायंगे, दूव खूव की खूव,' तो उन्होंने यह कहा तो था किसी दूसरे ही प्रसंग में, पर इसमें से भी व्यापक अर्थ निकालें तो सूक्ष्म का माहात्म्य मिलता है। गेहूं के पौधे तो सूख जाते हैं, पर गेहूं के ५,००० हजार साल पुराने बीज मोहेंजोदड़ो और मिस्र के पिरामिड में मिले हैं। उनमें अव भी अंकुर विद्यमान हैं। वट के वीज में हजारों साल सूक्ष्म रूप से वट निवास करके मिट्टी-जल में मिलकर फिर वही महाकाय वृक्ष वन जाता है।

संसार में जितने रंग हम देखते हैं, वे सारे-के-सारे सूर्य की किरणों से हमें मिले हैं, और फिर भी सूर्य की किरणें कब रंग देती हैं, कैसे रंग देती हैं, इसका

हमें पता नहीं। हमें विज्ञान बताता है कि सूक्ष्म की शक्ति, गति और जिन्दगी स्थूल से अनेक गुनी अधिक है, और यदि हम ऐसी एक वस्तु की कल्पना करें जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो तो फिर तर्क से यह भी माना जा सकता है कि उस सूक्ष्मतम की शक्ति अनन्त है और आयु भी अनन्त है।

जल वाष्प बनकर प्रचण्ड शक्ति-सम्पन्न हो जाता है तो क्या यह न मानें कि मनुष्य की मृत्यु ही उसका अन्त नहीं है ? जल से वाष्प बनता है, यह जल का अंत नहीं है तो फिर मनुष्य-शरीर का अन्त मनुष्य का अन्त क्यों ? संभव है, उसका सूक्ष्मीकरण कुछ नये गुल खिलाता हो, कुछ नई शक्ति पैदा करता हो।

कहते हैं, स्थूल शरीर जो हमें दिखाई देता है, असल में तो यह परमाणुओं का एक पुंज है। वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि परमाणु के भीतर एक एलेक्ट्रोन और दूसरा प्रोट्रोन होता है जो कि भिन्न दिशाओं में करोड़ों चक्कर एक सेकेंड में लगाते रहते हैं। क्यों लगाते हैं, यह हमें पता नहीं।

अब मनुष्य मर गया, जल गया, गड़ गया, डूब गया, तो भी उन परमाणुओं का नाश तो हुआ नहीं। परमाणु तो फिर भी उसी गति से चक्कर लगाते रहेंगे। जो बुनियादी चीज थी, वह तो सर्वदा है। जो पुंज था, वही मात्र बिखर गया।

महात्मा गांधी मर गये तो क्या उनका सचमुच अन्त हो गया ? जिन अणु और परमाणुओं के समूह से वह बने थे, वे परमाणु आज भी हैं। उसी तरह चक्कर काटते हैं। उनके विचार संसार के सामने हैं, उनकी कीर्ति मौजूद हैं। उनका तप जिन्दा है। हमारे पास इन सब चीजों को देखने का कोई साधन नहीं। इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया। पर हमें क्या खबर कि आगे चल-कर क्या हुआ ? जल से वाष्प बना, फिर क्या हुआ ?

परमाणुओं से भी सूक्ष्म जो शक्ति है, उसका हुलिया तो वैज्ञानिक भी नहीं बता पाते। पर यदि सूक्ष्मतम का साक्षात्कार करने में हम विवश हैं तो क्या यह मानें कि बस एक हद के बाद केवल एक दीवार है और सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम-जैसी कोई चीज है ही नहीं ? बात तो यह है कि इस सूक्ष्मीकरण का कोई अन्त नहीं दीखता। हम विवश हैं, इससे सूक्ष्मतम असिद्ध नहीं होता।

एक मिट्टी के टुकड़े को पीसते जाइये। उसके अणु-अणु बना डालिये, फिर भी उसको और सूक्ष्म बनाने की गुंजाइश रह ही जायगी। हमारे पास कोई साधन नहीं है कि हम उन परमाणुओं को इतना सूक्ष्म कर दें कि उसके आगे और सूक्ष्मीकरण की कोई गुंजाइश ही न रहे। कोई परमाणु या परमपरमाणु ऐसा नहीं है, जो अविभाज्य हो। सूक्ष्मतम के बाद भी सड़क आगे चली ही जाती है, जिसपर हमारी कल्पना-शक्ति भी दौड़ने में असमर्थता प्रकट करती है।

विज्ञान यह तो बताता है कि स्थूल से सूक्ष्म ज्यादा करामाती है, पर सूक्ष्म का अंतिम रूप क्या है, यह कोई नहीं बता सकता। उसका क्या रूप है, क्या गुण

है, क्या शक्ति है, इसे किसी ने नहीं जाना।

इसी सूक्ष्मतम को तो लोग 'राम' या 'ईश्वर' के नाम से नहीं पुकारते ? जो हो, वह धनुषधारी राम, जो कुछ सांवले-से रंग का है, जो सीता और अपने भाइयों के साथ सिंहासन पर बैठकर दया का दान देता है, जो कभी दण्ड भी देता है, जो कभी मन्द मुस्कान करता है तो कभी क्रोध से भृकुटि चढ़ाता है, जो कमललोचन अपने भक्तों के लिए अमृत और अभक्तों के लिए विष बनता है, उस राम का इस सूक्ष्मतम से हुलिया नहीं मिलता। गांधीजी का राम उपर्युक्त राम से अवश्य भिन्न था।

हमारे पूर्वज कुछ अजीव लोग थे, जो खाते थे, पीते थे, पहनते थे, भोग भोगते थे, नाच-रंग भी करते थे, शराब भी पीते थे, पर इसीसे उन्हें सन्तोष नहीं होता था। भोग तो भोगा पर फिर पूछने लगे, इसके बाद क्या ? इसके पीछे क्या ? इस खोज में शायद और लोगों ने इतनी जहमत नहीं उठाई जितनी हमारे पूर्वज आर्यों ने। कितना जान गये यह तो कौन बतावे, पर 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरउच्यते' कहकर उन्होंने इतना इशारा तो कर ही दिया कि वह 'कूटस्थ' नाश होनेवाला सूक्ष्म 'अक्षर' कुछ न्यारी चीज है। उस कूटस्थ अक्षर की उपासना कहो या खोज कहो, वे लोग करते ही रहे। इस खोज में उन्होंने जंगल की राह ली।

सूक्ष्म का जो वर्णन आज वैज्ञानिक लोग करते हैं, वह केवल उन आरण्यक सभ्यतावाले आर्यों का समर्थन-मात्र है।

हमारे पूर्वजों के पास माइक्रोस्कोप नहीं थे और गहरे पानी में उतरने के बाद माइक्रोस्कोप या टेस्टट्यूब की जरूरत भी नहीं रहती। जरूरत रहती है विचार और मनन की। उसी मनन द्वारा सूक्ष्म की खोज करते-करते उन्होंने लोगों से कहा कि एक कूटस्थ है, जिसका नाश नहीं होता और उसीका नाम ईश्वर है। वह ईश्वर पुण्यशील को सुख देता है और पापी को दुःख। पुण्यशील से उनका तात्पर्य उससे था जो परोपकारी हो और पापी उनकी नजर में वह था जो पीड़क हो। 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।'

इतनी गहरी खोज और इतनी क्लिष्ट भाषा के बाद यह सीधा-सादा कथन आकाश से गिरने-जैसा लगता है। पर यहां अबुद्ध और बुद्ध के नुस्खों का समन्वय मालूम होता है। विज्ञान किस काम का, यदि उसका उपयोग सर्वसाधारण न कर सकें ? हम जिस रोटी को खाते हैं, उसके पीछे अनेक क्रियाएं पड़ी हैं। बीज का अंकुरित होना, पौधा उगना इत्यादि से लेकर आटा पीसना और रोटी बनाने तक की अनेक चमत्कारिक क्रियाएं एक सीधी-सी रोटी के पीछे हैं। पर उससे सर्वसाधारण को क्या मतलब ? जन-समाज को एक क्लिष्ट आविष्कार का निचोड़ सीधी-सादी भाषा में समझा देना, यही वैज्ञानिक का काम है। 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानांकर्मसंगिनाम्' कहकर उन्होंने यह स्वीकार भी कर लिया कि हम मूर्खों

की ही भाषा में समझा रहे हैं।

विद्युत्-विद्या एक जटिल शास्त्र है, जिसे समझने के लिए प्रगाढ़ पांडित्य की जरूरत है। पर हमें एक सीधी-सी भाषा में समझाया गया है कि बिजली में भी नर और नारी का भेद होता है। नर-चुम्बक दूसरे नर-चुम्बक को धक्के मारता है, पर नारी-चुम्बक से लिपट जाता। हम पूछते हैं कि ऐसा क्यों होता है? वैज्ञानिक लोग लाख हमें क्लिष्ट भाषा में समझाते भी हैं, पर नासमझ को इतना ही अन्त में बताकर सन्तोष करना पड़ता है कि यह बिजली का नियम है। क्यों है, इसका कोई उत्तर नहीं। अपढ़ों के लिए भाषा भी प्राकृत होती है और एक हद के वाद तो जो पढ़े-लिखे हैं, वे भी अपढ़ ही हैं। इसलिए तो अन्त में सरल भाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है। 'सूक्ष्मत्वादविज्ञेयम्' सूक्ष्म होने के कारण से जाना नहीं जाता, ऐसा गीताकार ने कहा है। संभव है, इसीलिए हम सब अपढ़ों के लिए यह 'मोर मुकुट मकराकृति कुंडल' वाला वंशीधर रचा गया हो।

तो यह तो सही है कि जो हम देखते हैं, उतना ही नहीं है। इस दृश्य जगत् के पीछे एक अदृश्य सूक्ष्म है, जो 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' है, जो कभी नष्ट नहीं होता।

पर संसार का सौंदर्य केवल सूक्ष्म से ही नहीं है। हलवा भी उन्हीं अणु-परमाणु और एलक्ट्रोन और प्रोटोन का वना है और कड़वी तूमड़ी भी उन्हीं अणु-परमाणुओं की वनी है। सोना और चांदी दोनों ही उन्हीं अविभाज्य अणु-परमाणुओं से बने हैं। पर जो कड़वी तूमड़ी और हलवे को या सोने और चांदी को एक ही वस्तु करार देता है, वह निरा मूर्ख है। जिन्दा और मुर्दा दोनों एक ही परमाणु-पुंजों से बने हैं, पर एक लालन-पालन योग्य है तो दूसरा जलाने लायक है। अच्छी तस्वीर की क्या कीमत, यदि हम कहें कि यह तो केवल रंगों का पुंज-मात्र है और रंगों के डिब्बे और एक सुन्दर तस्वीर में कोई फर्क नहीं?

ईश्वर का ऐश्वर्य और सूक्ष्म की करामात किस काम की, यदि संसार अणु-परमाणुओं से ही भरा हो और स्थूल का कहीं नाम भी न हो?

हम जब कहते हैं कि भले की भलाई ही होती है और बुरे की बुराई, तो इसका प्रदर्शन भी तो स्थूल में ही होता है। वात यह है कि सूक्ष्म स्थूल के विना अपूर्ण है। ईश्वर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है। यदि सूक्ष्म 'सत्यम्' और 'शिवम्' है तो स्थूल 'सुन्दरम्' है, बल्कि 'शिवम्' स्थूल में भी वर्त्तमान रह सकता है। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के अणु-परमाणुओं से वना हुआ उपकारक जल इसका प्रमाण है।

सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से सूक्ष्म, यही ईश्वर की कहिये या प्रकृति की कहिये, निरन्तर होती रहनेवाली अपरम्पार लीला है।

४. गति और प्रगति

एक जमाना था जब कि आज की तरह यात्रा का सुभीता नहीं था। हवाई जहाज तो चले ही न थे, मोटर सुनने तक को ही थी, रेल सब जगह न पहुंच पाई थी, सड़कें भी कम थीं। फिर राजपूताना तो और भी पिछड़ा हुआ ठहरा। हमारे गांव से नजदीक-से-नजदीक जो स्टेशन था, वह ५५ मील दूर था। इसलिए जहां भी जाना होता था, वहां ऊंट या रथ की सवारी का ही उपयोग करना पड़ता था।

रथ अक्सर औरतों का वाहन माना जाता था, इसलिए आम लोगों की सवारी ऊंट ही थी। अच्छा ऊंट घंटे में १० मील जा सकता था। साधारण ऊंट घंटे में ५ मील तय करते थे। यह उस जमाने की गति थी।

एक मरतबा मुझे लगातार ६ दिन सुबह से शाम तक ऊंट की सवारी करनी पड़ी थी। पर उस समय कोई थकान मालूम नहीं दी। मुझे अब लगता है कि थकान का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं, शायद मन से भी हो, क्योंकि आज मैं यह पाता हूं कि चार घंटे के वायुयान के सफ़र में जितना मानसिक श्रम पड़ता है, उतना श्रम उन दिनों ऊंट की ४ दिन की सवारी में नहीं पड़ता था।

जिन-जिन रास्तों से मैं ऊंट पर गुजरा हूं, उनके सजीव चित्र वर्षों बाद अब भी मेरी आंखों के सामने नाचते हैं। 'टोलियासर की भर', 'इंदोखली जोहड़ी', 'झुंझनू की वीड़ी', 'मूहाणे की वणीड़', 'मोड़ो डूंगर'—इस तरह के सैकड़ों स्मारक स्मृति पर जम गये हैं, क्योंकि ऊंट पर गुजरते हुए जो दृश्य आंखों के पट पर गिरते थे, उन्हें फ़ुरसत के साथ हजम करने का हमें मौका मिलता था। उन पर नुक्ताचीनी होती थी। 'अब की दफे कालू का खेत फीका जान पड़ता है', 'इस ढाव में पिछले साल तो पानी एक पुरस था; अब की बेर तो कम जान पड़ता है', 'वह पीपल कहां गया, जो मुहमदिये जोहड़े के टीले पर था'—इस तरह के प्रश्न-परिप्रश्न, उत्तर-प्रत्युत्तरों में आस-पास का भूगोल चिपट-चिपटकर हमारे मन पर पूरा अंकित हो जाता है। मनोवृत्ति भी ऐसी बन गई थी कि विलम्बित गति सुखदायक मालूम होती थी। पर रेल में बैठते ही द्रुत गति ने मानसिक समतौल को अचानक हिला दिया। ऊंट के सफर का मापतोल अलग था। कल हम पिलानी थे, आज झुंझनू पहुंच गये। दिन तो एक बीता, पर अन्तर तय किया केवल २५ मील का। वही भूमि, वही भाषा, वही प्रदेश, वही चाल-चलन, सब चीजें वही। समय बीता, उसका असर हुआ, पर आस-पास की परिस्थिति में कोई परिवर्तन न हुआ, इसलिए मन आसानी से समय की गति के साथ मेल रखता रहा। अब रेल के सफर में स्थिति बदल गई। कल कलकत्ता थे तो आज दिल्ली पहुंच गये। सारा ढंग बदल गया। नया दृश्य, नई भाषा, नया वातावरण। पुराना

नेह-नाता एक ही दिन में टूट गया, नया आया। मन को इन सब जोड़-तोड़ों में क्या परिश्रम होता है, यह शायद कम लोगों ने नापा होगा। पर इनमें श्रम होता है, थकान होती है।

हम अंधेरे में से अचानक उजाले में आते हैं तो आंखों में चकाचौंध होने लगती है। आंखें खुली रखने में कुछ पल तक श्रम पड़ता है। कुछ पल के बाद उस परिवर्तन के हम आदी हो जाते हैं। पर हरएक क्षण यदि हमें बारी-बारी से अन्धकार और उजाले का मुकाविला करना पड़े तो हमारा शरीर और मन— दोनों थक जायं। रेल के सफर में दृश्य जिस तेजी से वदलते हैं, उसकी अपेक्षा समय धीमी गति से चलता है। दोनों की रफ्तार का समन्वय टूट जाता है।

रेल में अब 'ढाणी का जोहड़ा' और 'स्वामी की कुई' इतनी तेजी से हमारी आंखों से ओझल हो जाते हैं कि उनकी निरख या पहचान की तो फुरसत ही नहीं मिलती और इसलिए इन सवका साथ छूट जाता है। अब तो केवल तार के खम्भे या ऐसे दृश्य हमारे साथी रह जाते हैं, जो तेजी से भागते-दौड़ते आंखों में घुसते हैं और मानों घुसने के पहले ही निकल जाते हैं। सूझे तो क्या और समझ में आये तो क्या ?

फिर भी स्मृति को कुछ तो भोजन चाहिए। इसलिए स्टेशन-भर से सन्तोष किया। दिल्ली के बाद गाजियावाद आया, कानपुर, इलाहावाद, मुगलसराय आया, फलां स्टेशन आया। वाद में सो गये और सुवह हावड़ा पहुंच गये। सारा-का-सारा चित्र ऐसा है, मानो एक हजार पन्ने की एक पुस्तक को एक पृष्ठ की एक लाइन यहां से, एक लाइन वहां से पढ़कर समाप्त किया और कह दिया कि पोथी पढ़ ली। क्या पढ़ ली और क्या समझे, यही हाल दिल्ली-हावड़ा की रेल-यात्रा का समझिये। ऊंट की यात्रा में जो भूगोल से सम्वन्ध था, वह तो गया। अति शीघ्र परिवर्तन के कारण मानसिक समतौल प्राप्त करने में प्रयास करना पड़ा वह अलग।

पर अब तो वायुयान चला। कलकत्ता से चले और ३।। घंटे में दिल्ली पहुंच गये। रास्ते-भर इंजिन का घोंघाट रहता है। न कोई स्टेशन है, न तार के खम्भे। कोई शहर दिखाई दे तो भी कुछ पहचाना नहीं जाता।

कलकत्ता से निकलते ही हम गंगा को बाईं ओर, दामोदर को दाहिनी ओर छोड़ देते हैं। जिसे पता हो वही पहचानता है कि यह गंगा है और यह दामोदर। पर यह भी झटपट आंखों से ओझल हो जाता है। कुछ देर वाद नीचे की जमीन लाल दिखाई देती है। पहाड़ दीखने लगते हैं तब पता चलता है कि झारखंड से गुजर रहे हैं। इसके वाद फिर गंगा प्रकट होती है, जो सांप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी आगे-आगे पसरी हुई दिखाई देती ही रहती है।

जो लोग उत्तरवाहिनी का माहात्म्य वखानते हैं, वे वायुयान से देखें कि एक

जगह नहीं, सैकड़ों जगह गंगा उत्तरवाहिनी हो गई है। सैकड़ों जगह पश्चिम और दक्षिणवाहिनी है।

जैसे कोई शराबी लड़खड़ाता हुआ अपने ध्येय की ओर चलता जाता है, वैसे ही गंगा भी हिमालय से समुद्र तक अपने ध्येय की तरफ अग्रसर अवश्य होती जाती है, पर समय की, जमीन की और पानी की बरबादी करती हुई। यदि रेल या नहर की तरह सीधी चलती-चलती पहुंचती तो बहुत किफायत होती। जमीन बचती, समय कम लगता, पानी कम खर्च होता।

पर ईश्वरीय करतूतों में कोई व्यवस्था या किफायत नजर नहीं आती। बादल पानी बरसाता है तो किसी जगह ज्यादा, किसी जगह कम। कोई बादल छोटा, कोई मोटा, कोई काला, कोई सफेद। एक तरह की अराजकता-सी होती है।

लोग मिलों में कपड़ा बनाते हैं, चीनी बनाते हैं, इसमें जरा बानगी में अन्तर पड़ता है तो व्यापारी कहता है: साहब, कपड़ा सोलह आने इकसार नहीं आता। एक तार से इकसार तो है ही, धोती की जगह साड़ी तो नहीं बना डालते। पर शिकायती शिकायत करते ही रहते हैं। हां, ईश्वर से कोई नहीं पूछता—आपके बादल काले, पीले, सफेद, मोटे, पतले हजारों तरह के क्यों होते हैं? नदियां सीधी क्यों नहीं जातीं? कोई व्यवस्था है ही नहीं। कहीं २० इंच पानी डाल दिया, कहीं सूखा पड़ा है...मनुष्य के मापदंड से तो यह काफी अन्धेर है। पर यह तो विषयान्तर हुआ।

बात यह है कि वायुयान में चढ़ने पर जमीन के साथ जो थोड़ी-सी आत्मीयता बच रही थी, वह भी चली गई। पर सबसे बड़ी कठिनाई तो दिल को झटपट बदलने में पड़ती है।

कलकतिया दिल लेकर मैं ४ घंटे पहले कलकत्ता से चला था। हरीसन रोड, बालीगंज, मैदान, गवर्नमेन्ट हाउस को भूलने भी न पाया था कि यहां मुलाकात होती है. राष्ट्रपति-भवन से, लोदी गार्डन से। मन की गति ही अजीब है। समय कम रफ्तार से चलता है, फासला बड़ी तेजी से।

आपने देखा होगा कि अभी आप अपने नौकर को जोरों से डांट रहे हों; आंखें लाल-पीली, मुंह उग्र हो, बदन कांपता हो, पसीना छूटता हो—उसी दम आपके मालिक या पूज्य आ जायं तो झट आप उनका स्वागत करते हैं, विनम्रता दिखलाते हैं। अब कहां तो वह उग्र कोपाग्नि और कहां वह बरफ-सा ठंडापन! इस अचानक परिवर्तन में बड़ा प्रयास करना पड़ता है। उससे कितनी थकान होती है, इसका माप करने से ही पता चलता है। वही हाल वायुयान की यात्रा का समझिये। बंगला दिल लेकर चलते हैं और फिर कुछ घंटों में ही दिल्लीवाला दिल लेकर उतरते हैं। यह बड़ी कठिनाई है। चाहे और लोगों को न हो, मुझे तो है।

सुना है कि चीनी लोगों का फासला मापने का अजीब तरीका है। उनका माप प्रयास से सम्बन्ध रखता है, न कि फासले से। एक गांव ३ मील सीधी सड़क परहो और दूसरा गांव ३ मील पहाड़ की चट्टान पर हो तो एक का फासला ३ मील और दूसरे का २० मील या कुछ इतना ही माना जाता है। यह तरीका सही है या गलत, यह बहस-तलब बात हो सकती है, पर इसमें कुछ बुद्धि की बात है जरूर। क्या फायदा यह कहने में कि साहब, दोनों गांव ३-३ मील की दूरी पर हैं? एक सेर सोना और एक सेर मिट्टी को क्या एक ही समझा जायगा? तो क्या सभी घंटे, घंटे ही होते हैं? कौन-से घंटे? ऊंट के ४ घंटे या वायुयान के ४ घंटे? सुख के ४ घंटे या अत्यन्त वेदनावाले ४ घंटे? कवि का 'सब दिन होत न एक समान' कविता में प्रयोजन दूसरा रहा हो, पर 'सब घंटे होत न एक समान' भी कम सही नहीं है।

मैं नहीं कह सकता कि पिलानी और झुंझनू का ३।। घंटे का फासला ऊंट के सफर से और दिल्ली और कलकत्ता का ३।। घंटे का फासला वायुयान से—इन दोनों में से कौन-सा फासला अधिक है, कौन-सा कम है। कहना यह है कि फासले या समय के माप की यह सारी-की-सारी उलझन अभी सुलझनी बाकी है।

हर गति की गति को पहचानने के बाद, असलियत क्या है—इसका निर्णय होगा। सम्भव है, यह निष्कर्ष निकले कि न कोई दूर है, न निकट। लन्दन दिल्ली से, बनिस्बत दिल्ली-लखनऊ के निकट भी हो सकता है और दूर भी, और दोनों का अन्तर एक हो सकता है, नहीं भी हो सकता।

सवाल यह है कि हम काल और दिशा को किस दृष्टि से देख रहे हैं? आपकी बीवी अपने बच्चे की मां भी है, अपने पिता की बेटी भी है, बाबा की पोती भी है, भतीजे की चाची भी है, नौकर की राक्षसी भी है, पड़ोसिन की बैरिन भी है। तो कैसे कहें कि वह सभी की प्राणवल्लभा है?

बात यह है कि हम अभी अज्ञानी हैं और अज्ञानियों ने हर चीज का जो गलत-सही माप क़ायम कर लिया, उसको श्रद्धा से मानकर बेवकूफी से तोते की तरह दोहराते जाते हैं?

कहते हैं, सबसे तेज गति रोशनी की है, जो एक सेकंड में १,८०,००० मील की रफ्तार से चलती है। अनेक तारे ऐसे हैं, जिनकी रोशनी को हमारी इस पृथ्वी पर पहुंचने में एक हजार साल लग जाते हैं। यह भी हो सकता है कि सन् ९६० में किसी तारे की रोशनी अपने जन्म-स्थान से चलकर अब यहां पहुंची हो और इसके पहले उस तारे का नाश भी हो चुका हो। ऐसा हो तो भी वह रोशनी सन् १९६० से हमारी इस पृथ्वी पर टिमटिमाना शुरू कर देगी और तारे की मृत्यु-तिथि से लेकर पूरे एक हजार साल तक टिमटिमाती ही जायगी। वह तारा किसी के लिए तो मर चुका, पर हमारे लिए जबतक उसकी रोशनी पहुंचती है,

वह जिन्दा ही माना जायगा। तारे के बाशिन्दे तारे की मृत्यु के बाद वहां से निकलकर यहां पहुंचें तो उस तारे का फिर दर्शन कर सकेंगे। उनके लिए वह तारा भी मर गया था और अब जिन्दा भी है।

यहां भूत, वर्त्तमान और भविष्य सब एक ही हंडिया में खिचड़ी की तरह आपस में मिल-जुलकर एकरस हो जाते हैं। इतना ही नहीं, भूत भविष्यत् भी बन जाता है। गति का यह पहलू बड़ी गड़बड़झाला पैदा करता है।

पर मन की गति और भी तेज है। एक क्षण में हम दूर-दूर तक पहुंच जाते हैं। चूंकि मन की गति का कोई माप-तोल नहीं, इसलिए लोग उसे गति स्वीकार नहीं करते पर इसका भी कोई मापतोल तो होना ही चाहिए। मन की गति,गति क्यों नहीं ?

पुराणों में कथा आती है कि एक के लिए जो एक पल था, वह दूसरे के लिए एक युग साबित हुआ। सृष्टि का जीवन ब्रह्मा का एक दिन होता है और प्रलय उसकी रात्रि होती है। हमारी और ब्रह्मा की रात्रि का यह विशाल भेद इसलिए बताया गया है कि काल का कोई असली माप है ही नहीं। एक मिनट एक साल से भी लम्बा हो सकता है। यह साधारणतया उपहास की-सी चीज मालूम होती है। पर मिनिट छोटा ही है और साल लम्बा, यह कहना भी हर हालत में सही क्यों मानना चाहिए ?

वैज्ञानिक यह बताते हैं कि सपने में जो घंटों या दिनों तक हम भुगतते हैं, वह दरअसल तो एक क्षण की लीला होती है। घंटों का सपना एक मिनिट में खतम होता है। मन से हम बुढ़ापे की सैर करके कुछ क्षण के बाद वापस जवानी में आ जाते हैं और फिर बचपन में घुसकर फिर अपनी असली आयु में प्रवेश कर जाते हैं। इस तरह भी हम भविष्य, भूत और वर्त्तमान का सफर कर आते हैं। इसमें मजा यह रहा कि शरीर तो बैठा है पर मन तेजी के साथ कभी भविष्य, कभी भूत से टक्कर लेकर फिर वर्त्तमान में आ जाता है। पास में बैठने वाले लोग नहीं जानते कि हम सफर कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने न तो हमें बुढ़ापे की सुस्ती में पाया और न बचपन की खिलखिलाहट में। मन दौड़ता है, लेकिन देख सकता है। जब कोई पहिया तेजी के साथ घूमता है तब हमें वह कहां घूमता हुआ नजर आता है, स्थिर जैसा ही तो दीखता है !

कोई बता नहीं सकता, पर मन की गति से आत्मा की गति और भी सूक्ष्म होनी चाहिए, और इसका तमाशा तो और भी उलझन में डालनेवाला होता होगा।

हम सौ साल जिन्दा रहते हैं और एक कीड़ा एक क्षण जिन्दा रहता है। दोनों को जन्म, शैशव, युवावस्था और बुढ़ापे में से गुजरकर मृत्युघाट पर पहुंचना होता है। क्या जो अनुभव हमने एक सौ साल में किया, वह सारा-का-सारा कीड़े ने एक क्षण में न किया होगा? सम्भव है, एक ही क्षण में वह कीड़ा भी

पढ़-लिखकर कालेज में बी० ए०, एम० ए० पास करके, नेता वनकर, मन्त्री-पद लेकर अपनी संसार-लीला समाप्त करके, अपने असंख्य अनुयायियों को दुःखसागर में निमग्न करके, लीला-विस्तार समाप्त करके स्वर्गलोक को सिधारा हो !

लोग कहेंगे कि इतने छोटे क्षण में इतनी घटनाएं कैसे समा सकती हैं ? यही तो लोगों की नासमझी है। एक मिनिट के सपने में एक घंटा हम कैसे बिताते हैं ? छोटे-से अणु-वम में इतनी शक्ति है, यह किसने माना था ? रोज आप सुनते हैं 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे', फिर हमें शंका क्यों ? बात यह है कि काल और दिशा का हमारा यह मापदण्ड सारा-का-सारा झूठा है।

हमने आज तक माना है कि हमारे पांव नीचे की ओर हैं और सिर ऊपर की तरफ। इस विश्वास को मिटाना कठिन है। मिटाने की कोई जरूरत भी नहीं है हालांकि मैं यह नहीं कहता कि सिर ऊंचा और पांव नीचे, यही सही है।

हमारे यहां ठीक दोपहरी की वेला अमरीका में रात होती है। सूरज यहां हमारे सिर पर होता है और अमरीका में पांव के नीचे होता है। पर अमरीका का पांव और हमारा पांव एक-दूसरे की ओर होते हैं और अमरीका का सिर हमारे सिर से उलटी दिशा में होता है। जब हम कहते हैं कि हमारा सिर ऊंचा है तो इसका अर्थ यह हुआ कि अमरीका का पांव ऊपर की तरफ और उसका सिर नीचे की ओर है। तो फिर हर हालत में पांव नीचे और सिर ऊंचा कैसे बना रहा ? पर इस विश्वास को निभाना ही ठीक है। सत्य को जानने में कोई मजा नहीं है। भूलभूलैया में जो मजा है, वह ज्ञान में कहां ? इसलिए मानते रहिये कि सिर ऊंचा है और सुखी रहिये। इस भ्रम को मिटाने का प्रयास करना दुःख को निमन्त्रण देना है।

यह प्रगति अवश्य ही दुःखदायक है। जो फासला हमारे बाप-दादों ने, मार्कोपोलो, इब्नबतूता, अलबरूनी, फाहियान, हुएनसांग इत्यादि ने सालों में तय किया, उसे घंटों में तय करना वैसा ही है, जैसा एक साल का भोजन एक दिन में हजम करना।

पर करें तो क्या करें ? इधर कुआं, उधर खाई। नई गति ने तकलीफ पैदा कर दी है। जिस माप को हमने आजतक सही माना था, वह माप झूठा साबित होता है। पुराना अज्ञान जाता है और नया अज्ञान आता है। इससे उद्वेग होता है, कौतूहल होता है। अशांति होती है और क्लेश होता है। पर अब तो फंस गये सो फंस गये। निकल नहीं सकते।

एक बात है, इस गति का मुकाबला करने के लिए हमें युवकों पर भरोसा करना चाहिए। बूढ़े तो अब से पढ़ने लगे।

५. शास्त्र भी और अक्ल भी

हिन्दू-समाज में कोई सुधार की बात चली कि शास्त्र मोर्चे पर आ डटे। यही दशा अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन में भी हुई है। शास्त्रों के पन्नों की इस समय काफी उलट-पुलट है, यहां तक कि दोनों पक्षवाले शास्त्रों के अवतरण दे रहे हैं। गांधीजी ने भी पंडितों का आह्वान किया और उनसे शास्त्रों की व्यवस्था पूछी। पंडितों ने भी व्यवस्था सुनायी और श्री भगवानदासजी जो शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् हैं, इन व्यवस्थाओं को काशी के 'आज' पत्र के साथ 'क्रोड़-पत्र' के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं, जो सचमुच पढ़ने और मनन करने योग्य हैं।

शास्त्रों की इस छान-बीन का यह प्रयत्न इस तरह से मुबारक है, क्योंकि कम-से-कम इससे पुराने आर्य-इतिहास का कुछ पता तो चल ही जाता है। किन्तु जो बातें सीधी-सादी बुद्धि द्वारा समझ में आ सकती हों, उसमें ख्वाहमख्वाह शास्त्र को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना खतरनाक भी है।

हमने कब शास्त्रों से परामर्श किया था कि रेल, मोटर, हवाई जहाज, तार और बेतार का उपयोग करें या नहीं ? किसी जमाने में मारवाड़ी भाई, धार्मिक बाधा के नाम पर, विदेशी चीनी के कट्टर विरोधी थे। अब इन्हीं मारवाड़ी भाइयों ने, जैसे जावा और मॉरिशस में चीनी बनायी जाती है, उन्हीं तरीकों से चीनी बनाने के अनेक कारखाने खोले हैं, किन्तु कारखानों के पहले कभी उन्होंने शास्त्रों की व्यवस्था नहीं पूछी और पूछने की भी क्या जरूरत थी ? आखिर जो चीज हमें अपनी आंखों से साफ़ दिखायी देती हो, उसके लिए चश्मा चढ़ाना बेकार ही तो होगा।

एक प्रकांड शास्त्रज्ञ से गांधीजी ने अस्पृश्यता के सम्बन्ध में शास्त्र का मत पूछा, तो पण्डितजी ने यह कहा था कि हिन्दू-शास्त्र ऐसी वस्तु है कि जिस चीज की चाह हो उसकी पुष्टि में और साथ ही उसके खंडन में भी प्रमाण मिल सकते हैं। यह बात उन पण्डितजी ने शास्त्रों की मर्यादा घटाने को नहीं कही थी कही थी केवल वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए और उनकी इस उक्ति से हमारे लिए चौंक उठने का भी कोई कारण नहीं है। हिन्दू-धर्म में, जैसा कि ईसाई मजहब में एक ही धार्मिक ग्रन्थ 'बाइबल' है और मुसलमानों के यहां एक ही ग्रन्थ 'कुरान' है, ऐसा कोई एक चक्रवर्ती ग्रन्थ नहीं है। यहां तो सदा से विचार स्वातन्त्र्य रहा है। फलस्वरूप एक ही नहीं, चार वेद बने, एक नहीं, छह दर्शन बने, अनेक पुराण बने, अनेक उपनिषद् बने, यहां तक कि अल्लोपनिषद् भी बन गया। ज्यों-ज्यों बुद्धि का विकास बढ़ा, शास्त्र-साहित्य भी बढ़ता गया। शास्त्र के लिखने वालों ने देश-काल को सामने रखकर कुछ अच्छी-अच्छी बातें लिखीं, उन्हीं

शास्त्रों में पीछे से ऋषियों ने देश-काल का परिवर्तन देखकर फिर कुछ और जोड़ दिया। इस तरह कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ की बेसिर-पैर की बेहूदा बातें भी जा कहीं। जैसी जिस समय आवश्यकता हुई उसी तरह से यह जोड़-तोड़ भी बढ़ता गया। आर्य लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार और शास्त्रों का यही इतिहास है। इसलिए परस्पर विरोधी बातों का भी शास्त्रों में होना स्वाभाविक है। हिन्दू-शास्त्रों की महत्ता ही यह है कि विचार-स्वातन्त्र्य को कभी आसन-च्युत नहीं होने दिया। यही हमारी खूबी और ताकत रही है। इसीके बल पर हम आजतक जिन्दा हैं। हम निभा ले जायें तो हमारी यह खूबी ही हमारी ज़िन्दगी का बीमा होगी।

आर्य शास्त्रों में काफी कुन्दन है। इतना है कि अन्य किसी मजहबी ग्रन्थ में नहीं; किन्तु आम के साथ गुलठी भी है, रेशे भी हैं, इसलिए विवेक की आवश्यकता तो है ही। जो सर्वमान्य शास्त्र माने जाते हैं उनमें ऐसी बातों की कमी नहीं है, जो बुद्धि के प्रतिकूल और अप्रामाणिक हैं, और इसलिए अमान्य हैं। भागवत में लिखे गये भूगोल को क्या हम मानेंगे? पारद और गन्धक की उत्पत्ति की शिक्षा आचार्य राय से लेना अधिक प्रामाणिक होगा अथवा रस-ग्रन्थों के वर्णन से? सुश्रुत में लिखे गये भल्लातक के प्रयोग द्वारा एक सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त करने की बात पर विश्वास करके क्या किसी को सफलता मिल सकती है? बात यह है कि जिस प्रकार हम नित्य समाचार पत्र पढ़ते समय रायटर की खबरों और विज्ञापनों के बीच अपनी अक्ल से विवेक कर लेते हैं और विज्ञापनों के वाक्यों पर, चाहे वे कितनी ही चित्ताकर्षक बातों से क्यों न भरे हों, जैसे हम ज्यों-का-त्यों विश्वास नहीं करते, उसी प्रकार हमें शास्त्रों के सम्बन्ध में भी करना चाहिए। जो लोग हमें यह सिखाते हों कि हम बुद्धि को पृष्ठक्षेत्र में रखकर संस्कृत के ग्रन्थ की हर बात को वेदवाक्य मानें, वे एक प्रकार से शास्त्रों के बड़प्पन को घटाने की शिक्षा देते हैं।

वेद को हम ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, किन्तु जिस चीज़ को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उसकी सीमा भी अनन्त होनी चाहिए, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान सीमाबद्ध हो ही नहीं सकता। ईश्वरीय ज्ञान तो सम्पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट, प्राचीनतम और नूतनातिनूतन ही हो सकता है। किसी भी प्रकार का ज्ञान उसके बाहर नहीं छूट सकता। ऐसी हालत में यह भी मानना होगा, कि वेद केवल चार संहिताओं तक ही परिमित नहीं हो सकते। बेतार के तार का साहित्य चाहे चार संहिता-रूपी वेदों में न पाया जाये, किन्तु वह ईश्वरीय ज्ञान का अंश अवश्य है। इसलिए वेदों का वह भी एक भाग है। इस तरह हमें अपनी शास्त्र की कल्पना को भी विस्तृत बनाना होगा और अन्त में इस नतीजे पर पहुंचना होगा कि जितना भी ज्ञान-समूह है वह सभी शास्त्र है, और जो सच्चे ज्ञान से भिन्न है, वह चाहे संस्कृत भाषा में हो चाहे अरबी या अंग्रेजी में, सारा अशास्त्र है।

हिन्दू-समाज में वर्षों से अनेक विभाग बन गये हैं। अदृश्यता है, अस्पृश्यता है, अग्राह्यजलता है, असहभोजिता है और अवैवाहिकता है। इनमें अन्तिम दो विभागों से हम किसी को चोट नहीं पहुंचाते। हम किसी के यहां खाने को नहीं जाते, इसमें हम किसी का अपमान नहीं करते। न विवाह-शादी ही ऐसी चीज है कि किसी से सम्बन्ध करने से इन्कार करने में हम किसी के साथ अन्याय करते हों। इसलिए असहभोजिता और अवैवाहिकता कोई पाप नहीं; किन्तु किसी मनुष्य के दर्शन-मात्र को पापमय मानना (अदृश्यता) जैसे कि मद्रास प्रान्त में एकाध जगह प्रचलित है, या किसी के स्पर्श-मात्र को पातक समझना (अस्पृश्यता) ये दोनों ही अभिमानमूलक, पापमय वृत्तियां हैं, जो हिन्दू-धर्म की नाशक हैं।

शास्त्र कैसे कह सकता है कि हमारा यह अन्याय धर्म हो सकता है? इस सम्बन्ध में हमारी अक्ल की गवाही क्या काफी नहीं है? जो काम समाज की भलाई का हो, सदय हो, बुद्धि जिसका पोषण करती हो, गांधीजी-जैसे आप्त पुरुष जिसका समर्थन करते हों, वह निश्चय ही धर्म है।

ऐसे धर्म के खिलाफ जो सच्छास्त्र, सद्‌बुद्धि और सत्-पुरुषों द्वारा पोषित हो, यदि संस्कृत भाषा की कोई पोथी दूसरी बात कहे, तो ऐसी पोथी को शास्त्र कहना ऋषियों की महिमा को घटाना है। जिन ऋषियों ने शंख, मृगचर्म और बाघाम्बर को एवं कस्तूरी और चामर को ठाकुरजी के पास पहुंचाने में हिचकिचाहट नहीं की, वे ऋषि चार करोड़ जीवित मनुष्यों को देवदर्शन से वंचित रखने की व्यवस्था लिख जायें, यह कदापि सम्भव नहीं। वे इस समय यदि जिन्दा होते तो वे भी वही बात कहते जो आज गांधीजी कह रहे हैं। प्रस्तुत कथन केवल इतना ही है कि हम शास्त्र भी पढ़ें और साथ ही कुछ अपनी अक्ल से भी काम लें। भगवान् कृष्ण के इस वचन की भी कुछ इज्जत करें:

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ।"

मार्च, १९३३

६. आचार बनाम प्रचार

गांधीजी ने 'हरिजन सेवक संघ' के विषय में लिखते हुए एक बार परामर्श दिया था कि संघ का खर्च इस प्रकार हो कि कुल व्यय में से नब्बे फीसदी तो सीधा हरिजनों की जेबों में ही पहुंच जाये। पिछली बार जब संघ की बैठक पूना

में हुई, तो उस सवाल पर काफी बहस हुई। प्रश्न यह था कि कुल बजट में से प्रबन्ध और प्रचार-कार्य पर कितने फीसदी व्यय किया जाये ? प्रबन्ध-सम्बन्धों व्यय का तो अर्थ है केवल दफ्तर का खर्च, जैसे मकान-किराया, मंत्री आदि का वेतन, कागज, कलम, दवात, डाकव्यय, मार्गव्यय इत्यादि। इस प्रश्न पर निर्णय करने में तो कोई कठिनाई नहीं हुई। सर्वसम्मति से यह तय हो गया कि प्रबन्ध पर बीस फीसदी से अधिक व्यय न किया जाये। असल कठिनाई तो प्रचार के सम्बन्ध में उठी। प्रचार-कार्य में व्यय को मर्यादित करना एक तरह से हरिजन संघ के मूल उद्देश्य पर कुठाराघात करना है, ऐसी कई लोगों की सम्मति थी। उनकी दलील यह थी कि "आखिर अछूतपन एक मानसिक रोग है, जिससे सवर्ण हिन्दू पीड़ित हैं। उसकी एकमात्र दवा है सवर्ण हिन्दुओं में प्रचार करना और वह भी सवर्ण हिन्दुओं द्वारा। हरिजनों में भी सफाई, शराब-बन्दी, मुर्दार-मांस-बहिष्कार की आवश्यकता है, किन्तु उसकी पूर्ति के लिए भी जरूरत है प्रचार की। यदि सौ-दो सौ छात्रवृत्तियां दे दीं; सौ-पचास कुएं बनवा दिये; दस-बीस नये मन्दिर तैयार करवा दिये तो इससे अछूतपन थोड़े ही दूर हो गया। सार्वजनिक मन्दिरों में भी हरिजनों को बेरोक-टोक दाखिल करवाने में प्रचार की ही आवश्यकता है।" यह संक्षेप में ऐसे लोगों की दलील थी, जो प्रचार-व्यय को संकुचित या मर्यादित नहीं करना चाहते थे।

चूंकि प्रचार-कार्य के व्यय को मर्यादित करने में जबरदस्त आग्रह गांधीजी का था, इसलिए इन सारी दलीलों को उन्हीं के सामने रख देना उचित जान पड़ा। जो कुछ उन्होंने कहा, बिना किसी बहस के सदस्यों ने उसे मान लिया। उन दिनों उपवास के कारण महात्माजी की शक्ति क्षीण थी, इसलिए भी लोगों ने ज्यादा बहस न की। किन्तु एक बात स्पष्ट मालूम होती थी कि लोगों ने अपने दिलों में आधुनिक प्रचार-कार्य की शक्ति का अन्दाज कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कर रखा था। प्रचार के सम्बन्ध में लोगों का जितना आग्रह था उससे कहीं अधिक आग्रह गांधीजी का था। गांधीजी स्वयं भी एक जबरदस्त प्रचारक हैं। गांधीजी का जो विरोध था वह था केवल वैतनिक प्रचार के संबंध में। वैतनिक प्रचारक और स्वयं अपने आचरण द्वारा संसार को शिक्षा देनेवाले प्रचारक में कितना अन्तर है, इस बात की लोग प्रायः अवहेलना करते थे। यद्यपि यह तय हो गया कि प्रचार पर कम-से-कम खर्च किया जाये, किन्तु इस निर्णय से शायद बहुत कम लोगों को संतोष हुआ। इसलिए इस सम्बन्ध में विशेष विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

प्रश्न यह है कि अछूतपन मिटाने के लिए आधुनिक प्रचार अधिक कारगर हो सकता है या रचनात्मक कार्य द्वारा हरिजनों की सेवा ? ऐसे भी सज्जन हैं, जिन्हें यह भय है कि पढ़ने-लिखने से और बढ़ते हुए असन्तोष के कारण हरिजन

विधर्मी बन जायेंगे। वे भी करीव-करीव प्रचार-पक्षियों की-सी ही दलीलें देते हैं और सेवा-कार्य के बजाय धार्मिक प्रचार पर ज्यादा जोर देते हैं। गांधीजी भी हरिजन-कार्यक्रम को धार्मिक कार्य ही मानते हैं; किन्तु मतभेद यह रह जाता है कि यह धर्म-यज्ञ प्रचार से सफल हो सकता है या सेवा-कार्य से ? अतः पहले प्रचार और प्रचारक के सम्बन्ध में ही हम विचार कर लें।

यह बात साधारण मनुष्य भी जानता है कि जब हमें किसी अध्यापक की आवश्यकता होती है तो हम ऐसे व्यक्ति की तलाश करते हैं, जो अपने विषय का पूर्ण पंडित हो। यह किसी को बताने की जरूरत नहीं कि इतिहास के पंडित को कानून पढ़ाने की चेष्टा उसका दुःसाहस-मात्र होगा। अध्यापक ही क्यों, मोटर चलाने-जैसी साधारण क्रिया के लिए भी तो हम सिद्धहस्त व्यक्ति को ही पसन्द करना चाहेंगे। तो भी धार्मिक शिक्षा के बारे में हम यह मान बैठते हैं कि कोई भी मनुष्य चाहे उसका आचरण कितना ही शंकास्पद क्यों न हो, संस्कृत के श्लोकों का साधारण अनुवाद कर सकता हो तो धार्मिक शिक्षा के लिए उपयुक्त हो सकता है ! किसी कुशाग्रबुद्धि मनुष्य का केवल इतना ही ज्ञान, कि मोटर चलाने के लिए अमुक रीति से क्लच (Clutch) दबायी जाती है और हाथ का चक्का फिराया जाता है, उसे मोटर-ड्राइवर बनने का अधिकारी नहीं बना देता। यदि उसने अच्छी तरह से मोटर चलाने का अभ्यास नहीं किया है, तो केवल उसके काल्पनिक ज्ञान के आधार पर न तो उसे मोटर चलाने का लाइसेंस ही मिल सकता है, न ऐसे व्यक्ति द्वारा चलायी मोटर में बैठकर कोई अपनी जान ही जोखिम में डालना चाहेगा। किन्तु मोटर-ड्राइवरी-जैसी साधारण वस्तु के लिए जितनी छान-बीन करते हैं, ठीक उसके विपरीत धार्मिक शिक्षा-जैसी महान् वस्तु के लिए हम यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि धार्मिक शिक्षक बनने के लिए गीता के श्लोकों का अनुवाद के रूप में जमा-खर्च ही पर्याप्त नहीं है। काल्पनिक ज्ञान के अलावा शिक्षक में आचरण की भी, या यों कहिए केवल आचरण की ही आवश्यकता है।

काल्पनिक ज्ञान न भी हो, गाड़ी चल सकती है। किन्तु धर्माचरण के बिना धार्मिक रक्षा के लेन-देन का कोई अच्छा नतीजा हो ही नहीं सकता। इस समय धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों के कुछ अद्भुत विचार बन गये हैं और यही कारण है कि धार्मिक शिक्षा, धार्मिक प्रचार के नाम पर धन का इतना निष्फल व्यय हो रहा है।

प्राचीन काल में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पाने के लिए देवताओं के राजा इन्द्र सत्याचरणी प्रजापति के पास गये, तो उन्होंने इन्द्र को ३२ वर्ष तक ब्रह्मचारी रखा और फिर उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। वास्तव में उपदेश तो क्या दिया, ब्रह्मचर्य-पालन कराकर और अपना आदर्श सामने रखकर ब्रह्मा ने इन्द्र से

धर्माचरण ही कराया। शाब्दिक ज्ञान भी दिया, किन्तु असल ज्ञान का तो आचरण द्वारा ही सम्पादन कराया गया। यह कोई असाधारण घटना नहीं थी, क्योंकि आखिर तो धर्म सीखने के लिए धार्मिक पुरुषों की संगति और स्वयं धर्माचरण करना ही सार-वस्तु है। उस समय का एक मामूली तरीका था कि राजा-महाराजा लोग धर्म-जिज्ञासा के लिए धर्माचरणी ऋषि-मुनियों के पास (वैतनिक प्रचारकों के पास नहीं) जाया करते थे तथा स्वयं धर्माचरण द्वारा धर्म-लाभ किया करते थे। वास्तव में, धर्म का प्रचार एक मशीन की क्रिया की भांति वैतनिक प्रचारकों द्वारा (जिनका आचरण उनके कथनानुसार हो या न हो) उतना ही हास्यप्रद है, जितना कि एक काल्पनिक ज्ञान रखनेवाले के द्वारा मोटर का चलवाना।

प्राचीन काल में जब-जब धर्म की हानि हुई तब-तब लोगों ने अधर्म को हटाकर धर्म की स्थापना के लिए तप का आसरा लिया—प्रचार का नहीं। कहते हैं कि त्रेता में जब धर्म का अत्यन्त ह्रास हो गया, तब ऋषियों को धर्मोद्धार की चिन्ता हुई। उस समय संसार इतना आचरण-हीन हो गया था कि तुलसीदास-जी के शब्दों में :

"अस भ्रष्ट-अचारा भा संसारा, धर्म सुनिय नहिं काना"

बेचारी पृथिवी (जनता) भी अकुला उठी। काफी सोच-विचार के बाद ऋषि-मुनियों के पास पहुंची तथा अपना दुखड़ा रो सुनाया। ऋषि-मुनि भी हैरान थे। यदि आजकल का जमाना होता, तो 'प्रोपेगैण्डा' (प्रचार) की सूझती, किन्तु वे थे अनुभवी लोग, इसलिए ऐसी भूल सम्भव न थी। आखिर सब पहुंचे प्रजापति के पास और वहां परामर्श होने लगा। किसी ने कहा; नारायण से प्रार्थना की जाये। परन्तु इनमें ऐसे भी लोग थे, जो यह नहीं जानते थे कि नारायण कहां मिलेंगे? किसीने कहा कि वैकुंठ तक दौड़ लगानी चाहिए, तो किसीने कहा कि वह तो क्षीरसागर में मिलेंगे। बूढ़े महादेव बाबा भी वहीं उपस्थित थे। उन्हें लोगों का यह अज्ञान अखरा तो बोले :

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
देशकाल दिशि-विदिशहु मांहीं कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।"

आखिर सब समझदार तो थे ही, बात समझ में आ गयी और लगे तप करने। अन्त में उनका तप सफल हुआ और आकाशवाणी हुई :

"हरहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव-समुदाई।"

हमारे इतिहास-पुराणों में अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना के लिए ऋषि-मुनियों ने बार-बार सत्य, तप तथा अहिंसा का आसरा लिया है, यह सुप्रसिद्ध बात है। सती को शिवजी की चाह हुई तो तप किया। प्राचीन काल में धर्म-प्रचार के लिए आधुनिक प्रचार-जैसी कोई वस्तु विद्यमान रही हो, ऐसा नहीं

जान पड़ता।

बहुत-सी बातें हमें पश्चिम से मिली हैं। वैतनिक प्रचार भी उनमें से एक है। अखबारों, पुस्तकों, पर्चों, कारखानों एवं बिजली द्वारा मुद्रण तथा भाषण-प्रसार इत्यादि प्रचार की आधुनिक शैलियां हैं। इन साधनों द्वारा खूब प्रचार होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु इनके द्वारा सत्य का प्रचार भी हो सकता है या नहीं, यह प्रश्न तो सन्देहास्पद है। गोलमेज कान्फ्रेंस में जाते समय गांधीजी के साथ पत्र-संवाददाता भी थे। एक ने लिख मारा कि गांधीजी के साथ एक प्यारी पालतू बिल्ली है, जिसे गांधीजी अपने साथ खिलाते तथा सुलाते हैं। दूसरे ने यह लिख मारा कि गांधीजी ने प्रिन्स ऑव वेल्स के पैरों पर अपना सिर रखकर अभिवादन किया था। कुछ ने गांधीजी के बारे में और भी उलटी-सीधी बातें लिख मारीं। इनमें दो तो गांधीजी के मित्रों में से थे। इसलिए गांधीजी ने उन्हें डांट बतलायी, किन्तु उन्होंने हंसकर कह दिया कि कुछ नमक-मिर्च लगाये बिना खबर फबती नहीं। सारांश यह है कि महात्माजी के लाख प्रयत्न करने पर भी झूठ का प्रचार होता ही रहा।

लन्दन में गांधीजी ने अखबारवालों की एक सभा बुलायी और असत्य समाचार छापने की शिकायत की। 'डेली हेरल्ड' वालों ने, जो मजदूर पक्ष का मुख्य पत्र है, और जो कुछ अंशों में सच्चे पत्रों में से गिना जाता है, बहाना बनाने के लिए यह कहा कि इसमें हमारा क्या दोष है? हमें तो जैसी खबरें मिलती हैं, छाप देते हैं। गांधीजी ने उत्तर में कहा, "मैं अपने खर्च से तुम्हें सच्ची खबरें पहुंचाऊंगा, क्या तुम उन्हें छाप दोगे?" तब तो सन्नाटा छा गया। गांधीजी की यह चुनौती उन्होंने स्वीकार न की।

आज भी तरह-तरह की झूठी बातों का प्रचार नये-नये साधनों द्वारा सहज ही हो रहा है। गत महायुद्ध में तो इन्हीं साधनों द्वारा काफी झूठ का प्रचार किया गया था। इसमें साधनों का दोष नहीं है। बात यह है कि इन साधनों के संचालक व्यापारिक दृष्टि से इनका उपयोग करते हैं। चूंकि उनका ध्येय पैसा कमाना-मात्र ही होता है, न कि सत्य-प्रचार, इसलिए मनोरंजन के लिए या ठकुरसुहाती के लिए उन्हें असत्य का भी आश्रय लेना ही पड़ता है। वैतनिक प्रचारकों के द्वारा लोगों को हम यह भले ही दिखा दें कि अमुक चाय ही सबसे अच्छी चाय है तथा अमुक बनावट की सिगरेट ही सबसे बढ़िया सिगरेट है, किन्तु धर्म का प्रचार इस तरह की विज्ञापनबाजी से सम्भव नहीं।

तप से विज्ञापन नहीं फैलता, ऐसी बात नहीं है। सिगरेट तथा चाय की विज्ञापनबाजी तो थोड़े ही दिन जी सकती है, मगर महापुरुषों के जीवन का कीर्त्ति-गान आज भी हमारे पुराण हजारों वर्षों बाद उसी तरह गा रहे हैं। लाख प्रस्तावों और व्याख्यानों ने जो काम नहीं किया, वह गांधीजी के एक उपवास ने

कर दिखाया। जिस प्रचार के पीछे केवल धन की शक्ति रहती है, वह जीवित नहीं रह सकता। तप का यश अमर होता है। धन के बल पर कोई धर्म फैला हो इसका इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता। हां, धन के बल पर तबलीग (Conversion) और शुद्धियां अवश्य हुई हैं, किन्तु इनके कारण धर्म (दैवी सम्पदा) नहीं फैला। श्रीकृष्ण भगवान् ने जब गीता कही, तब अर्जुन से कहा :

"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।"

इनका 'गोपनीयं' 'गोपनीयं', कह देने पर भी गीता का यश विश्वव्यापी इसलिए हो गया कि इसके पीछे इसके वक्ता का सात्विक तेज एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्य था। प्रचार से यहां विरोध नहीं है। तात्पर्य यह है कि धार्मिक प्रचार बिना तप के हो ही नहीं सकता। जैसे बिना बारूद के बन्दूक की गोली बेकार है, वैसे ही बिना तप के प्रचार सो भी वैज्ञानिक प्रचारकों द्वारा। यह धन का निष्फल व्यय है। कठोपनिषत्कार ने लिखा है :

"न नरेणावरेण प्रोक्त एषः सुविज्ञेयः"

अर्थात्—अनाप्त पुरुष द्वारा कहा हुआ ज्ञान हृदयंगम नहीं हो सकता।

उपर्युक्त बातों से सिद्ध है कि अछूतोद्धार को यदि हम धर्म-प्रचार का एक अंग मानते हैं तो वह प्रचार से नहीं, तप से ही सफल हो सकता है और तप के माने हैं सेवा। जो समझते हैं कि सौ-दो सौ छात्रवृत्तियां क्या काम कर सकती हैं, वे भूल जाते हैं :

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

निःस्वार्थ भाव से की गयी छोटी-सी सेवा भी हजारों व्याख्यानों और अन्यान्य आधुनिक धर्म-प्रचार-मार्गों से लाख दर्जे अच्छी है।

२५ अगस्त, १९३३

७. ईश्वर भजन अर्थात् लोक-कल्याण

कुछ महीने की बात है—एक सज्जन ने गांधीजी को लिखा कि अब आप संसार में थोड़े ही दिनों के मेहमान हैं, इसलिए बेहतर यह है कि आप सारे काम-धाम को छोड़कर अपना अन्तिम समय हरि-भजन में बितावें। गांधीजी ने जो उत्तर भेजा, उसका भावार्थ यह है :

"आपने लिखा सो ठीक है, पर हम अन्तिम समय को ही ईश्वर-भजन में बिताएं और बाकी जीवन में बेफिक्र रहें, यह सारी भावना भूल-भरी है—हमारी गर्दन तो हर क्षण काल के हाथों में पड़ी है, इसलिए सारा-का-सारा जीवन ही अन्तिम घड़ी है, ऐसा मानना चाहिए। और मेरी बात तो यह है कि मेरा प्रतिक्षण ईश्वर-भजन में ही व्यतीत होता है।"

गांधीजी का यह कथन कोई अनोखा नहीं है। जो लोग भजन का अर्थ आंख मूंदकर बैठ जाना करते हैं, उन्हें चाहे यह बात कुछ आश्चर्यमय-सी भले ही लगे। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है : "यज्ञः कर्म समुद्भवः"—यज्ञ का कर्म में ही समावेश है। 'नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।" किसी भी मनुष्य का एक क्षण भी कर्म के विना नहीं बीतता। प्रश्न इतना ही है कि वह कर्म 'स्व' के लिए होता है या 'पर' के लिए। जो कर्म 'पर' के लिए है, वही यज्ञ है। स्वार्थी लोग जिस तरह आसक्त होकर अपने लिए कर्म करते हैं, महापुरुष अनासक्त होकर निरन्तर लोगों के कल्याण के लिए कर्म करते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा—मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, पर

"यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।"

यदि अंगड़ाई लेने की भी फुरसत लिये विना मैं काम में न लगा रहूं, तो लोग भी आलसी बन जायेंगे।

गांधीजी की भी आज वही हालत है। बिना विश्राम लिये वह हर क्षण 'पर' के लिए कर्म करते हैं, अर्थात् उनका यज्ञ बराबर चलता ही रहता है। फिर क्यों न वह कह सकें कि मैं हरि-भजन में लगा हुआ हूं ?

अक्तूबर, १९३८

८. ध्रुवोपाख्यान

: १ :

ध्रुव ब्रह्मा का वंशज था। ब्रह्मा की पीढ़ी का विवरण देने में भागवतकार ने अधर्म को भी ब्रह्मा की सन्तान बताया है और यह सही भी है। धर्म और अधर्म दोनों ईश्वर की सृष्टि के भीतर हैं। बाहर तो कोई चीज हो भी कैसे सकती है ? पर अधर्म का वंशवृक्ष देने में भी कवि का उद्देश्य था। अधर्म की भयावनी पीढ़ी का उल्लेख करके भागवतकार ने पाठकों को इतना भयभीत कर दिया, जिससे

मनुष्यों को अधर्म के पास फटकने में भी डर लगे। अधर्म की पीढ़ी का विस्तार से वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि अधर्म की पत्नी का नाम था मृषा (असत्य)। मृषा के दो बालक हुए। एक का नाम माया, दूसरे का दम्भ। दोनों भाई-बहनों ने परस्पर विवाह कर लिया। इनकी संतान हुई लोभ और निकृति (शठता)। लोभ और निकृति की सन्तान हुई क्रोध और हिंसा। इनकी सन्तान थी कलि और दुरुक्ति। फिर इनकी सन्तान हुई भय और मृत्यु, और अन्तिम सन्तान हुई यातना तथा निरय। भागवत में मैत्रेय ने विदुर से कहा कि इस वंश-वृक्षावली का जो तीन बार श्रवण करेगा, वह पाप से छूट जायगा। सच भी है, क्योंकि जिस स्थिति का अन्त भय और मृत्यु के बाद यातना तथा निरय अर्थात् क्लेश और नरक हो, उसमें किसको क्या आसक्ति या आकर्षण हो सकता है? अधर्म की पीढ़ी तो ब्रह्मा के वंशवृक्ष की एक शाखा थी।

पर वहीं ब्रह्मा की दूसरी शाखा का भी विवरण है। ध्रुव इसी दूसरी शाखा की सन्तान थे। कहा गया है कि ब्रह्मा की सन्तान स्वायंभुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे। उत्तानपाद यथा नाम तथा गुणः। उत्तानपाद (पांव फैलाया हुआ) दो घोड़ों पर पांव फैलाता था। कवि ने कहा है कि उत्तानपाद की दो पत्नियां थीं। एक का नाम था सुरुचि और दूसरी का नाम था सुनीति। राजा उत्तानपाद को सुरुचि से प्रेम था, अर्थात् राजा की अच्छी चीजों में रुचि थी और साथ ही सुनीति की ओर भी उसका मन था। वह आग और पानी दोनों से एक साथ खेलना चाहता था। पर सुरुचि और सुनीति में बड़ा अन्तर है। सुरुचि, अच्छी रुचि भी मनुष्य का गुण तो है। अच्छी रुचिवाले को गंदगी पसन्द न होगी, स्वास्थ्यकर भोजन से ही उसका प्रेम होगा, उसमें शिष्टता और विनम्रता होगी। साहित्य, संगीत और कला से उसका प्रेम होगा; पर इसी बल पर तो मनुष्य वैतरणी नहीं तर सकता। उसके लिए तो कठिन साधना चाहिए और उसके लिए सुनीति की आवश्यकता है। प्रेय भले ही प्रिय लगे, पर श्रेय तो श्रेय में ही है। सुरुचि प्रेय हो सकती है, पर श्रेय तो सुनीति है। सुरुचि में कोई जोखिम नहीं है। उधर सुनीति से प्रेम करना खांडे की धार पर चलने के समान है। सुरुचि में जिन्दगी चैन से कट सकती है, पर सुनीति के चाहनेवाले को तो अपने सिद्धान्तों के लिए मर मिटना भी पड़ता है; किन्तु राजा उत्तानपाद तो दो घोड़ों पर चढ़ना चाहता था। इसलिए यद्यपि सुरुचि और सुनीति उसकी दो पत्नियां थीं, तथापि सुरुचि में फंसकर सुनीति से उसका प्रेम ढीला हो गया। फल यह हुआ कि राजा का सुरुचि की सन्तान के प्रति आकर्षण बढ़ गया और सुनीति की सन्तान के प्रति उदासीनता आ गई। सुरुचि के पुत्र का नाम था उत्तम। राजा को उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, उत्तम रहन-सहन, उत्तम कला और संगीत का प्रेम अपनी ओर खींचता था और सुनीति की सन्तान ध्रुव—अचल, जो शाश्वत है, जो सत्य है,

उससे उदासीनता हो गई। इसलिए जब ध्रुव ने भी राजा की गोद में बैठना चाहा और यह चाहा की राजा उसे भी प्यार करे तो सुरुचि ने बाधा दी। ध्रुव अपमानित हुआ। आखिर सुरुचि और सुनीति में संघर्ष तो होना ही था।

अपमानित ध्रुव किस तरह अपनी मां के पास जाकर रोया और किस तरह माता ने ध्रुव को तप करने के लिए प्रेरित किया, यह कथा जगविदित है।

तप करने जाते हुए ध्रुव को रास्ते में नारदजी मिल गये। उन्होंने कुछ सार-मिश्रित सावधानी की बातें कहीं। तुम महज क्रोध में आकर कोई शठतापूर्ण कार्य तो नहीं करने जा रहे हो? इस आशय के सावधानी के वचन नारदजी ने ध्रुव से इस प्रकार कहे :

"यदि तुझे मानापमान का विचार हो तो भी मनुष्य के असन्तोष का कारण तो मोह के सिवा और कुछ नहीं होता, क्योंकि मनुष्य अपने कर्मानुसार लोक में मान-अपमान या सुख-दुःखादि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के वशीभूत होता रहता है।"[1]

"अतः हे तात, बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि भगवान की विचित्र गति देखकर दैववश उसे (दुःख-सुख या आदर-अनादर) जो कुछ भी प्राप्त हो, उसी में संतुष्ट रहे।"[2]

"दैव ने जिसके लिए जैसा विधान रच रखा है, उसके अनुसार ही वह सुख-दुःख भोगता है, इस विचार से अपने अन्तःकरण को संतुष्ट रखनेवाला पुरुष अज्ञान से पार हो जाता है।"[3]

"मनुष्य को चाहिए कि अधिक गुणवान को देखकर प्रसन्न हो, गुण में अपने से न्यून को देखकर दया करे और जो अपने समान गुणी हो, उसमें मित्रता का भाव रखे। ऐसा करने से वह कभी संतप्त नहीं होता।"[4]

शिक्षा अच्छी थी, पर इस शिक्षा और ध्रुव के निश्चय में कोई विरोध भी तो नहीं था। इसलिए ध्रुव अपने मार्ग से विचलित न हुआ। उसने समझ लिया कि नारदजी का कथन इतना ही है कि सिर्फ आवेश में आकर कुछ करने पर

---

१. विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसंतोषहेतवः।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः ॥२८॥

२. परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः।
दैवोपसादितं यावद् वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः ॥२९॥

३. यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः।
आत्मानं तोषयन् देही तमसः पारमृच्छति ॥३३॥

४. गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥३४॥

(श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्ध, ८वां अध्याय)

उतारू होना ठीक नहीं है। ध्रुव को नारदजी ने जब अपने व्रत पर दृढ़ देखा तो उन्होंने भी उसे आशीर्वाद दिया :

"बेटा, तेरी माता ने तुझे जिस मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है, वही तेरा कल्याण करनेवाला है। तू भगवान् वासुदेव का, उन्हींमें चित्त लगाकर, भजन कर।"[1]

"जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूपी अपने कल्याण का इच्छुक हो, उसके लिए इसकी प्राप्ति का साधन एकमात्र श्रीहरि का पाद-सेवन ही है।"[2]

इस तरह अन्त में नारदजी ने ध्रुव को प्रोत्साहन देकर भगवद्भजन का माहात्म्य भी बताया :

"इस प्रकार मन, वाणी और शरीर से भक्तिपूर्वक विविध सामग्रियों द्वारा मन में स्थित भगवान् की जब पूजा की जाती है तब भक्तिभाव के बढ़ानेवाले भगवान् निष्कपट भाव से भली-भांति भजनेवाले भक्तों को उनकी इच्छानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूपी श्रेय प्रदान करते हैं।"[3]

ध्रुव को नारद ने आशीर्वाद देकर विदा किया।

: २ :

ध्रुव ने कमर कसकर बड़ा कठोर तप किया और अन्त में उसे ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। अपने हृदय में और विश्व में स्थित ईश्वर, जो अबतक अन्तर्हित था, वह ध्रुव के समक्ष प्रकट हुआ। ध्रुव के प्रज्ञाचक्षु, जो अबतक बंद थे, खुल गये और "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" यह ध्रुव की स्थिति हो गई। इस आनन्ददायिनी घड़ी में ध्रुव के मुंह से सहसा प्रभु-स्तुति के पवित्र उद्गार निकलने लगे :

"जो सर्वशक्ति-सम्पन्न श्रीहरि मेरे अन्तःकरण में प्रवेश कर अपने तेज से मेरी सोई हुई वाणी को सजीव करते हैं, और कर, चरण, कर्ण तथा त्वचा आदि

---

१. जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते।
भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥४०॥

२. धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥४१॥

३. एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम्।
परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्यया ॥५९॥
पुंसाममायिनां सम्यग् भजतां भाववर्धनः।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद् धर्मादिषु देहिनाम् ॥६०॥

(श्रीमद्भागवत ४/८)

अन्य इन्द्रियों को भी चेतनता देते हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तम को मेरा प्रणाम है।"[1]

"भगवन्, आप अकेले ही अपनी अनन्त गुणमयी मायाशक्ति से महत्तत्व आदि जगत को रचकर उसके इन्द्रियादि असत् गुणों में जीव-रूप से प्रवेश कर इस प्रकार अनेकवत् भासते हैं, जैसे विविध प्रकार के काष्ठ में प्रविष्ट हुआ अग्नि अपनी उपाधियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से भासता है।"[2]

"अतः हे अनन्त, आपमें निरन्तर भक्तिभाव रखनेवाले शुद्धचित्त महापुरुषों से मेरा वारंवार समागम हो, जिससे मैं आपके गुणों के कथामृत का पान करने में उन्मत्त होकर अत्यन्त उग्र और नाना दुःखों से पूर्ण इस संसार को सुगमता से पार कर लूं।"[3]

"हे अज, पशु आदि तिर्यक् योनि, पर्वत, पक्षी, सरीसृप, देवता, दैत्य और मनुष्यादि से परिपूर्ण तथा कार्य-कारणों से युक्त आपके इस स्थूल शरीर को ही मैं जानता हूं। इसके सिवा, जिसमें वाणी की गति नहीं, उस आपके पर-रूप को मैं नहीं जानता।"[4]

"हे प्रभो, आप जीवात्मा से भिन्न अर्थात् पुरुषोत्तम हैं, क्योंकि आप नित्य-मुक्त, नित्यशुद्ध, चेतन, आत्मा, निर्विकार, आदिपुरुष, षडैश्वर्य-सम्पन्न, तीनों लोकों के स्वामी और अपनी दृष्टि से बुद्धि की अवस्थाओं को अखंड रूप से देखनेवाले हैं। संसार की स्थिति के लिए ही आप यज्ञ-पुरुष श्री विष्णु भगवान् के

---

१. योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्,
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥६॥

२. एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या,
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद् विभासि ॥७॥

३. भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसंगो,
भूयादनन्त महतामलाशयानाम्।
येनांजसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपान मत्तः ॥११॥

४. तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्यमर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम्।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥१३॥

रूप से स्थित हैं।"[1]

"जिनसे विद्या-अविद्या आदि विरुद्ध गतियोंवाली अनेक शक्तियां क्रमशः अहर्निश प्रकट होती हैं, उन विश्व की उत्पत्ति करनेवाले, एक अनन्त, आद्य, आनन्दमात्र निर्विकार ब्रह्म की मैं शरण हूं।"[2]

"भगवन्, आप ही परम पुरुषार्थ हैं, ऐसा समझकर जो निष्कामभाव से निरन्तर आपका भजन करते हैं, उन श्रेष्ठ भक्तों के लिए राज्यादि भोगों की अपेक्षा पुरुषार्थ-स्वरूप आपके चरण-कमलों की प्राप्ति ही भजन का यथार्थ फल है। यद्यपि यह भी ठीक है, तो भी गौ जैसे अपने तुरन्त के जन्मे हुए बछड़े को दूध पिलाती है और व्याघ्रादि से उसे बचाती है, उसी प्रकार भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए सदा विकल रहनेवाले आप—हम जैसे सकाम भक्तों को भी उनकी कामनाएं पूरी कर संसार-सागर से बचा लेते हैं।"[3]

ध्रुव का तप सफल हो गया। उन्होंने फिर घर में प्रवेश किया। राजा को सुरुचि के साथ-साथ अब सुनीति से भी प्रेम बढ़ा और ध्रुव का जी भरकर सत्कार किया। अन्त में, उत्तानपाद ध्रुव को सिंहासन पर बिठा स्वयं विरक्त होकर वन को गया।

: ३ :

ध्रुव की उत्तर-कथा भी बड़ी सुन्दर है।

राज-सिंहासन पर बैठकर ध्रुव प्रजा का पालन करने लगा। इसी बीच उसका सौतेला भाई उत्तम एक रोज हिमालय की तलहटी में शिकार खेलने गया। वहां यक्षों ने उसे कत्ल कर डाला। पीछे से सुरुचि उसे खोजने निकली और वह

---

१. त्वं नित्यमुक्त परिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखंडितया स्वदृष्ट्या,
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥१५॥

२. यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद् ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहमं प्रपद्ये ॥१६॥

३. सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म,
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमार्य भगवान् परिपाति दीनान्,
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥१७॥

(श्रीमद्भागवत ४/६)

भी जंगल की आग में जलकर भस्म हो गई।

ध्रुव ने जब यह घटना सुनी तो उसे काफी चोट लगी और वह वैर-भाव से व्याकुल होकर यक्षों से युद्ध करने निकल पड़ा। यक्षों की राजधानी का नाम था अलकापुरी। उसीपर उसने छापा मारा। यक्ष भी लड़ने में चतुर थे। उन्होंने भी छल, बल, कौशल से ध्रुव पर हर तरह का आक्रमण करना शुरू कर दिया। घोर युद्ध हुआ, पर विजय अंत में ध्रुव की हुई।

ध्रुव के बाणों ने यक्षों के शरीर के कवचों को छिन्न-भिन्न कर दिया। सारी रणभूमि यक्षों की लाशों से पट गई। यक्षों के शरीरों पर हार, बाजूबंद, कड़े, मुकुट आदि जो बहुमूल्य जेवर थे, वे यत्र-तत्र बिखरकर सैनिकों के मन को ललचाने लगे। यक्ष कुछ तो मारे गये, बाकी भाग गये। सारा रणक्षेत्र जीवित योद्धाओं से शून्य हो गया।

ध्रुव की विजय तो हुई; पर उसे तृप्ति न हुई। यक्षों की राजधानी अलकापुरी के देखने का लोभ तो अभी उसे बना ही था। शायद वह निःशस्त्र नगरी पर आक्रमण करना चाहता था। शायद नगरवासियों ने इस इच्छा को ताड़ लिया और उन्होंने अपना बचाव करने का प्रयत्न भी किया। पर ध्रुव तो प्रबल था। ध्रुव की फौज ने अब नगर पर बाण बरसाना शुरू कर दिया और निरपराध यक्ष बे-मौत मरने लगे।

अबतक लड़ाई हुई थी योद्धाओं के बीच। पर अब जब निर्दोष यक्ष मारे जाने लगे, तब ध्रुव के दादा स्वायंभुव मनु को बहुत बुरा लगा। ऋषियों को साथ लेकर वह एकदम वहां पहुंच गये और ध्रुव को इस हत्या से हटाने के लिए उन्होंने विवश किया। महाराज मनु ध्रुव से कहने लगे :

"बेटा, जिसके वश होकर तुमने इतने निरपराध यक्षों का वध किया है उस क्रोध को अब दूर करो। यह पापी क्रोध तो नरक का द्वार है।"[1]

"हे प्रिय, हे भ्रातृवत्सल, तुमने भाई के वध से सन्तप्त होकर एक यक्ष के अपराध पर अनेकों का वध कर डाला। यह कहां का न्याय है?"[2]

"इस जड़ शरीर को ही आत्मा मानकर इसके लिए पशुओं के समान प्राणियों की हत्या करना यह भगवान विष्णु में भक्ति रखनेवाले साधु पुरुषों का मार्ग नहीं है।"[3]

---

१. अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना।
येन पुण्य जनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥७॥

२. नन्वेकस्यापराधेन प्रसंगाद् बहवो हताः।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयांग भ्रातवत्सल ॥९॥

३. नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम्।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद् भूतवैशसम् ॥१०॥

"महान् पुरुषों के प्रति सहनशीलता, छोटों के ऊपर दया, समान स्थितिवालों के साथ समता का वर्ताव रखने से ही सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न होते हैं।"[1]

"हे पुरुषश्रेष्ठ, निर्गुण परमात्मा तो जगत् की उत्पत्ति आदि में केवल निमित्त-मात्र हैं, उन्हींके आश्रय से यह कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण प्रपंच चुम्बक के आश्रय से चलनेवाले लोहे के समान भ्रमता रहता है।"[2]

"हे ध्रुव, कालक्रम से गुण-प्रवाह में न्यूनाधिकता हो जाने से भगवान् की शक्ति में भी विषमता आ जाती है। उस शक्ति-वैषम्य से ही, भगवान अकर्त्ता होते हुए भी जगत् की रचना करते हैं, और संहार करनेवाले न होकर भी इसका संहार करते हैं। सचमुच उन सर्व-व्यापक प्रभु की लीला सर्वथा अचिन्तनीय है।"[3]

"हे ध्रुव, वह कालरूप अव्यय परमात्मा ही स्वयं अन्तर्हित होकर भी जगत् के अन्तक हैं। अनादि होकर भी सबके आदिकारण हैं। वह ही एक जीव से दूसरे जीव की उत्पत्ति कराते हैं और वह ही एक से दूसरे को मरवाकर उसका अन्त करनेवाले होते हैं।"[4]

"सम्पूर्ण प्रजा में समान भाव से प्रविष्ट हुए उन कालरूप परमात्मा का न कोई स्वपक्ष है, न कोई विपक्ष; किन्तु जैसे वायु के चलने पर रज-कण भी उसके साथ-साथ उड़ते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण जीव कर्मों के अधीन होकर कालरूप परमात्मा का अनुगमन करते हैं। अर्थात् अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःखादि भोगते हैं।"[5]

"राजन्, इन परमात्मा को ही कोई (मीमांसक) कर्म, कोई (चार्वाक) स्वभाव, कोई (वैशेषिक) काल, कोई (ज्योतिषी) दैव और कोई (वात्स्यायनादि

---

१. तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति ॥१३॥

२. निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत् ॥१७॥

३. स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या,
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता,
चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या ॥१८॥

४. सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तकम् ॥१९॥

५. न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा,
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसंघाः ॥२०॥

कामशास्त्री) काम कहते हैं।"[1]

"हे पुत्र, ये कुबेर के सेवक तुम्हारे भाई के हन्ता नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य के जन्म और मरण का वास्तविक कारण तो दैव ही है।"[2]

"एकमात्र वही संसार का सृजन, पालन और संहार करता है, तो भी अहंकार-रहित होने के कारण उसके गुण और कर्मों में लिप्त नहीं होता।"[3]

"तात, सम्पूर्ण भूतों के आत्मा ईश्वर और रक्षा करनेवाले प्रभु ही अपनी माया-शक्ति से युक्त होकर सब जीवों का सृजन, पालन और संहार करते हैं।"[4]

"इसलिए हे तात, नाक में नकेल पड़े हुए बैल जिस प्रकार अपने स्वामी का बोझा ढोते हैं, उसी प्रकार जगत् की रचना करनेवाले ब्रह्मादिक जिनकी आज्ञा का पालन करते हैं, उन संसार के आश्रय तथा (अभक्तों के लिए) मृत्यु और हिंसक (भक्तों के लिए) अमृतरूप श्रीहरि की तुम शरण लो।"[5]

"उन निर्गुण, अद्वितीय, अविनाशी, अपने वैरभाव-रहित अन्तःकरण में स्थित और नित्यमुक्त परमात्मा को अन्तर्दृष्टि द्वारा ढूंढ़ो, जिसमें यह भेदभावमय प्रपंच मिथ्या ही प्रतीत होता है।"[6]

"ऐसा करने पर अन्तरात्मा आनन्दमात्र सर्वशक्ति-सम्पन्न भगवान् अनन्त में तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति होगी और उसके प्रभाव से तुम धीरे-धीरे 'मैं' व 'मेरापन' के

---

१. केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥२३॥

२. न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥२४॥

३. स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च।
अथापि ह्यनहंकारान्नाज्यते गुणकर्मभिः ॥२५॥

४. एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च ॥२६॥

५. तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम्।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति गावो
यथा वै नसि दामयन्त्रिताः ॥२७॥

६. तमेनमंगात्मनि मुक्तविग्रहे,
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम्।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग्
यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते ॥२८॥

रूप में दृढ़ता को प्राप्त हुई अविद्या-रूपी ग्रन्थि को काट डालोगे।"[1]

"अतः, राजन्, जिस प्रकार औषध से रोग शान्त किया जाता है, उसी प्रकार भगवान् के गुणों का निरन्तर श्रवण कर तुम कल्याणमार्ग के परमविरोधी इस क्रोध को शान्त करो। भगवान् तुम्हारा मंगल करें।"[2]

"जिसके वशीभूत हुए पुरुष से सब लोगों को अत्यन्त खेद होता है, अभय चाहनेवाले बुद्धिमान मनुष्य को उस क्रोध के अधीन नहीं होना चाहिए।"[3]

"इन्होंने मेरे भाई को मारा है, इस प्रकार क्रोधित होकर तुमने जो यक्षों का संहार किया, इससे तुम्हारे द्वारा भगवान् शंकर के सखा कुबेर का तिरस्कार हुआ है।"[4]

मनु ने ध्रुव को न केवल उपदेश ही दिया, वरन् यक्षों के अध्यक्ष कुबेर से क्षमा-याचना करने के लिए भी ध्रुव को दबाया। ध्रुव तो धार्मिक वृत्ति का पुरुष था। क्रोध में उसने गलती की थी। उसे तो इशारे-मात्र की जरूरत थी। मनु के उलहने ने उसे जाग्रत कर दिया। ध्रुव ने अपनी भूल को तुरंत समझ लिया और कुबेर से क्षमा-याचना की।

ध्रुव की इस क्षमा-याचना का कुबेर पर गहरा प्रभाव पड़ा। पड़ना ही था। दोनों ओर से अब वैर-भाव तो विदा हुआ और प्रेम का स्रोत बहने लगा। क्रोध से क्रोध बढ़ता है और प्रेम से प्रेम। इसलिए ध्रुव ने जहां अपनी गलती पहचानी कि कुबेर भी प्रेमसिन्धु में गोते खाने लगा। गद्गद् भाव से कुबेर ने ध्रुव से कहा :

"राजकुमार, तुमने अपने पितामह के उपदेश से, जिसका त्यागना अत्यन्त कठिन था, उस वैर को त्याग दिया, इसलिए हे अनघ, मैं तुमसे परम संतुष्ट हूं।"[5]

---

१. त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त,
आनन्दमात्र उपपन्न समस्तशक्तौ,
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या
ग्रन्थिंविभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥३०॥

२. संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम्।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथामयम् ॥३१॥

३. येनोपसृष्टात् पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम्।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः ॥३२॥

४. हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम्।
यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥३३॥

(श्रीमद्भागवत ४/११)

५. भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ।
यस्त्वं पितामहादेशाद् वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥२॥

"वास्तव में न तो तुमने यक्षों को मारा है और न यक्षों ने तुम्हारे भाई को; क्योंकि सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति और विनाश का कारण एकमात्र काल ही है।"[1]

"जिसके कारण वन्धन और दुःख आदि विपरीत अवस्थाओं की प्राप्ति होती है, वह 'मैं-तू' आदि मिथ्या-वुद्धि मनुष्य को अज्ञानवश स्वप्न के समान शरीर आदि में आत्मत्व का अभिनिवेश होने से ही भासती है।"[2]

"अतः ध्रुव, तुम्हारा कल्याण हो। अव तुम जाओ और संसार-पाश से मुक्त होने के लिए, सम्पूर्ण भूत-समूह जिनका स्वरूप है, जो (संसार की उत्पत्ति आदि के लिए) अपनी गुणमयी माया-शक्ति से मुक्त होकर भी वास्तव में निर्गुण हैं, तथा जिनके चरण-कमल सेवनीय हैं, उन संसार-पाश से छुड़ानेवाले भगवान् अधोक्षज को सम्पूर्ण भूतों का आत्मा समझकर भजो।"[3]

: ४ :

अन्त में कुवेर ने ध्रुव से कहा, "कुछ मांगो भी।" यद्यपि अपने लोगों के मरने से कुवेर को सन्ताप था तो भी कुवेर ध्रुव की इस शुभ प्रवृत्ति से प्रसन्न होकर उसे कुछ देना चाहता था। पर ध्रुव को भी क्या कमी थी! उसने कहा, "बस आशीर्वाद दीजिये कि ईश्वर में मेरी बुद्धि अचल-अटल रहे।"

और कुवेर ने आशीष दी।

इस तरह यह वैर समाप्त हुआ और ध्रुव अपने घर वापस गया।

कहते हैं, अनेक वर्षों तक सुराज्य करके अन्त में ध्रुव वन में तप करने चला गया और उसने अन्त की सारी आयु ईश्वर-भजन करते-करते विताई।

ध्रुव-चरित सचमुच एक परम कल्याणकारी गाथा है।

---

१. न भवानवधीद् यक्षान् न यक्षा भ्रातरं तव।
काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः ॥३॥

२. अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात् पुरुषस्य हि।
स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद् यया बन्धविपर्ययौ ॥४॥

३. तद् गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम् ॥५॥
भजस्व भजनीयांघ्रिमभवाय भवच्छिदम्।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्यात्ममायया ॥६॥

(श्रीमद्भागवत ४/१२)

रुपये
की
कहानी
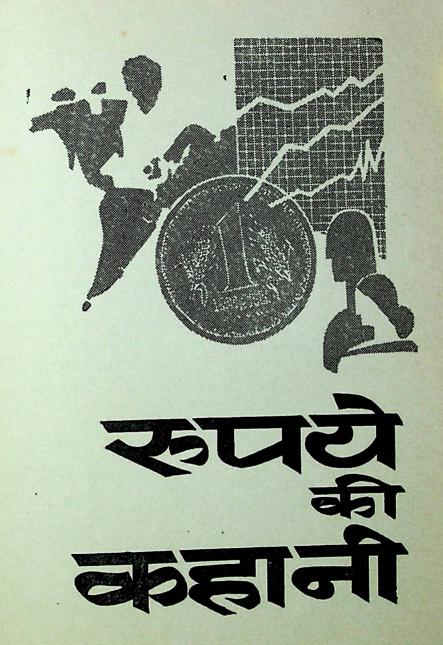
समर्पण

कोई तीन साल की बात है, गांधीजी ने मुझसे कहा, "हिन्दी में हुंडी और चलण पर एक ऐसी सरल पुस्तक लिखो जो हर कोई आसानी से समझ सके।" उसी आज्ञा का फल यह पुस्तक है।

सारी कहानी दो हिस्सों में सुनाई गई है। जब लिखना शुरू किया था तब तो सोचा था कि पूर्व भाग मीमांसा का होगा और उत्तर भाग रुपये की हुंडी का इतिहास होगा, और सारा-का-सारा स्वयं मैं ही लिखूंगा। पर मीमांसा-भाग समाप्त करते-करते जब इतिहास-भाग के लिए मसाला इकट्ठा करने लगा तब स्मरण आया कि 'फैडरेशन आफ इंडियन चेम्बर्स आफ कामर्स ऐण्ड इंडस्ट्री' के तत्वावधान में श्री पारसनाथजी ने, कुछ साल पहले, रुपये की हुण्डी का एक अच्छा इतिहास अंग्रेजी में लिखा था। इसलिए उपयुक्त यही लगा कि मैं श्री पारसनाथजी से कहूं कि इस ग्रंथ का इतिहास-भाग भी वही लिख दें और उसमें यथासंभव आज तक की बातों का समावेश कर दें।

इस तरह मीमांसा-भाग मैंने लिखा और इतिहास-भाग श्री पारसनाथजी ने।

जिनकी आज्ञा से यह सब कुछ हुआ वे तो फाटक के भीतर बंद हैं, इसलिए छपने के पहले इसे गांधीजी को दिखा देना असंभव था। उन्हें बिना दिखाए ही यह छापाखाने में जा रहा है।

गांधीजी की आज्ञा थी कि इस जटिल विषय को सरल भाषा में लिखा जाय। हम दोनों ने कोशिश तो यही की है, पर कहां तक सफलता मिली है यह तो पाठक ही बता सकेंगे।

जिनकी आज्ञा से यह पुस्तक लिखी गई उन्हीं महापुरुष के चरणों में यह समर्पित की जाती है।

घनश्यामदास बिड़ला

मकर संक्रांति, सं० २०००

१. रुपये की कहानी

इस पुस्तक के नाम को सुनकर शायद किसी का यह खयाल हो कि यह चांदी के सिक्के की कथा है, जिसमें यह बताया गया है कि चांदी पहले खानों में से कैसे निकली, फिर कैसे गलाई गई, कैसे इसके पात बने, फिर टकसाल में कैसे रुपए ढाले गए, इत्यादि। बच्चों की बालबोधिनी में अक्सर ऐसी कथाएं आती हैं। पर यह इस पुस्तक का विषय नहीं है। इस पुस्तक का सम्बन्ध है रुपए की करामात से।

इसे सुनकर भी शायद कोई हंस पड़े। "कौन है नावाकिफ रुपए की करामात से कि इसकी भी कहानी लिखी जाय?" ऐसा वह कह तो सकता है। पर यह कथन अज्ञान का द्योतक होगा। रुपए की बाहरी ताकत से लोग चाहे अनभिज्ञ न हों, पर रुपए के पीछे कौन-सी शक्ति है जिसने इसे ताकत दी, इस बारे में आम जनता का ज्ञान बिलकुल अपूर्ण है।

उदाहरणार्थ, आम लोग तो यही मानते हैं कि रुपए की कीमत स्थिर है। जिन्सों की दर चाहे घटे-बढ़े, पर रुपए की दर तो सुमेरु की तरह अचल है। यह कथन उतना ही सत्य है, जितना कि यह कहना कि "पृथ्वी अचल है। पृथ्वी नहीं, सूर्य, चांद और तारे ही घूमते हैं। यदि पृथ्वी घूमती तो रात के समय हमारे पांव ऊपर की ओर और सिर नीचे की ओर होता।" कोई नादान ही ऐसी नादानी की बात कह सकता है। पर जैसे पृथ्वी घूमती है वैसे ही रुपए की कीमत भी घटती और बढ़ती है।

सन् १९२६-२७ में बड़े जोर से एक आन्दोलन हुआ था कि रुपए की दर १ शिलिंग ६ पेंस निर्धारित न होकर १ शिलिंग ४ पेंस निर्धारित हो। रुपए की दर के सम्बन्ध में इसी तरह का एक आन्दोलन सन् १९१९ में भी बड़े जोर-शोर के साथ चला था। उस समय सरकार ने रुपए की दर २ शिलिंग निर्धारित की

थी। प्रजा-पक्ष के लोगों का कहना था कि यह दर ऊंची है, १ शिलिंग ४ पेंस से ऊंची दर हर्गिज निर्धारित नहीं होनी चाहिए, इससे ऊंची दर टिक नहीं सकेगी और ऊंची दर टिकाने की कोशिश से देश को हानि है। हुआ भी अन्त में ऐसा ही, पर करोड़ों रुपए खो देने के बाद। इसके पहले भी एक आन्दोलन १८६३ और फिर १८६८ के करीब इसी तरह दर के सम्बन्ध में चला था।

यह रुपए की दर का झगड़ा क्या था? रुपए की दर आखिर है क्या? कैसे इसकी निर्धारित दर को टिकाया जाता है? घटा-बढ़ी दर में क्योंकर होती है? घटा-बढ़ी से हानि-लाभ क्या है? क्या कोई घटा-बढ़ी के लिए जिम्मेदार है? कौन इसकी व्यवस्था करता है? समाज में सिक्के का स्थान क्या है और प्राचीन सिक्का-प्रथा और अब की सिक्का-प्रथा में क्या भेद है?

इन प्रश्नों के झमेले में शायद कोई पड़ता ही नहीं। इस प्रश्न को जो समझना चाहते भी हैं, वे यह मानकर सन्तोष करते हैं कि यह प्रश्न अर्थ-शास्त्री ही समझ सकते हैं, यह चीज सर्वसाधारण के बूते के बाहर की है। फिर भी यह सही है कि रुपये की कथा जितनी रोचक है उतनी जटिल नहीं है। जटिल थोड़ी-सी है, तो अर्थ-शास्त्रियों ने बड़ी-बड़ी पेचीदा शब्दमाला का प्रयोग करके इसे और भी जटिल बना दिया है। सीधी भाषा में लिखने से यह सम्भव है कि हम इसे सरल बना दें।

पहले-पहल तो हमें यह जानना चाहिए कि यह रुपया है क्या?

"भाई भलो न भैयो, सबसे बड़ो रुपैयो"—ऐसा जब कोई कहता है तब तो रुपए के निश्चित मूल्य को ध्यान में रखकर यह उक्ति नहीं कही जाती; क्योंकि रुपए की निश्चित निर्धारित मूल्य और "भैयो भाई" के बीच यहां तुलना नहीं है। यहां तो रुपए को धन का साधारण प्रतीक मानकर उसकी महिमा को बखानना है और उस महिमा को शास्त्रीय विधि से समझने के लिए हमें गहरे पानी में उतरना होगा, रुपए के सब पहलुओं पर विचार करना होगा और उन पहलुओं से क्या हानि-लाभ है, समझना होगा।

पर मेरा प्रस्ताव है कि सबसे पहले हम यह समझ लें कि सिक्के के चलण की जरूरत क्या है और कैसे-कैसे इसकी व्यवस्था में प्रगति हुई?

सिक्के की आवश्यकता

एक पल के लिए हम यह कल्पना करें कि एक ऐसा समाज है, जिसमें सिक्का है ही नहीं, और फिर हम अपने मन में एक ऐसा नक्शा खींचें, जो हमें यह बताए कि बिना सिक्के के उस समाज का रोजमर्रा की खरीद-फरोख्त और लेन-देन का व्यवहार कैसे चलेगा। मान लीजिए कि ऐसे बेसिक्के के समाज में एक मनुष्य के पास कुछ अन्न है और कुछ नए वस्त्र भी हैं। दूसरा उसका पड़ोसी है। उसके पास कुछ कपास है, और कुछ भूसा भी है। एक तीसरे पड़ोसी के पास घी है, और

कुछ तेल भी है।

अब ये तीनों आदमी सुबह उठकर कुछ तरकारी और दूध खरीदने के लिए निकलते हैं और दूध और तरकारी बेचनेवालों के पास पहुंचते हैं। दूधवाले से एक ने कहा कि मेरे पास कुछ कपड़ा है, उसे तुम ले लो और बदले में मुझे दूध दे दो। इसी तरह तरकारी बेचनेवाले से इसने कहा कि कुछ तरकारी दे दो और बदले में मुझसे कुछ अन्न ले लो। पर तरकारी बेचनेवाले और दूध बेचनेवाले— दोनों को न कपड़ा चाहिए, न अन्न चाहिए। इसलिए वे या तो कपड़े या अन्न से तरकारी और दूध का बदला करने से इन्कार करेंगे या दूध और तरकारी के बदले में इतनी ज्यादा मिकदार अन्न और कपड़ा मांगेंगे कि शायद ये सज्जन बिना दूध और तरकारी के रहना पसन्द करेंगे। नतीजा यह होता है कि बिना दूध और तरकारी के ही ये सज्जन वापस घर लौट आते हैं।

दूसरे पड़ोसी के पास कुछ कपास और भूसा है। दूध बेचनेवाले को भूसे की जरूरत है, इसलिए भूसे से दूध का बदला करने पर तो वह राजी हो जाता है; पर कपास उसे नहीं चाहिए। इसलिए कपास पड़ोसी के पास ज्यों-की-त्यों अनचाही वस्तु के रूप में पड़ी रह जाती है।

इसके बाद ये तीनों पड़ोसी कुछ मसाला खरीदने निकलते हैं। मसालेवाले को कुछ कपड़े की जरूरत है। इसलिए प्रथम सज्जन का कपड़ा लेकर वह बदले में उसे मसाला दे देता है। पर उसे अन्न नहीं चाहिए। इसलिए उपर्युक्त सज्जन का अन्न ज्यों-का-त्यों उनके पास रह जाता है। अन्य पड़ोसियों के पास कुछ घी है, तेल है, कपास है और भूसा है। उन्हें भी मसाला लेना है। पर मसालेवाले को न घी की जरूरत है और न उसे तेल, कपास या भूसा चाहिए। इसलिए वह इन चीजों के बदले में मसाला देने से इन्कार कर जाता है।

अदला-बदली की व्यवस्था से असुविधा

अब प्रथम सज्जन को दूध, तरकारी, मसाला, ये तीन चीजें लेनी थीं। उनमें से उन्हें केवल मसाला मिला। इनके पड़ोसियों को भी तीनों चीजें लेनी थीं। उनमें से केवल एक को दूध मिला। अब ये सब लोग इसी खोज में हैं कि जो चीजें इनके पास हैं उनकी चाह वाला कोई दूध, तरकारी और मसालाफरोश मिले तो इन लोगों को अपनी इच्छित वस्तुएं मिलें। और जबतक परस्पर की इस अदला-बदली की चाह वाले मनुष्य नहीं मिलते तबतक इन्हें अपनी इष्ट वस्तुओं के बिना गुजारा करना पड़ता है। इन लोगों के पास जो चीजें हैं उनकी जरूर किसी-न-किसी को चाह है। वैसे ही जिनके पास दूध, तरकारी और मसाला है उन्हें भी इन चीजों को देकर दूसरी चीजें लेनी हैं। पर जबतक परस्पर की अदला-बदली वाले मनुष्य नहीं मिल जाते तबतक सभी को अपनी-अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए

बैठे रहना पड़ता है।

इस उदाहरण के आधार पर हजारों बेचनेवाले और हजारों खरीदने वाले कल्पना कर सकते हैं, जिनमें किसीको कोई चीज चाहिए और किसीके पास कोई चीज आवश्यकता से ज्यादा है, जिसके लिए वह गाहक ढूंढ़ रहा है। इन चीजों की अदला-बदली के लिए ये हजारों आदमी गाहक ढूंढ़ते-ढूंढ़ते शाम तक थक जायेंगे और फिर भी शायद उनका सौदा समय पर समाप्त न होगा। ऐसे समाज में समय की कितनी बरबादी होगी, कितनी अव्यवस्था होगी, भोले आदमी को चालाक आदमी कैसे ठग लेगा—इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

इसके अलावा ऐसे समाज में यह जोखिम तो रहेगी ही कि इस अदला-बदली में वस्तु की जात बिगड़ेगी और तोल-जोख में चीजें बरबाद भी होंगी। समय की बरबादी, चीजों की बरबादी और चीजों की जात की बरबादी ! और रोज का झगड़ा, तकरार, ठगी, यह अलग। जैसे बिना राजा के राज्य में अंधेर अवश्यम्भावी है वैसे ही बिना सिक्के के समाज में लेन-देन के राज्य में यह अंधेर अनिवार्य हो जाता है।

अंधेर को मिटाने के लिए, व्यवस्था-स्थापना के लिए, शांति-रक्षा के लिए जैसे मनुष्यों ने मिलकर मनु से राज्यसिंहासन पर बैठने की प्रार्थना की, और उन्होंने राजा बनकर सुख और शांति का संचार किया, वैसे ही किसी समझदार राजा ने समाज के लेन-देन के क्षेत्र में अराजकता और इस गड़बड़ को मिटाने के लिए सिक्के को राज्यसिंहासन पर बैठाया।

जैसे बुरी राज्य-प्रणाली, शांति और अमन का स्थापन करके भी, अन्य बातों में समाज को हानिप्रद हो सकती है, वैसे ही सिक्का-प्रणाली भी यदि बुरी तरह या बदनीयती से संचालित की जाय तो सिक्के के क्षेत्र में राजकता और नियम होते हुए भी, समाज के लिए हानिकारक साबित हो सकती है।

जो हो, सिक्के की समाज में क्या आवश्यकता है, इसके बिना कितनी असुविधा हो सकती है, इसका उत्तर ऊपर दिये हुए काल्पनिक उदाहरण से समझ में आ जायगा।

सिक्का शुरू-शुरू में कब चला, यह बताना तो असंभव है। पर हजारों साल पहले सिक्का था, इतना तो निश्चित है। प्राचीन समय में सोना, चांदी, तांबा, पत्थर, कौड़ी—इनके अलावा और भी वस्तुओं के सिक्के चलते थे।

वैदिक काल में यहां सोने के सिक्के चलते थे, जिनके नाम निष्क, शतमान, सुवर्ण, पाद आदि थे। बाद में चांदी के सिक्कों के नाम मिलते हैं—जैसे पण, कार्षा-पण, विंशतिक, त्रिंशतिक आदि। रुपया शेरशाह का चलाया हुआ बताया जाता है।

सिक्का राजा ने क्यों चलाया ?

यह प्रश्न हो सकता है कि सिक्का राजा ने ही क्यों चलाया ? व्यापारी भी तो चला सकते थे। या तो इन अदला-वदली करनेवालों ने ही क्यों न इसका संचालन किया ? इसका उत्तर कठिन नहीं है।

यदि लोग जिन्सों की अदला-वदली छोड़कर सिक्के से हर चीज की अदला-बदली करें, जैसा कि सिक्के के आविर्भाव के वाद होता आया है, तो यह आवश्यक है कि सिक्के की साख इतनी जबरदस्त होनी चाहिए कि उस साख में किसी को वहम या शक करने के लिए रत्ती-भर भी गुंजाइश न हो। यदि हम जिन्सों की जिन्सों से अदला-वदली करते हैं तो उन अदला-वदली की जानेवाली जिन्सों की जात, उनकी माप-तौल वगैरा सव चीजों को सामने रखकर कितनी अमुक जिन्स से कितनी दूसरी अमुक जिन्स की अदला-वदली हो, इनका लेने और देनेवाले दोनों को विचार करना पड़ता है। इस विचार में बहस-मुवाहसा तो होता ही है, पर चूंकि किसी भी जिन्स की जात हर हालत में एक-सी नहीं वनी रहती, इसलिए जात की निरख की वार-वार जरूरत पड़ती है। इसमें समय की वरबादी होती है, बकझक होती है—फिर भी लेने-देने वाले को पूरा सन्तोष नहीं होता।

इस बकझक को मिटाने के लिए ही तो सिक्का सिंहासन पर बैठा था। इसके माने यह थे कि सिक्के के सफलता से चलने के लिए यह आवश्यक था कि जैसे जिन्सों की जात और माप-तौल के वारे में रोजमर्रा की निरख की जरूरत पड़ती थी वैसे कोई जरूरत सिक्के की जात और माप-तौल की निरख के सम्वन्ध में न रहे—अर्थात् सिक्कों में जो धातु है उसकी जात सदा यकसां हो और उसकी तौल भी सदा यकसां हो। इस निश्चितता से ही तो सिक्के की धाक और साख जमती है। फिर यदि सिक्के की भी जात, माप-तौल पर लेने-देने वालों के बीच बहस जारी रहे, तो सिक्के के राज्य में भी वही अराजकता आ जाती है, जो जिन्सों की अदला-बदली में थी और सिक्का ऐसी हालत में एक अजा-गल-स्तनवत् निकम्मी चीज बन जाता है।

प्राचीन समय में जब सिक्के का आविर्भाव हुआ तब सिक्के की कीमत इसी बुनियाद पर टिकी थी कि इसमें कितनी, कौन-सी और कितनी अच्छाई की धातु है। धातु की कीमत पर ही तो आखिर सिक्के की साख थी। मान लीजिये कि एक सुवर्ण मुद्रा में एक तोला खालिस १०० की अच्छाई का सोना है, तो उस मुद्रा की कीमत है—१ मुद्रा=एक तोला १०० की अच्छाई का सोना। जब एक मनुष्य एक गाय १ सुवर्ण मुद्रा में बेचता था तो वह यह मान लेता था कि मैंने एक तोला सोना १०० की अच्छाई का पाया है, यानी उस मुद्रा की साख इस वात पर थी कि निश्चयात्मक रूप से उसमें १ तोला सुवर्ण है और वह सुवर्ण १०० की

अच्छाई का है। गाय वेचने वाले को इन दो बातों के सम्बन्ध में कभी कोई शक नहीं होना चाहिए कि मुद्रा में सोना १ तोले से कम भी हो सकता है, या तो अच्छाई १०० नहीं, ९८ भी हो सकती है और यह निश्चय कैसे होगा ?

सीधी बात है। जबतक उस मुद्रा की अच्छाई और वजन के बारे में कोई जोरदार व्यक्ति जामिन नहीं है तबतक उस मुद्रा की तौल और अच्छाई के बारे में लोगों के दिल में पूरा इतमीनान नहीं हो सकता। राजा को मुद्रा चलाने में क्यों बीच में पड़ना पड़ा, प्रजा ने ही क्यों नहीं मुद्रा चला दी, जिन्सों की अदला-बदली करनेवालों ने ही यह कारोबार क्यों न चला लिया, इसका उत्तर अब समझ में आ जायगा।

प्रजा यदि मुद्रा चलावे तो फिर उसमें भी एक ऐसे जबरदस्त व्यक्ति की जरूरत पड़ेगी, जिसकी साख आसमानी, सुलतानी हरकतों से पैदा हुई वेबसी को छोड़कर बाकी ध्रुव की तरह अचल हो। यदि लोभवश कोई मुद्रा का सोना कम कर दे या उसकी अच्छाई कम कर दे, तो फिर लोग तो चौपट हो जाएं, और मुद्रा चलानेवाला लोगों की श्रद्धा का अघटित फायदा उठाकर मालामाल हो जाय, और ऐसे धोखेबाज को फिर चाहे कारागार में ही क्यों न ठेल दिया जाय, पर लोगों को जो चौपट कर दिया गया, उस घाटे की पूर्ति तो होने से रही।

इस तरह की धोखेबाजी न हो, लोगों की सिक्के की अच्छाई और तौल में अटूट श्रद्धा बनी रहे, इस आश्वासन के लिए राजा को छोड़ अन्य कौन व्यक्ति उपयुक्त हो सकता था ? इसके यह माने नहीं कि किसी राजा ने ऐसी धोखेबाजी नहीं की है। इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं सही, जहां राजा ने भी लोभ का संवरण न करके ऐसा अघटित कर्म किया। पर ऐसे उदाहरण कम हैं, और यह बात भी है कि राजा के द्वारा इस तरह की गई धोखेबाजी के कारण जो क्षति हुई हो उसकी पूर्ति की संभावना है। साधारण नागरिक तो धोखा देकर नौ-दो-ग्यारह भी हो सकता है। इसलिए इस काम के भार के लिए स्वभावतया ही राजा सर्वश्रेष्ठ माना गया।

कई मुल्कों में कई ऐसे सेठ भी हुए हैं, जिनकी साख को लोगों ने राजा की साख से कहीं ऊँचा माना। यहां भी ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में जगत् सेठ को मुद्रा चलाने का अधिकार था, और वर्तमान समय में तो प्रायः हर मुल्क में सिक्के की व्यवस्था के लिए एक विशेष बैंक के हाथ में ही सिक्के-सम्बन्धी सारा कारोबार चला गया है। पर शुरू-शुरू में यह संभव नहीं था कि सिक्के की व्यवस्था किसी साधारण नागरिक के हाथ में हो। इसलिए राजा के हाथ में इस व्यवस्था का होना अनिवार्य हो गया।

इतिहास-लेखक एक युग को सुवर्ण-युग के नाम से पुकारते हैं। इसके बाद का युग रौप्य-युग हुआ, पीछे ताम्र-युग और अन्त में लोह-युग आया। सुवर्ण पृथ्वी

के गर्भ में शुद्ध अवस्था में अन्य किसी धातु से अमिश्र मिलता है, और चांदी अन्य धातुओं से मिश्रित अवस्था में मिलती है। इसलिए चांदी एक युग में सुवर्ण की अपेक्षा दुर्लभ भी मानी जाती थी। यही कारण था कि उस प्राचीन काल में चांदी और ताम्र सुवर्ण से कहीं ज्यादा मूल्यवान माने जाते थे। जो हो, आज तो सोने और चांदी के सिक्के ही अधिक लोकप्रिय हैं, और इस लोकप्रियता के पीछे दृढ़ कारण भी हैं।

सिक्का सोने-चांदी का क्यों ?

अन्य किसी धातु या जिन्स के भी सिक्के कायम किए जा सकते हैं। मसलन, एक सेर गेहूं का भी सिक्का हो सकता है। पर इसमें कितनी भारी अड़चनें हैं, यह सहज ही समझ में आ जायगा। यदि एक सेर गेहूं का एक सिक्का चलाया जाय, तो फिर १-१ सेर गेहूं को अलग-अलग कोथलियों में हमें भर देना पड़ेगा। उसमें काम तो काफी बढ़ ही जायगा; पर जो साल-भर की पुरानी कोथली होगी, उसमें से, यदि वह फट गई तो, कुछ गेहूं निकल भी जायंगे। इसलिए तौल का कोई भरोसा नहीं। गेहूं की जात भी २-४ साल के बाद कोथली में खराब हो सकती है। इसलिए नई कोथली, जिसमें नया गेहूं होगा, उसे तो लोग स्वीकार कर लेंगे, पर पुरानी कोथली को कोई छुएगा भी नहीं, क्योंकि उसके गेहूं की जात के सम्बन्ध में भी कोई खातिर नहीं। नतीजा यह होगा कि नई कोथली और पुरानी कोथली, यानी नए और पुराने सिक्के की कीमत में फर्क पड़ जायगा। पुरानी कोथली अर्थात् पुराने गेहूं के सिक्के, का बट्टा लगने लगेगा—अर्थात् उसकी कीमत नई के मुकाबले में नीची होगी। इसके अलावा गेहूं की कोथली का सिक्का वजनी भी होगा। १०० सिक्कों को एक साथ उठाना करीब-करीब असम्भव-सा होगा। और भी अड़चन है। कोथलियों का कपड़ा किसी काम में न आकर बरबाद होगा, वह फिजूलखर्ची अलग। मेरा खयाल है कि इसमें कितनी असुविधा हो सकती है, इसे विस्तार से समझाने की जरूरत ही नहीं है। बताना तो यह है कि यदि हम सुविधा-असुविधा का खयाल छोड़ दें, और कीमत की स्थिरता का खयाल भी छोड़ दें, तो सिक्का किसी भी चीज[1] का हो सकता है। ऐसे असुविधावाले सिक्कों का

---

१. संस्कृत व्याकरण में 'पंचगु:', 'पंचाश्वा', 'मौद्गिकम्' जैसे शब्द मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि प्राचीन समय में यहां पशु, अनाज आदि से चीजें 'खरीदी' जाती थीं। अंग्रेजी में Pecuniary शब्द 'आर्थिक' के अर्थ में व्यवहृत होता है। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के Pecunia शब्द से है, जिसका अर्थ है ढोर, अर्थात् गाय-बैल। कहते हैं कि महाकवि होमर ने जब कभी किसी चीज की कीमत बताई है तब बैलों की संख्या में—सो भारत की तरह ग्रीस में भी मूल्य मापने का काम इन पशुओं से लिया जाता था।

प्राचीन काल में धनिकों के धन की माप भी पशुओं से की जाती थी। अमुक पुरुष के पास

हमें प्राचीन समय में वर्णन भी मिलता है।

सिक्का मेहनत की बुनियाद पर भी रचा जा सकता है। मसलन, एक मनुष्य की मेहनत के नोट निकाले जा सकते हैं, जो उस नोट के स्वामी को यह अधिकार देंगे कि वह नोट छापनेवाले बैंक या उसकी कोई व्यवस्था करनेवाली संस्था से एक मनुष्य की मजदूरी चाहे जब आह्वान कर ले।

पर इसमें भी असुविधा होगी। एक मनुष्य की मजदूरी—वह मोटे की या दुबले की, जवान की या बूढ़े की? रोगी की या नीरोग की? इन सब असुविधाओं को दूर करने के लिए स्वाभाविक ही यह तय पाया कि सिक्का ऐसी वस्तु का हो, जो ज्यादा सुलभ न हो, अर्थात् अति अधिक मिकदार में जिस वस्तु की पैदाइश न हो, जो जल्दी न छीजे, अर्थात् जल्दी से घिस न जाय; जिसकी जात में, सिक्का पुराना होने पर भी, कोई अन्तर न पड़े; और जिसकी जात अमुक अच्छाई की जांच-पड़ताल के वाद निश्चयात्मक रूप से कायम की जा सके; जिसकी थोड़ी-सी मिकदार में कीमत वड़ी हो; और जिसके, चाहे जितने टुकड़े किये जायं, प्रत्येक टुकड़े की वजन के हिसाब से कीमत वनी रहे।

और चूंकि ऐसी वस्तुएं सोना और चांदी ही थीं, प्रधान सिक्के की रचना इन्हीं धातुओं पर की गई। हीरे, पन्ने और अन्य रत्नों की रचना से थोड़े से वजन की काफी कीमत हो जाती, पर इनकी जात में इतना अन्तर होता है कि एक ही हीरा लाख रुपए रत्ती का भी हो सकता है, और सौ रुपए रत्ती का भी। सो सिक्के के वास्ते रत्न भी उपयुक्त नहीं थे। इसलिए वरमाल सोने-चांदी के गले में ही पड़ी।

२

इस सिलसिले में हमें नोटों की रचना और उनकी व्यवस्था के सम्वन्ध में भी कुछ जान लेना जरूरी है।

सिक्का, जैसा कि हमने पहले बताया है, अपनी कीमत स्वयं लेकर चलता है। एक सुवर्ण मुद्रा १ तोला खालिस १०० की अच्छाई के सोने की है, तो वह

इतनी करोड़ गाएं थीं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि इतनी करोड़ गायों की उसके पास सम्पत्ति थी। अमुक ने इतनी करोड़ गाएं दान में दीं, यह भी दान की माप का द्योतक है। इससे यह पता लगता है कि जो स्थान आज सोने का या नोट का है वह किसी समय पशुओं का रहा होगा।

कीमत उस मुद्रा के भीतर ही भरी पड़ी है। पर नोट में यह बात नहीं है। नोट एक दृष्टि से तो महज कागज का टुकड़ा है। कागज के टुकड़े की कीमत कैसी? पर नोट की कीमत इसलिए है कि हमें आवश्यकता हो तो नोट निकालनेवाली संस्था से हम चाहे जब उस नोट की कीमत तलब कर सकते हैं।

आजकल तो सभी मुल्कों की नोट निकालनेवाली संस्थाओं या प्रसारक कोठियों (Reserve Banks) ने नोट की स्वयंसिद्ध मुद्रा से अदला-बदली बन्द कर दी है। पर इससे नोट की साख में, देखने में, कोई अन्तर नहीं हुआ है, क्योंकि नोट के वदले में जिन्स या श्रम खरीदने में कोई कठिनाई नहीं है। नोट की जो कीमत है वह इसी आश्वासन पर व्यवस्थित है कि उसकी जिन्स या श्रम से अदला-वदली में कोई दिक्कत नहीं है, पर किसी कारणवश यदि नोट निकालने वाली संस्था नेस्तनावूद हो जाय या उस संस्था का दिवाला निकल जाय, तो फिर नोट की कीमत अखवार के टुकड़े से भी गई-वीती! इसके विपरीत, मुद्रा की कीमत चूंकि मुद्रा के भीतर ही है, इसलिए मुद्रा निकालनेवाला राजा हतश्री हो जाय या सिंहासनच्युत हो जाय तो भी मुद्रा के मालिक को कोई क्षति न होगी।

शायद नोट और सिक्के की तुलना के लिए साक्षात् विष्णु और विष्णु की मूर्ति की तुलना कुछ अंश तक उपयुक्त हो सकती है। साक्षात् विष्णु स्वयं विष्णु हैं, और पाषाण निरा पत्थर है। पर पत्थर की मूर्त्ति भक्त की दृष्टि में प्राण-प्रतिष्ठा के बाद विष्णु-तुल्य ही इसलिए वन जाती है कि भक्ति-भाव से पूजने पर वह विष्णु की प्राप्ति करा देती है। कागज का टुकड़ा वैसे तो कागज ही है, पर नोट निकालनेवाली संस्था उसमें प्राण-प्रतिष्ठा स्थापन करके उसे सजीव बना देती है—उसे कीमत का संपूर्ण प्रतिनिधित्व दे देती है।

पर शायद नोट की संपूर्ण उपमा हुण्डी से दी जा सके, क्योंकि नोट एक तरह की वेमीयादी हुण्डी है, जो चाहे जब नोट निकालनेवाली संस्था से सिकराई जा सकती है। इस संबंध में यह बता देना आवश्यक है कि रुपए की मुद्रा भी एक प्रकार का चांदी पर छपा हुआ नोट-मात्र ही है। रुपए के भीतर जो चांदी है उसकी कीमत पूरे एक रुपए की नहीं है। रुपए में पहले कुल १६५ ग्रेन अर्थात् ११/१२ तोला चांदी थी और उस चांदी की कीमत, आज से कुछ समय पहले के भाव से (अर्थात् १०० तोले=६२॥) कुल ०-६-२॥ पाई की होती थी। हाल में नया रुपया ढाला गया है, जिसमें चांदी की मात्रा पहले से बहुत कम है अर्थात् १८० ग्रेन में कुल ९० ग्रेन। चांदी का भाव इस समय प्रायः १०० तोले=१२०) है। इस दर से भी नए रुपए की चांदी की कीमत प्रायः उतनी ही-सी होती है। इसके माने यह हुए कि यदि रुपया चलानेवाली सरकार की अवहेलना करके, रुपए की मुद्रा के भीतर भरी हुई चांदी की कीमत के आधार पर ही, हम रुपए को वेचें, तो रुपए की कीमत हमें कुल प्रायः ॥–)॥ मिले। इसलिए रुपए के चांदी

के सिक्के और नोट को हम स्वयंसिद्ध मुद्रा नहीं कह सकते।

पर वर्तमान समय में शायद ही ऐसा कोई मुल्क है, जहां स्वयंसिद्ध मुद्रा कायम हो। १९३३ तक अमरीका का डॉलर स्वयंसिद्ध मुद्रा थी, पर वहां भी सिक्के के दामों में जब से सरकारी दस्तन्दाजी शुरू हुई और सिक्के के दाम गिराए गए तब से स्वयंसिद्ध मुद्रा, अर्थात् ऐसी मुद्रा जिसकी पूरी कीमत मुद्रा के भीतर ही हो, नहीं रही। जहां तक खयाल किया जाता है, आज सभी सुसभ्य देशों में नोटों का अर्थात् प्रतीक-मुद्रा का ही चलण है।

इस प्रणाली अर्थात् नोटों के चलण के लाभ और हानियां अनेक हैं। इसका विश्लेषण आगे चलकर किया जायगा।

नोट क्यों आया ?

पर स्वयंसिद्ध मुद्रा के वाद प्रतीक-मुद्रा अर्थात् नोट का आविर्भाव कैसे हुआ, इसका विचार भी कर लें।

जब संसार में लेन-देन बढ़ा और लाखों का लेखा और करोड़ों पर कलम चलने लगी तब स्वभावतया जिस मुद्रा को हमने 'कम वजनी और धनमूल्यवाली' माना था वह भी अधिक वजनी मालूम देने लगी। एक गाहक के यहां से हमें आज दस लाख रुपए का भुगतान मंगाना है और दूसरे को उतना ही भेजना है, तो यदि सब-का-सब लेन-देन सुवर्ण-मुद्रा में ही हो, तो करीब २५,००० सुवर्ण मुद्राएं—यदि एक सुवर्ण मुद्रा की कीमत ४० रुपए मान लें तो—हमें देनी और लेनी होंगी। इन मुद्राओं का वजन भी करीब ८ मन होगा। २५,००० सुवर्ण मुद्रा के गिनने के लिए कितना समय चाहिए, और उस वजन को उठाने के लिए कितने आदमी चाहिए। उसमें समय की कितनी बरबादी होगी, इसकी कल्पना आसान है। इसके अलावा यदि सिक्कों द्वारा भुगतान हो तो सिक्कों की घिसाई और उसके द्वारा होनेवाली धन की छीजत का भी प्रश्न तो है ही। इन सब असुविधाओं और क्षतियों के बचाव के लिए नोट अर्थात् प्रतीक-मुद्रा ने प्रवेश किया। इसमें न गिनने का इतना झंझट, न इतना वजन। १०० नोट यदि १०-१० हजार के दे दिये तो दस लाख का भुगतान समाप्त हुआ।

चेक क्यों चला ?

पर आगे चलकर व्यापार और लेन-देन ज्यादा बढ़ा तब तो प्रतीक-मुद्रा भी असह्य मालूम होने लगी और सारा लेन-देन चेक द्वारा ही होने लगा। चेक एक तरह का आज्ञा-पत्र है, जो आज्ञा देनेवाला अपने बैंक के नाम लिखता है कि इतना रुपया अमुक सज्जन को दिया जाय और उस आज्ञापत्र पानेवाले को उतनी रकम बैंक से मिल जाती है। स्वयंसिद्ध मुद्रा का प्रतिनिधित्व प्रतीक-मुद्रा

को मिला, और उसके बाद एक कदम आगे चले तो प्रतीक-मुद्रा का स्थान चेक को मिला। सिक्के की प्रगति की यह कथा काफी दिलचस्प है।

हमारे देश में तो बड़े शहरों को छोड़कर चेक का चलण कहीं नहीं है। चेक तो वहीं चल सकता है, जहां प्रथम तो बैंक हों, दूसरे जहां लेन-देन का काम भी ज्यादा हो और बड़ी-बड़ी रकमों का लेन-देन हो। चूंकि गांवों में यह स्थिति नहीं है, इसलिए हमारे देश में तो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चेक का चलण बड़े शहरों तक ही सीमित है, और नोटों का कस्बों और बड़े गांवों तक। छोटे गांवों में तो चांदी और तांबे के सिक्कों का ही चलण है। पर ये चांदी-तांबे के सिक्के भी तो, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, एक तरह के धातु पर छपे नोट—प्रतीक-मुद्रा ही हैं, क्योंकि उनकी स्वयंसिद्ध कीमत का उनकी निर्धारित कीमत से कोई मेल नहीं खाता।

नोट से लाभ

प्रतीक-मुद्रा-प्रणाली के लाभ तो स्पष्ट हैं। वजन कम होता है। लेन-देन में, गिनती करने में, समय की बचत होती है। मुद्रा हाथों में से रोज-रोज निकले, उससे धातु की जो छीजत होती है, उसकी बचत होती है। पर एक और लाभ है। मान लीजिए, सारे देश के लेन-देन के कारोबार के लिए १० करोड़ सुवर्ण मुद्राओं की जरूरत है। यदि प्रति मुद्रा की ४० रुपए कीमत मान लें, तो इस हिसाब से ४०० करोड़ रुपए के सोने की, देश के लेन-देन की सहूलियत के लिए जरूरत होगी। पर यदि नोटों का चलण है तो यही काम बहुत थोड़े सोने से चल जाता है। आखिर नोट का काम तो इतना ही है कि वह उतनी निर्धारित मुद्राओं का स्वामित्व नोट के स्वामी को सौंपता है।

यह सही है कि आज ऐसा कोई मुल्क नहीं है, जहां नोट के बदले बैंक सुवर्ण-मुद्रा दे दे; पर इससे नित्य-प्रति के व्यवहार में कोई बाधा नहीं पहुंची है। यदि सुवर्ण मुद्रा भी हमें नोटों के बदले में मिलती तो उस मुद्रा का उपयोग भी हम जिन्स, सम्पत्ति या मनुष्य-श्रम खरीदने में ही तो करते, और जबतक किसी मुल्क की साख सुरक्षित है तबतक सुवर्ण-मुद्रा प्रचलित न हो तो भी नोट क्रय-विक्रय में वही काम देता है, जो काम सुवर्ण-मुद्रा देती। इसलिए सुवर्ण-मुद्रा का अभाव किसी को नहीं खटकता। साख सुरक्षित है या नहीं, इसका पता भी तो, हमारे नोट की कीमत विदेशों में क्या है, इसीसे लगता है। इस प्रश्न का विवेचन तो आगे चलकर करेंगे। यहां तो मुद्रा के बजाय नोट-चलण में क्या-क्या किफायत है, उसका दिग्दर्शन कराना है।

बताना तो यह था कि नोट का क्षेत्र इतना ही है कि वह उतनी निर्धारित मुद्राओं का स्वामित्व नोट के स्वामी को सौंपता है। मसलन, आपके पास दस

सुवर्ण मुद्रा का नोट है। (यह उदाहरण-मात्र है क्योंकि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, आज किसी भी मुल्क में स्वयंसिद्ध मुद्रा का चलण नहीं है) तो आप चाहे जब नोट-प्रसार करनेवाले बैंक या संस्था के पास जाकर अपना नोट देकर उसके बदले में १० सुवर्णमुद्राएं मांग सकते हैं, जिसके कि आप अधिकारी हैं, और वह बैंक आपको १० सुवर्णमुद्राएं दे देगा, जिसके लिए कि वह बाध्य है।

पर ऐसे किसी भी साधारण समय की कल्पना नहीं की जा सकती जबकि तमाम नोटवाले अपने नोट बैंक को पेश करके बैंक से नोटों के बदले में मुद्रा मांगेंगे। यदि देश के कारोबार के लिए १० करोड़ सुवर्ण मुद्राओं के चलण की जरूरत है, और लोग अपनी सुविधा के कारण मुद्राओं से नहीं, पर प्रतीक-मुद्रा अर्थात् नोटों से अपना काम चलाना चाहते हैं, तो यह स्पष्ट है कि जबतक नोट चलानेवाले बैंक की साख साबित है तबतक कोई समझदार व्यक्ति नोट को भुनाकर मुद्रा मांगने के झंझट में न पड़ेगा। इसलिए बैंक सावधानी के लिए १० करोड़ सुवर्ण मुद्राओं के प्रतीकों के पीछे केवल ३ करोड़ सुवर्ण मुद्रा अपने कोष में रखे तो भी पर्याप्त है।

इसके माने यह हुए कि यदि हम अपना कारोबार केवल सुवर्णमुद्राओं से ही चलाना चाहते हैं तब जहां १० करोड़ सुवर्ण मुद्राओं के लिए ४०० करोड़ रुपए के सोने की जरूरत होगी वहां, यदि हम नोट-प्रथा को अपना लें तो, कुल १२० करोड़ रुपये के सोने से ही काम चल जायगा—अर्थात् बैंक १२० करोड़ रुपए के सोने के आधार पर आसानी से ४०० करोड़ रुपए की कीमत की प्रतीक-मुद्राओं का प्रसार कर देगा। बैंक को सोने में रोकना पड़ा कुल १२० करोड़ रुपया। नोट-प्रसार किये कुल ४०० करोड़ रुपए की कीमत के। नोट-प्रसारक बैंक का तलपट ऐसी हालत में इस प्रकार होगा :

४०० करोड़—नोट चलण में डाले, उसकी कीमत आई	१२० करोड़—सोना खरीदा
	२८० करोड़—ब्याज पर रोका
४०० करोड़	४०० करोड़

इस तरह २८० करोड़ रुपए का नाणा बेब्याज जो बैंक को मिल गया उसे लोगों को उधार देकर बैंक मुनाफा बना खायगा। देश के लिए यह किफायतशारी अवश्य ही ग्राह्य चीज है। इस तरह नोट ने अपने गुणों से समाज को मुग्ध करके अपना सिक्का जमा लिया।

नोट से हानि

पर 'जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।' नोटों में गुण हैं तो अवगुण भी हैं। एक अवगुण तो प्रत्यक्ष है। चूंकि स्वयंसिद्ध मुद्रा की कीमत तो इसके गर्भ में ही है और प्रतीक-मुद्रा (नोट) की कीमत तो, जबतक प्रतीक-मुद्रा

का प्रसार करनेवाला बैंक सलामत है, तभी तक कायम है, इसलिए राज-दुराजी के जमाने में नोटों में लोग सहज ही विश्वास खो बैठते हैं और स्वयंसिद्ध सिक्कों का संग्रह करके इन्हें दबाने लगते हैं।

इस महायुद्ध में पोलैंड, फ्रांस वगैरा मुल्कों में जहां-जहां राज गिरने की सम्भावना हुई वहां लोग नोटों में विश्वास खो बैठे। पर चूंकि स्वयंसिद्ध मुद्रा का इन मुल्कों में चलण नहीं था, इसलिए लोग जवाहरात या सोना-ऐसी वस्तुओं का संग्रह करने लगे, या ऐसी वस्तुओं को लेकर देश के बाहर भागने लगे। यहां भी, जब फ्रांस की हार हुई, उस जमाने में लोगों ने रुपयों का बुरी तरह संग्रह करना शुरू किया। यों तो जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रुपए का सिक्का भी एक तरह का नोट ही था, क्योंकि इसकी चांदी की कीमत तो कुल ६ आने २॥ पाई थी। पर रुपए के सिक्के के पक्ष में कुछ बातें थीं। आखिर इसकी स्वयंसिद्ध कीमत कागज के नोट की कीमत से तो ज्यादा ही थी। इसलिए लोगों ने घबड़ाहट में इसका संग्रह करना शुरू कर दिया।

यह संग्रह करने का मर्ज यहां तक बढ़ा कि छोटी रकमों के लेन-देन के लिए रुपए का सिक्का कुछ दिनों के लिए दुर्लभ-सा होने लगा था। सिक्कों की कोई कमी तो न थी, पर जब लोग भय से पागल-से हो जाते हैं उस समय बुद्धि से काम नहीं लिया जाता। इसलिए भयभीत लोगों ने चांदी के रुपयों की धरोहर इकट्ठा करके सिक्के का अकाल-सा पैदा कर दिया और अन्त में इस कठिनाई को दूर करने के लिए सरकार ने एक रुपये का नोट भी छापा और सिक्के दबा बैठने के विरुद्ध कानून भी बनाया। इस बीच में लोगों में भी विश्वास का पुनः संचार होने लगा। पर भय के या अविश्वास के जमाने में स्वयंसिद्ध मुद्रा की या तो चांदी के रुपये-जैसी अर्धस्वयंसिद्ध मुद्रा की साख तो कैसे सुरक्षित रहती है और प्रतीक-मुद्रा की साख कैसे नेस्तनाबूद होने लगती है, इसका आभास इस और पिछले महायुद्ध के इतिहास से मिल सकता है।

इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि स्वयंसिद्ध मुद्रा के मुकाबले में प्रतीक-मुद्रा का सबसे बड़ा दोष तो यह है कि प्रतीक-मुद्रा की कीमत के स्थायित्व के बारे में या सुरक्षितता के बारे में घबराहट के जमाने में पूरा यकीन तो कभी हो ही नहीं सकता। पर क्या इस सुरक्षितता के लिए इतनी बड़ी कीमत चुकानी वाजिब होगी, कि स्वयंसिद्ध मुद्रा का ही चलण रखकर हम सुवर्ण-मुद्राओं के भार का वहन कर, उसके गिनने-संभालने के झंझट में समय खोयें और उनकी छीजत—जो मुल्क के धन की छीजत होगी—उसे बरदाश्त करें? और इसके अलावा, जो काम १२० करोड़ रुपए के सोने से चल सकता है उसके लिए, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ४०० करोड़ रुपए की रकम को सोने में फंसा कर रखें?

राज-दुराजी में अरक्षितता

आज हमारे देश में नोटों का कुल चलण प्राय: ८०० करोड़ रुपए की कीमत का होगा। पर कुछ समय पहले यह चलण २५० करोड़ रुपए का था। इसके माने यह हैं कि यदि रिजर्व बैंक, जो इन नोटों का प्रसार करनेवाला बैंक है, उसकी साख को ठेस पहुंचती तो इन २५० करोड़ के नोटों की कीमत को खतरा था।

पर ऐसी स्थिति की हम कल्पना करें तब तो यह जानना चाहिए कि इससे कहीं ज्यादा खतरा तो सरकारी प्रोमिसरी नोटों की रकम को हो सकता था और इन सरकारी प्रोमिसरी नोटों में तो प्रजा की कुल रकम लगभग १,००० करोड़ के लगी हुई थी— अर्थात् नोटों की २५० करोड़ की कीमत से चौगुनी रकम तो प्रोमिसरी नोटों में लगी हुई थी। इससे पता लगेगा कि नोटों की सुरक्षितता की जब हम बात करते हैं तब हम भूल जाते हैं कि किसी भी राष्ट्र के पतन के कारण होनेवाली क्षति से बचने का तो कोई रामबाण उपाय है ही नहीं, और उस होनेवाली सारी क्षति में, नोटों की कीमत नेस्तनाबूद हो जाने के कारण होनेवाली क्षति का स्थान अपेक्षाकृत छोटा है।

नोट का स्वामी यह सहज ही कह सकता है कि सारी क्षति क्या होगी, इससे मुझे क्या मतलब—मुझे तो अपने नोट की कीमत के नाश से होने वाली क्षति का ही दर्द है। पर इसका उत्तर तो यह है कि देश के सिक्के की नीति व्यक्ति की सुविधा के लिए नहीं, पर समष्टि की सुविधा के लिए बनाई जाती है, और इस दृष्टि से स्वयंसिद्ध मुद्रा से प्रत्येक मुद्रा की सुरक्षितता कम होने पर भी देश के लिए प्रतीक-मुद्रा-शैली का त्याग और केवल स्वयंसिद्ध मुद्रा की नीति का ग्रहण बेशी खर्चीला होगा।

३

प्रतीक-मुद्रा-शैली में एक दोष और है—यदि उसे दोष कहा जाये तो—और उस दोष का वर्णन करने से पहले तत्सम्बन्धी कुछ बातों का विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है।

हमने बताया है कि नोट-प्रसार करनेवाली संस्था यदि ४०० करोड़ रुपयों के पीछे १२० करोड़ रुपए का भी सोना रखे तो पर्याप्त होगा, क्योंकि जबतक बैंक की साख अक्षत है तबतक कौन नोट को भुनाकर बदले में सुवर्ण मुद्रा मांगेगा?

इसलिए नोट की धाक अंशतः तो जो नोटों के पीछे सोना पड़ा है उस पर, बाकी नोट-प्रसारक बैंक की दक्षता, सावधानी और नेकनीयती पर है।

मान लीजिए कि १२० करोड़ के सोने के मद्दे ४०० करोड़ रुपए के नोटों के बजाय बैंक ने किसी भी कारणवश, अपनी मर्जी से या बाध्य होकर, ८०० करोड़ रुपये के नोट चलण में डाल दिये, तो जो सोने की मिकदार पहले प्रतिशत नोटों के पीछे ३० की थी वह सिर्फ १५ की रह गई। ऐसी हालत में सहज ही नोटों की साख में लोगों को कुछ शक होने लगा, और मान लीजिए कि यदि नोट-प्रसारक बैंक ने ८०० के बजाय उसी १२० करोड़ रुपए की कीमत के सोने की पूंजी के बल पर १,६०० करोड़ के नोट चलण में डाल दिये, तब तो फिर नोटों की साख जोरों से डूबने लगेगी, और यदि १,६०० करोड़ के बजाय ३,२०० करोड़ के नोट चलण में डाल दिये तब तो लोगों में घबराहट फैल जायगी और लोग नोटों से दूर भागने लगेंगे, क्योंकि ३२०० करोड़ के पीछे यदि कुल १२० करोड़ का ही सोना हो तब तो प्रति सौ नोट के पीछे केवल ३।।। रुपए का ही सोना रहा, जो बैंक की देनदारी को देखते हुए अत्यन्त अल्प कहा जायगा।

यह अनहोना-सा उदाहरण जान-बूझकर ही दिया है। कोई समझदार बैंक जान-बूझकर सुख-शांति के जमाने में ऐसी बेहूदी हद तक नहीं जाता, पर असाधारण समय में ऐसी घटनाएं कई मुल्कों में हुई भी हैं। भारतवर्ष की ही बात लीजिए। इस समय जहां नोट प्रायः ८०० करोड़ रुपए के हैं, वहां सोना कुल ४४ करोड़ रुपए का है।

नोटों का प्रसार करना आसान काम है। उसके लिए जरूरत है बस कुछ कागज की। टेढ़े समय में या तो सरकार को कोई कर्ज देनेवाला नहीं मिलता या मिलता भी है तो बहुत कड़े सूद पर। इसलिए कई बार ऐसा हुआ है कि संकटापन्न सरकार ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न तो टैक्स लगाकर की, न कर्ज लेकर—उसने बस नोट छापनेवाली मशीनों को दिन-रात चलाकर अपना मतलब पूरा किया। प्रायः ऐसा भी हुआ है कि जिस सरकार ने यह तरीका अख्तियार किया, उससे औचित्य की सीमा का उल्लंघन हुए बिना न रह सका—और वह इतनी दूर आगे बढ़ गई कि उसका दिवाला निकल कर ही रहा।

फ्रांस की इतिहास-प्रसिद्ध क्रांति के समय वहां कुछ नोट जारी किये गए थे, जिन्हें assignat कहते थे। महन्त-मठाधीशों की जो जायदाद जब्त कर ली गई थी उसी की पुश्ती या आधार पर ये नोट जारी किये गए थे। मगर उस जायदाद की कीमत से कहीं अधिक के नोट निकाल दिये गए और इसका नतीजा यह हुआ कि इनकी कीमत बहुत नीचे गिर गई। कुछ काल बाद सरकार को मजबूर होकर इन नोटों को चलण से हटा लेना पड़ा।

२४ साल पहले रूस में, कम्युनिस्ट क्रांति के समय भी ऐसी ही बात हुई।

वहां चलण में जो सिक्का था उसका नाम रूबल (Rouble) था। क्रांति से पहले एक रूबल की कीमत प्रायः २ शिलिंग अर्थात् १।=) थी। मगर बाद में इसकी कीमत यहां तक गिर गई कि कुछ समय तक रूस में आध सेर रोटी के २५० रूबल और आध सेर चीनी के ६०० रूबल लगते थे।

फुलावट और गिरावट

इस तरह थोड़े सोने की पूंजी पर बेहद परिमाण में नोट निकालने की नीति को अंग्रेजी में Inflationary policy कहते हैं। हम इस अंग्रेजी परिभाषा के लिए "चलण की फुलावटी नीति"—इस मुहावरे का प्रयोग कर सकते हैं। इसी तरह किसी कारणवश नोट-प्रसारक बैंक यह भी कर सकता है कि १२० करोड़ की कीमत के सोने के मद्दे ४०० करोड़ रुपये की कीमत के नोट चलण में न रख कर केवल २०० करोड़ रुपए के नोट ही चलण में रखे, या तो और भी घटाकर १२० करोड़ के ही रखे। इस नीति को अंग्रेजी में Deflationary policy कहते हैं। हिन्दी में हम इसे "चलण की गिरावटी नीति" कह सकते हैं।

इस फुलावटी नीति या गिरावटी नीति का क्यों प्रयोग किया जाता है, इसका विवेचन भी आवश्यक है। पर यह विवेचन करने के पहले, नोट कैसे अधिक परिमाण में चलण में डाल करके फुलावट पैदा की जाती है और कैसे नोट कम करके गिरावट की जाती है, इस प्रयोग को भी हम समझ लें।

कोई नोट-प्रसारक बैंक बिना सरकार की मर्जी के तो फुलावट या गिरावट ज्यादा हद तक कर ही नहीं सकता। इसलिए जब सरकारी मर्जी से यह काम होता है तो सरकारी सहयोग भी अपने-आप मिल जाता है। ऐसी हालत में यदि फुलावटी नीति का प्रयोग करना होता है तो एक तरीका तो यह है कि सरकार जितना खर्च करती है उससे कर कम उगाहती है—यानी, मान लीजिए कि सरकार का खर्चा सालाना १,००० करोड़ है, तो कर लगाकर सरकार ने उगाहा केवल ७५० करोड़, और बाकी जो २५० करोड़ का घाटा है, उसको वैसा-का-वैसा रखा, अर्थात् कर वसूल करके उसकी पूर्त्ति नहीं की। नतीजा यह होता है कि कोष में आया ७५० करोड़, और कोष से निकला १,००० करोड़। यह २५० करोड़ जो कोष से बेशी निकला वह सरकार ने कहां से निकाला ? बस, सरकार ने सीधा-सा काम किया। उसने २५० करोड़ के नोट छापकर, या तो बैंक से नोट छपवाकर उसे उधार लेकर लोगों को चुका दिया, और इस तरह २५० करोड़ चलण में ज्यादा प्रवेश कर गया।

यह तरीका तो तभी काम में लाया जाता है जब कि सरकार आर्थिक कठिनाइयों में फंसी हुई होती है, या तो दिवालिया बनने की राह पर होती है। पर कभी-कभी अपने देश का व्यवसाय सुधारने के उद्देश्य से भी, हुण्डी की दर गिराने

के लिए फुलावटी नीति की शरण लेनी पड़ती है। फुलावटी नीति से दामों में तेजी आती है, और मात्रा से सीमा के भीतर, इस नीति का प्रयोग करने से व्यवसाय पर अच्छा असर होता है; मुल्क की पैदाइश और कारखाने पनपते हैं। विदेशी आयात पर इसका असर खराब पड़ता है। इसलिए धनी मुल्क भी कभी-कभी अपने लाभ के लिए इस नीति का सीमा के भीतर प्रयोग करते हैं। उसका तरीका इस तरह का है।

उदाहरण के बतौर हमने बताया है कि प्रसारक बैंक ने ४०० करोड़ के नोटों के पीछे १२० करोड़ का सोना बतौर इसकी पुश्ती के रखा था। सोने की कीमत १ मुद्रा की १ तोला सोना थी और उसीका प्रतीक १ मुद्रा का नोट था। इसके माने थे १ तोला सोना = १ मुद्रा = १ मुद्रा का नोट। अर्थात् १ नोट की कीमत १ तोला सोना थी। अब हमने यह निश्चय कर लिया कि हम अपने नोट की कीमत एक तोला सोना न रखकर केवल पौन तोला सोना ही रखेंगे। तो फिर प्रसारक बैंक के पास जो १२० करोड़ का सोना ४०० करोड़ के नोटों की पुश्ती के लिए था वह नोटों की ३० प्रतिशत कीमत का न रहकर ४० प्रतिशत कीमत का हो गया। फल यह हुआ कि १२० करोड़ के सोने के बदले में १६० करोड़ के नोट निकालने की हममें शक्ति हो गई। बस, हमने नए नोट निकालकर बैंक और सराफों की मार्फत व्यापार में डाल दिये। व्यापार पनपने लगा। चीजों के दाम बढ़ने लगे।

एक हद के भीतर फुलावट नीति से व्यापार, व्यवसाय-वाणिज्य और कारखानों पर अच्छा असर क्यों होता है, विदेशी आयात पर बुरा असर क्यों होता है, इसकी चर्चा आगे करेंगे।

मौसम के दिनों में फसल जब पकती है तब अक्सर बाजार में रुपए की टान होती है। उसकी वजह से व्यापारियों में दिक्कत न हो और रुपए की कमी की वजह से किसानों की जिन्स नीचे दामों में न बिक जाय, इसलिए बैंक ऐसी टान के समय में भी फुलावट करता है सही, पर वह थोड़े समय के लिए, और स्वल्प मात्रा में। तरीका उसका वही है जो व्यापार-व्यवसाय की स्थायी उन्नति के लिए काम में लाया जाता है।

पर जो अस्थायी होता है उसमें सिक्के की कीमत नहीं बदली जाती। वहां तो केवल यही होता है कि नोट-प्रसारक बैंक अत्यन्त सस्ते ब्याज पर लोगों को रुपए उधार देता है। मान लीजिए कि ब्याज इतना सस्ता कर दिया कि लोगों को रुपया उधार लेकर कारोबार में लगाने में अत्यन्त लाभ प्रतीत होने लगा, तो फिर चारों तरफ से धड़ाधड़ लोग रुपया उधार लेना शुरू करेंगे और नोट-प्रसारक बैंक दूसरे बैंकों के जरिए रुपया उधार देना शुरू कर देगा। मान लीजिए, इस तरह २५० करोड़ रुपए के नए नोट छापकर बैंक ने उधार दे दिये, तो चलण में २५० करोड़ रुपया और बढ़ गया।

और गिरावट पैदा करने के लिए ठीक इससे उलटे उपायों का प्रयोग होता है—यानी या तो सरकार कर ज्यादा वसूल करती है और खर्च कम करती है या तो बैंक खुद ऊंचे ब्याज पर उधार लेकर बाजार से नोट खैंच लेता है। दोनों ही के कारण चलण में से नोट निकल आते हैं और चलण में गिरावट पैदा कर देते हैं। जहां फुलावट के कारण दाम चढ़ते है वहां गिरावट के कारण दाम गिरते हैं।

फुलावट या गिरावट के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने की है। आवश्यकतानुसार नोट चलण में महज बढ़ गए या घट गए, केवल इसीलिए उस स्थिति को फुलावट और गिरावट की स्थिति नहीं कहना चाहिए। आवश्यकता से अधिक, और सो भी थोड़े-से सोने पर, जब हद से बाहर नोटों का चलण बढ़ चले तो फुलावट, और पर्याप्त सोने पर आवश्यकता से कम नोटों का चलण हो जाय तो गिरावट की नीति कही जानी चाहिए। मसलन, बैंक ने यह नियम कर रखा है कि १०० के नोट के चलण के पीछे ३० प्रतिशत सोना बैंक के कोष में रहेगा; अब यदि सोने का अनुपात ३० से नीचे जाता है तो हम क्रमशः फुलावट की ओर, और ऊपर जाता है तो गिरावट की ओर बढ़ रहे हैं।

विस्तार और संकोच

स्वभाव और उचित परिणाम से, आवश्यकतानुसार जो नोटों के चलण में कमी या देशी हो उसे स्वाभाविक संकोच या विस्तार कहना चाहिए।

मान लीजिए, देश में धन बढ़ा है, चीजों के दाम तेज हैं। विदेश के लोग हमारा माल धड़ाधड़ ले रहे हैं। हमने अपना माल बेचकर इस साल विदेशों से ५० करोड़ का सोना खरीदा। उसी के मद्दे १०० करोड़ के नोट चलण में रखे, हालांकि नियम के हिसाब से १५० करोड़ के भी नए नोट निकाल सकते थे। नए नोट, बिना सोने का कोष बढ़ाए नहीं निकाले। इसके अलावा पहले जो सोना १२० करोड़ का और नोट ४०० करोड़ के थे, अब वह सोना १७० करोड़ का और नोट ५०० करोड़ के हो गए। इस तरह कुछ सोना, जो पहले नोटों के अनुपात से ३० प्रतिशत था, वह अब ३४ प्रतिशत हो गया। दूसरे, यह सारा काम जरूरत के मुताबिक हुआ। देश की सम्पत्ति बढ़ रही थी, दाम बढ़ रहे थे, चलण में ज्यादा नोटों की जरूरत भी थी। इसलिए जो हुआ, ठीक हुआ। यह स्वाभाविक विस्तार हुआ।

इसी तरह मान लीजिए, देश में भयंकर अकाल पड़ा, भूमिकम्प हुआ या प्लेग-महामारी-हुई। इसके कारण देश की सम्पत्ति इस साल कम हो गई। बाहर से माल मंगाया ज्यादा, और भेजा कम। इसलिए हमें २५ करोड़ सोना कुछ बाहर भेजना पड़ा। बैंक ने इस २५ करोड़ सोने के मद्दे ५० करोड़ के नोट चलण में से निकाल लिये। इस हिसाब से अब नोटों का चलण ४०० करोड़ से घटकर ३५०

करोड़ रह गया, और सोना रह गया १२० करोड़ से घटकर कुल ९५ करोड़, जो नोटों की कुल कीमत का २७ प्रतिशत हुआ। पर चूंकि यह सब सावधानी से, आवश्यतानुसार हुआ, और सोने का परिमाण भी ३० से गिरकर २७ प्रतिशत रह गया, इसलिए इसे स्वाभाविक संकोच कह सकते हैं।

अर्थशास्त्री आमतौर से फुलावट या गिरावट, इन दो ही परिभाषाओं का प्रयोग करते हैं। पर मेरा खयाल है कि यह यथार्थ नहीं है। संकोच और गिरावट में कुछ भेद तो है ही और इसी तरह विस्तार और फुलावट में भी भेद है। यह भेद अवश्य सूक्ष्म है, पर इस भेद को मान लेना ही शायद ज्यादा शास्त्रीय है; इसलिए मैंने यह भेद मानकर फुलावट—विस्तार, और गिरावट—संकोच, ऐसी अलग-अलग परिभाषाएं रखी हैं। यह भेद इसलिए मान लिया है कि जहां फुलावट और गिरावट कृत्रिम उपायों से की जाती है, और विशेष हेतु को लेकर की जाती है, संकोच और विस्तार आवश्यकतानुसार स्वभावतया ही होते हैं। तो भी यह सही है कि यह भेद सूक्ष्म-सा ही है।

४

चूंकि फुलावट या गिरावट कृत्रिम उपायों से और विशेष हेतु के लिए की जाती है, इसलिए, यह क्यों की जाती है और इसका क्या फल होता है, यह, समझना भी जरूरी है। पर इसी सिलसिले में एक और मत का उल्लेख आवश्यक है।

जिन्सों के दाम में घटा-बढ़ी के, मोटे तौर पर, दो कारण हो सकते हैं—एक तो उन जिन्सों से ही सम्बन्ध रखनेवाला, दूसरा उस द्रव्य से सम्बन्ध रखनेवाला जिसके द्वारा दाम सूचित किया जाता है, जैसे नोट या धातु का सिक्का। एक चीज की कीमत कल दो पैसे थी, आज तीन पैसे है। अर्थशास्त्री इसका कारण दो जगह ढूंढ़ेगा। हो सकता है कि पैसे के परिमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, पर वह चीज घट चली है—कल जितनी उपलब्ध थी आज उतनी नहीं है—और इस घटी के अनुपात से उसका दाम बढ़ गया है, और हो सकता है कि चीज के परिमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, पर पैसे का परिमाण बढ़ गया है, और इस वृद्धि के अनुपात से उस चीज का दाम बढ़ चला है।

यहां जो सवाल पैदा होता है वह यों रखा जा सकता है कि दाम बढ़ा, वह चीज महंगी होने से या द्रव्य सस्ता होने से ? अगर हम Value के अर्थ में मूल्य

और Price के अर्थ में दाम शब्द व्यवहृत करें तो इसे यों रख सकते हैं कि उस वस्तु का अपना मूल्य चढ़ जाने के या द्रव्य का अपना मूल्य गिर जाने के कारण दाम बढ़ा ?

वस्तुओं के मूल्य में घटा-बढ़ी के कारण ढूंढ़ निकालना कठिन प्रयास है। एक फसल मारी गई अनावृष्टि से, दूसरी बाढ़ या जल-बाहुल्य से, तीसरी टिड्डियों के आक्रमण से। तीनों चीजें कम हो गईं, उनकी मांग ज्यों-की-त्यों बनी रही, फलतः उनका मूल्य बढ़ गया—अर्थात् उनके दामों में तेजी आ गई। सम्भव नहीं कि कोई भी ऐसा मत प्रतिपादित किया जा सके जो अनावृष्टि, बाढ़ और टिड्डियों का आक्रमण-जैसे विभिन्न, असम्बद्ध कारणों को अपने घेरे में लाकर तज्जनित जटिलता को किसी भी हद तक सरलता में परिणत कर सके। वास्तव में जहां तीन कारण दिये गए हैं वहां तीन सौ तो क्या, तीन हजार भी हो सकते हैं। किसी वस्तु के मूल्य में इस कारण भी वृद्धि हो सकती है कि लन्दन के 'टाइम्स' अखबार ने एक खास तरह की राय जाहिर कर दी—या राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने किसी पत्रकार के तत्सम्बन्धी प्रश्न को मजाक में उड़ा दिया—या किसी करोड़पति ने स्वप्न में देखा कि वह उस वस्तु के ढेर पर बैठा हुआ आसमान की ओर उठता जा रहा है। जहां दाम में घटा-बढ़ी किसी वस्तु के मूल्य में घटा-बढ़ी का प्रतिबिम्ब है वहां इस घटा-बढ़ी पर कोई सूत्रात्मक मत या नियम प्रकाश नहीं डाल सकता—जिज्ञासु को प्रत्येक कारण का अलग अन्वेषण और उसकी अलग व्याख्या करनी पड़ेगी।

द्रव्य-परिमाण-मत

द्रव्य अर्थात् रुपए-पैसे के मूल्य में घटा-बढ़ी के कारण न तो इतने अधिक हैं, न इतने विभिन्न। इसलिए इनके सम्बन्ध में Ricardo नामक अंग्रेज शास्त्री के समय से एक ऐसा उपयोगी मत चला आता है, और उसका नाम है "द्रव्य-परिमाण-मत" (Quantity Theory of Money)। जितने भी दाम होंगे, द्रव्य के ही रूप में होंगे। इसलिए द्रव्य के रूप में वृद्धि या ह्रास के जो भी कारण होंगे वे दामों के प्रसंग में सर्वत्र लागू होंगे। इस मत का निचोड़ यह है :

द्रव्य के मूल्य में घटा-बढ़ी का दामों पर उलटा असर होता है और वे उसी अनुपात से तेज या मन्दे हो जाते हैं। मान लीजिए कि किसी वस्तु का दाम होता है ४ ग्रेन सोना। अगर सोने का मूल्य घटकर आधा हो जाय, तो उस चीज का दाम ४ ग्रेन की जगह ८ ग्रेन सोना हो जायगा।

अब यह देखना है कि द्रव्य के मूल्य में घटा-बढ़ी होती क्यों है। इसके चार कारण हो सकते हैं :

(१) द्रव्य के परिमाण का घटना-बढ़ना। सोना या चांदी खानों से ज्यादा

निकली तो उसका मूल्य कम हो गया—कम निकली तो उसका मूल्य बढ़ गया। अगर सिक्के सोना-चांदी के हैं तो उनके मूल्य में भी ऐसी ही घटा-बढ़ी होगी और चीजों के दाम में—उसी हिसाब से—फर्क पड़ेगा। अगर चलण में सोना-चांदी के सिक्कों की जगह कागजी नोट हैं और इनका परिमाण बढ़ता-घटता है, तो इनके मूल्य में भी उसी प्रकार अन्तर पड़ेगा और चीजों के दाम उसी प्रकार तेज या मन्दे होंगे।

(२) हो सकता है कि द्रव्य का परिमाण ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, पर उसके चलण या रफ्तार में कुछ खास कारण या कारणों से तेजी आ गई। इस तेजी का असर वही होगा जो उस द्रव्य का परिमाण बढ़ने का होता। कारण यह कि रफ्तार में तेजी के माने हैं उतने ही द्रव्य का ज्यादा चक्कर लगाना, अर्थात् द्रव्य के परिमाण का बढ़-सा जाना। अगर चलण या रफ्तार धीमी हो गई तो इसका असर उलटा पड़ेगा; क्योंकि इसका अर्थ होगा द्रव्य के परिमाण का घट-सा जाना। जब कोई रुपए को अपने पास रखना नहीं चाहता तब दाम चढ़ते हैं; जब लोग रुपए को दबाकर बैठ जाते हैं तब दाम गिरते हैं।

(३) द्रव्य की मांग, अवस्था-विशेष में, इस कारण कम हो जाती है कि लोग भुगतान के लिए चेक या हुण्डी-पुरजे का अधिकाधिक व्यवहार करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में दाम गिरते नहीं, ऊपर चढ़ते हैं; क्योंकि द्रव्य की मांग कम हो गई, द्रव्य का मूल्य गिर गया, चीजों के दामों में तेजी आ गई। चेक और हुण्डी भी तो आखिर द्रव्य के ही प्रतीक हैं। उनकी संख्या बढ़ गई तो एक प्रकार से वह द्रव्य ही बढ़ गया, क्योंकि यदि चेक-हुण्डी न होती तो उनके स्थान की पूर्ति नोटों को करनी पड़ती। इसलिए इस पहलू को यों भी बताया जा सकता है कि द्रव्य-परिमाण बढ़ गया, इसलिए द्रव्य के दाम गिर गए, और चीजों के दाम चढ़ गए।

(४) मगर इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि वाणिज्य-व्यापार या लेन-देन की वृद्धि के कारण द्रव्य की मांग बढ़ जाय। मांग की पूर्ति न की जाय और चलण में द्रव्य न बढ़ाया जाय तो स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में द्रव्य का मूल्य बढ़ेगा—अर्थात् चीजों के दाम गिरेंगे।

द्रव्य के मूल्य में घटा-बढ़ी के कारणों को समझाने के लिए ऊपर यह मान लिया है कि जहां एक बात बदलती है वहां और सब बातें समान बनी रहती हैं। पर प्रकृत जीवन में ऐसी अवस्था बहुत कम मिलती है। एक नहीं, अनेक बातें प्रायः साथ-ही-साथ बदलती रहती हैं और परस्पर-विरोधी शक्तियों की मुठभेड़-सी बनी रहती है। घटा-बढ़ी का जो अन्तिम कारण बताया गया है उस पर फिर एक नजर डालिए। लिखा है कि द्रव्य की मांग बढ़ने से उसका मूल्य बढ़ेगा और चीजों के दाम गिरेंगे। मगर सम्भव है कि जहां एक ओर द्रव्य की मांग बढ़े वहां,

दूसरी ओर, साथ-ही-साथ उसका परिमाण भी इतना बढ़ जाय कि उसके मूल्य में किसी प्रकार की वृद्धि न हो और दामों पर कोई असर न पड़े। वास्तव में वस्तु-स्थिति कभी-कभी इतनी जटिल होती है कि उसका पूरा विश्लेषण करना और यह जान लेना कि वह कौन-कौन से कारणों के फलस्वरूप बनी है, अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है। पर जटिल-से-जटिल अवस्था में भी द्रव्य के मूल्यों में घटा-बढ़ी उपर्युक्त कारणों से ही होती है—चाहे उनमें से एक मौजूद हो, चाहे एक से अधिक। मांग बढ़ेगी या परिमाण कम होगा तो उसके मूल्य में वृद्धि होगी। मांग घटेगी या परिमाण वढ़ेगा, तो मूल्य में ह्रास होगा। यह सरल या जटिल प्रत्येक अवस्था के लिए सत्य है।

उपर्युक्त विश्लेषण को सामने रख कर ही हम "द्रव्य-परिमाण-मत" के शुद्ध स्वरूप को समझ सकते हैं, जो यह है कि सिक्का—चाहे वह स्वयंसिद्ध मुद्रा हो चाहे प्रतीक मुद्रा—जब चलण में ज्यादा होता है तो जिन्सों के दाम—बढ़े चलण के अनुपात से—बढ़ जाते हैं, और सिक्का चलण में कम होता है तो, जितना कम होता है उसी अनुपात से, जिन्सों के दाम गिरते हैं।

यह बात सहज ही समझ में आ सकती है। मान लीजिए कि अचानक सोने की नई खानें निकल आईं और सोने की पैदाइश बेहद बढ़ चली। उसके कारण सोने के दाम गिर गए, यहां तक कि सोने के दाम पहले से आधे हो गए—तो स्वभावतया ही, यदि हम विदेशों में खरीद से ज्यादा माल बेचते रहे हैं तो बदले में पहले जितना सोना खरीदते थे उसके बजाय उतने ही माल के लिए दुगुना सोना हमें मिल सकेगा। सोना दुगुना मिलेगा, उस पर फिर नोट भी ज्यादा चलण में बढ़ेंगे। जैसे पहले यदि १० करोड़ का नया सोना हम हर साल खरीदते थे और उसके मद्दे ३० करोड़ के नए नोट चलण में रखते थे, तो अब उतने ही माल के बदले में विदेशों में हमें १० करोड़ के बजाय (क्योंकि सोने के दाम आधे हो गए) २० करोड़ का सोना मिलेगा, जिसके मद्दे हम आसानी से ६० करोड़ के नए नोट चलण में रख सकेंगे। नए नोट चलण में आने से ब्याज गिरेगा, नाणा मन्दा होगा और बहुतायत से उधार मिल सकेगा। कोई भी चीज कम होती है तो वह महंगी हो जाती है, ज्यादा होती है तो सस्ती होती है। चूंकि नाणा ज्यादा हो गया, इस-लिए नाणा सस्ता हो गया। नाणा सस्ता हो गया, इसके माने दूसरे शब्दों में यह हुए कि चीजें महंगी हो गईं। दरअसल जब हम कोई चीज खरीदते हैं तो उस चीज का नाणे के साथ तबादला-मात्र होता है, यानी नाणा हम बेचते हैं और चीज खरीदते हैं। जब नाणा सस्ता होता है तो सस्ते में बिकेगा—अर्थात् जिन्सों के साथ नाणे की अदला-बदली में, यदि नाणा सस्ता है तो, हमें नाणा ज्यादा देना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि चीजों के दाम महंगे हो गए।

जब नोट चलण में बढ़ जाते हैं तो नाणा आसानी और सहूलियत से और

बहुतायत से कम ब्याज पर मिलने लगता है। ऐसी हालत में लोगों को अपना व्यवसाय बढ़ाने की फिक्र होती है। नए कारोबार में रुपया लगाने में किसी को हिचकिचाहट नहीं होती। नतीजा यह होता है कि व्यापार पनपता है, हर चीज के दाम बढ़ते हैं। पर इस मत के पूर्णतया सिद्ध होने की कई-एक शर्तें हैं। एक शर्त तो यह है कि द्रव्य का चलण बढ़ा—चाहे नोटों का या सिक्कों का—उतना ही यदि व्यापार और लेन-देन भी बढ़ गया, तो फिर दाम नहीं बढ़ेंगे। दाम तो तभी बढ़ेंगे जब कि चलण अपेक्षाकृत बढ़ गया हो—अर्थात् यदि व्यापार बढ़ा है रुपए में एक आना और चलण बढ़ गया रुपए में दो आना, तभी नाणा मन्दा है, ऐसा हम कहेंगे। ऐसी हालत में रुपए की छूट होगी और इसके कारण चीजों के दाम बढ़ेंगे।

इसके विपरीत यदि व्यापार या लेन-देन की जरूरत बढ़ी रुपए में एक आना और चलण बढ़ा पौन आना ही, तो यह कहा जायगा कि अपेक्षाकृत चलण में संकोच हुआ है, और इसलिए चीजों के दाम झुकाव की ओर होंगे। असल में तो इस मत की सिद्धि के लिए हमें यह शर्त लगानी होगी कि यदि दो तुलनात्मक स्थितियां हर बात में बिलकुल यकसां है, तो फिर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि द्रव्य-परिमाण (नोट वा सिक्कों का चलण) बढ़ने पर, जितना परिमाण बढ़ा उसी अनुपात से चीजों के दाम बढ़ेंगे और नाणा सस्ता होगा, और द्रव्य-परिमाण घटने पर, जितना परिमाण घटा उसी अनुपात से, चीजों के दाम गिरेंगे।

द्रव्य की पंगुता

यहां, फुलावट और गिरावट के सम्बन्ध में, हमें एक बात कहनी है, जो जाहिरा तौर पर, अबतक जो कुछ कहा जा चुका है उसके विपरीत जान पड़ती है। हर हालत में फुलावट और गिरावट के नतीजे वही नहीं होते जा ऊपर बताये जा चुके हैं। संभव है, फुलावट होते हुए भी दाम समान से बने रहें, या उनमें तेजी भी आये तो नाम-मात्र की, और संभव है, गिरावट होते हुए भी जिन्सों के दाम चढ़ जायं। आप कह सकते हैं, "यह खूब रही ! और अगर यह सच है, तो इससे तो 'द्रव्य-परिमाण-मत' का खोखलापन ही साबित हुआ। आप दोनों बातों का सामञ्जस्य कैसे करते हैं ?"

फुलावट होते हुए भी, अगर लोगों के खर्च करने का वेग उस हिसाब से नहीं बढ़ता और द्रव्य या पैसा पंगु-सा होकर बैठा या पड़ा रहता है तब दामों में उतनी तेजी नहीं आ सकती, जितनी फुलावट को देखते हुए संभव जान पड़ती है। इस महासमर में इंग्लैंड की बात लीजिए। वहां फुलावट काफी हो चुकी है, पर उस अनुपात में दाम नहीं बढ़ पाये हैं। कारण यह है कि लोग मौजूदा हालत में मनो-

वाञ्छित रीति से जिन्स नहीं खरीद सकते। उनके पास पैसा अधिक है, उनकी क्रयशक्ति बढ़ गई है, पर वह पैसा तरह-तरह के नियंत्रणों के कारण निष्क्रिय-सा पड़ा हुआ है। सरकार को लड़ाई के लिए हर तरह की जिन्स की जरूरत है—और सख्त जरूरत है। अगर बाजार में उन जिन्सों को खरीदते समय सरकार को सर्वसाधारण की प्रतियोगिता का सामना करना पड़े, तो उसकी समस्या बड़ी जटिल हो जाय, और लड़ाई के लिए जैसी तैयारी होनी चाहिए, न हो सके। उस प्रतियोगिता को सरकार ने विभिन्न उपायों से बहुत-कुछ रोक दिया है। इस कारण लोगों की क्रय-शक्ति अशक्त-सी हो गई है—उनके पास पैसा अधिकाधिक होते हुए भी वह उसे एक हद से आगे खर्च करने में असमर्थ हैं। फिर दाम फुलावट के हिसाब से बढ़ें तो कैसे ?

मान लीजिए कि लड़ाई बन्द होते ही सरकार की नीति फुलावट से गिरावट की हो गई; तो क्या दाम गिरने लगेंगे ? आज आय-वृद्धि होते हुए भी व्यय करने के मार्ग बन्द हैं, इसलिए उस पैसे का दामों पर जो असर पड़ सकता था वह नहीं पड़ रहा है। पर कल अगर यह मार्ग खुल गए, और लोग मनमाना खर्च करने के लिए स्वतन्त्र हो गए तो गिरावट के बावजूद जिन्सों के दामों में बेहद तेजी आ सकती है।

सारांश यह कि दामों की दृष्टि से प्रधानता इस प्रश्न की है कि कितना पैसा खर्च हो रहा है—न कि इस प्रश्न की कि कितना पैसा मौजूद है। साधारण समय में यह भेद कोई खास अर्थ नहीं रखता, क्योंकि लोग अपने पैसे को मनमानी रीति से खर्च करने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। पर इस महासमर-जैसे असाधारण समय में—जबकि पैसा होना एक बात है, उसे मनमानी रीति से खर्च करने की स्वतन्त्रता होना दूसरी बात—यह भेद विशेष महत्त्वपूर्ण है। फिर भी यह बात कोई ऐसी नहीं, जिसका "द्रव्य-परिमाण-मत" से मेल या सामञ्जस्य न हो सके। वास्तव में यह उसी मत के अन्तर्गत है, क्योंकि वह द्रव्य के परिमाण पर ही नहीं, उसके चलण या रफ्तार पर भी जोर देता है। हम अपने शब्दों को दोहराते हैं—"जब कोई रुपये को अपने पास रखना नहीं चाहता तब दाम चढ़ते हैं; जब लोग रुपए को दबाकर बैठ जाते हैं तब दाम गिरते हैं।" इस समय रुपया अधिक होते हुए भी दबा हुआ है, इसलिए दाम जितने ऊंचे हो सकते थे, नहीं हैं।

५

पर चलण के स्वाभाविक विस्तार और संकोच से जो असर चीजों के दामों पर पड़ता है उससे कहीं अधिक जोरदार असर चीजों के दामों पर चलण की फुलावट और गिरावट के कारण पड़ता है। चूंकि विस्तार या संकोच तो अपने-आप करीब-करीब स्वभाव से ही होता है, इसकी गति भी मन्द होती है और इसका असर भी सह्य और मृदु होता है।

पर चूंकि फुलावट और गिरावट जान-बूझकर की जाती है, इसकी गति द्रुत होती है। इसलिए जितनी ही कसकर फुलावट या गिरावट की नीति काम में लाई जाय, उतना ही अधिक तात्कालिक असर इस नीति का जिन्सों की कीमत पर होगा। और खासकर फुलावट की नीति में तो—यदि अत्यधिक, बेपरिमाण फुलावट की जाय तो—लोगों का नोटों से विश्वास इस कदर भाग जाता है कि वे नोटों को एक रात भी अपने पास रखना नापसन्द करते हैं और अपना पूंजी-पल्ला जिन्सों में ही रोकना पसन्द करते हैं इसका नतीजा यह होता है कि चीजों के दाम अनाप-शनाप बढ़ जाते हैं और ब्याज की दर भी बढ़ने लगती है।

लड़ाई के बाद जर्मन मार्क और रूसी रूबल के चलण की फुलावट यहां तक बढ़ी कि साधारण समय में जितने नोट चलण में थे, उससे कई लाख गुने नोट चलण में रख दिये गए। नतीजा यह हुआ कि नाणा कागज के टुकड़ों की तरह इतना सस्ता हो गया कि उसकी कोई कीमत ही नहीं रह गई और जर्मनी में जिस चीज के दाम साधारण समय में १-२ मार्क रहे होंगे उसके दाम लाखों मार्क तक हो गए। ज्यों-ज्यों मार्क छप-छपकर जोर से चलण में आने लगे, त्यों-त्यों बड़ी तेजी के साथ चीजों के दाम बढ़ने लगे, यहां तक कि हर मिनिट दाम ऊंचे जाने लगे। कहा जाता है कि जब एक नानबाई अपने ग्राहक को रोटी बेचकर उसके मार्क पाता था तो उसे यह चिन्ता होती थी कि ताजा रोटी बनाने के लिए आटा खरीदते-खरीदते कहीं आटे के दाम बढ़ न जायं। इसलिए वह रोटी बेचते ही मार्क लेकर बेतहाशा दौड़कर आटे वाले की दुकान पर पहुंच कर आटा ले लेता था और मार्क से पिण्ड छूटने पर ही शान्ति से सांस लेता था।

बेहद फुलावट के नतीजे

उस जमाने की इससे भी ज्यादा मजेदार कई सच्ची कहानियां प्रचलित हैं। जब मार्क की कीमत कौड़ी से भी कम होने जा रही थी, तब तो ऑस्ट्रिया और जर्मनी के लोगों का विश्वास इस बुरी तरह डुल गया कि कई लोगों ने तो अपनी कफन-काठी भी मरने के पहले खरीदकर रख दी ताकि बाद में कहीं दाम बेशुमार

ज्यादा न बढ़ जायं !

एक प्रतिष्ठित भारतीय कोठी का कुछ मार्क एक जर्मन व्यापारी से पावना था। वह मार्क हजारों की तादाद में था, जिसकी साधारण समय में हजारों रुपए कीमत थी। भारतीय कोठी ने जब जर्मन व्यापारी से रुपया मांगा और लिखा कि आप हमारे मार्क भेज दीजिए, तो जर्मन व्यापारी ने जवाब दिया कि "महाशय, आपके २५,००० मार्क पावने थे, पर मैं जो यह खत आपको लिख रहा हूं, उसके टिकिट और लिफाफे के दाम ही तो ढाई लाख मार्क हो जायंगे। इस हिसाब से यदि मैं हिसाब लगाऊं दो उलटा मेरा ही आपसे पावना निकलेगा।"

कहते हैं, ऑस्ट्रिया में दो भाई थे, जिनमें से एक के पास-२०-३० हजार क्राउन थे, जिसके कारण वह सम्पन्न माना जाता था। और दूसरा शराबी था, जो नित्य जितना कमाता था, उसका एक बड़ा हिस्सा शराब में बरबाद कर देता था और शराब की बोतलें घर में जमा रखता था। जब क्राउन की फुलावट हुई तब, जो भाई सम्पन्न था उसके क्राउन तो कौड़ी में हो गए, पर जो शराबी था उसकी खाली बोतलों की कीमत लाखों क्राउन हो गई ! नाणे की फुलावट क्या-क्या करामात दिखाती है, इसका यह एक मजेदार उदाहरण है।

मान लीजिए कि हमारे यहां २५० करोड़ रुपए के नोटों का चलण है, उसे बढ़ाकर २५,००० करोड़ के नोटों का कुल चलण कर दिया जाय—अर्थात् सौगुना चलण बढ़ा दिया जाय, तो स्वभावतया रुपए की साख सौवां हिस्सा रह जायगी। और जो मेथी की सब्जी आज दो पैसे सेर मिलती है, उसके दाम २०० पैसे सेर, अर्थात् एक सेर मेथी की कीमत करीब-करीब ३ रुपए हो जायगी।

ऊपर हमने बताया है कि नाणा चलण में ज्यादा होता है तो चीजों के दाम पनपने लगते हैं और सस्ते व्याज में उधार मिलने लगता है। पर यह सस्ते व्याज की बात केवल नियंत्रित विस्तार तक सीमित है—अर्थात् व्यापार को पनपाने के लिए या केवल मौसमी टान को मेटने के लिए ही जब हम चलण में सिक्का ज्यादा डालते हैं, और सो भी नियंत्रण के साथ स्वल्प मात्रा में, तभी तक व्याज मंदा रहता है। पर जहां फुलावट की नीति जोर से शुरू की और चलण में लोगों का विश्वास कंपित हुआ कि व्याज की दर जोर से बढ़ने लगती है।

जर्मनी में फुलावट के जमाने में चीजों के दाम कैसे बढ़ गए, इसका उदाहरण हमने ऊपर दिया है। उस जमाने में व्याज की दर भी यहां तक बढ़ी थी कि एक जमाने में व्याज १२०० प्रतिशत—अर्थात् १०० सिक्के का व्याज एक साल का १२०० रुपया हो गया। आपने यदि कुल १०० सिक्के उधार दिये तो एक साल के बाद आपको अपने देनदार से १२०० सिक्के व्याज में मिल गए। ऐसी विषम स्थिति हो गई थी।

यह कुछ अनहोनी-सी बात लगती है कि इतनी ऊंची व्याज की दर हो सकती

है—और सो भी एक सुसभ्य देश में। काबुली व्याज कड़ा होता है। पठान लोग गरीबों को अत्यंत ऊंचे व्याज पर उधार देते हैं। पर यह १२०० प्रतिशत का व्याज तो काबुलियों से भी बाजी मारता है। पर उस समय की परिस्थिति को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जैसा कि हमने पहले बताया है, जब फुलावट-नीति जोर से शुरू होती है तो चलण का मूल्य धड़ाधड़ गिरने लगता है। मान लीजिए, जिस चलण का मूल्य आज एक मात्रा है, उसका मूल्य एक साल में शतांश रह गया, और भय यह हो कि शायद महीने बीस दिन के बाद $\frac{१}{२००}$ रह जाय या इससे भी कम हो जाय, तो फिर चलण अपने पास कोई नहीं रखेगा। इसलिए जिस नानबाई का हमने उदाहरण दिया है वह बेतहाशा दौड़कर मार्क का आटा खरीदकर ही दम लेता था। ऐसी जहां हालत हो, वहां फिर चलण को अपने पास कौन रखे? जिसने उधार दिया वह तो मारा गया, क्योंकि साल-भर के लिए यदि किसी ने १०० मार्क उधार दिये और मार्क के दाम गिरकर साल भर में $\frac{१}{२००}$ रह जाय, तो जो मार्क उसे वापस मिलेंगे वे सौ के बजाय आधे मार्क का-सा काम देंगे। इसके माने यह हुए कि यद्यपि उसे वापस १०० मूल रकम और १२०० व्याज के, कुल १३०० मार्क मिले, पर १३०० की कीमत $\frac{१}{२००}$ के हिसाब से $\frac{१३००}{२००} \times १ = ६\frac{१}{२}$ मार्क ही कुल रह गयी। इतना व्याज पाने पर भी कर्ज देनेवाला घाटे में ही रहा। यही कारण है कि इस तरह की फुलावट की नीति के जमाने में नाणा प्रचुर मात्रा में होते हुए भी व्याज की दर बेहद बढ़ जाती है, क्योंकि उधार देनेवाले को बड़ी जोखिम उठानी पड़ती है।

फुलावट का कर्ज पर असर

फुलावट में प्रतीक की साख में ठेस पहुंच गई और प्रतीक की मिकदार चलण में ज्यादा हो गई। इसलिए, जैसा कि पहले बता चुके हैं, जिन्सों के दाम भी बढ़ गए। पर किसी कर्जदार को एक सौ का देना था और पावनेदार का उतना ही पावना था तो—यद्यपि जब दोनों का लेन-देन हुआ था तब प्रतीक स्वयंसिद्ध मुद्रा का सच्चा प्रतिनिधि रहा हो—आज प्रतीक स्वयंसिद्ध मुद्रा का प्रतिनिधित्व खो बैठा, तब भी पावनेदार को वही सौ मिलेंगे, और देनेवाले को वही सौ देने पड़ेंगे। फुलावट के कारण प्रतीक की करामात कम हो गई, इससे लेन-देन की निर्धारित रकम पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

पहले जो एक रुपया दस सेर गेहूं खरीद सकता था, अब फुलावट के कारण रुपये की साख गिर गई और जिन्सों के दाम बढ़ गए, इसलिए चाहे दस सेर गेहूं के बदले ८ सेर ही खरीद सके, पर पावनेदार देनदार से यह नहीं कह सकता, "भाई साहब, मैंने जब आपको उधार दिया तब रुपए की साख सोलह कला संपूर्ण थी।

प्रतीक के स्वामी को बैंकवाले आठों पहर छूट मे स्वयंसिद्ध मुद्रा देते थे। अब वह वात नहीं रही। फुलावट की नीति के कारण प्रतीक हृतश्री हो गया। इसकी कलाएं घट गईं। १० सेर गेहूं के बजाय अब इसके बदले में ८ सेर गेहूं ही मिल सकते हैं। इसलिए मेरा रुपया जो पहले सोलह कलावाला था उसीको लौटाने की आपकी जिम्मेदारी है। इसलिए आप या तो मुझे स्वयंसिद्ध मुद्रा का प्रतीक लौटाइए, और यदि आप मुझे घटे दाम का रुपया लौटाना चाहते हैं तो सौ के ऋण के वजाय आपको सवा सौ देना होगा।" यदि पावनेदार ऐसी बात कहे तो देनदार अवश्य ही कहेगा, "तुम कहां आकाश-पाताल की बातें कर रहे हो? मालूम होता है, तुम्हारे दिमाग की कोई कील गिर भागी है, इसलिए बेहतर है कि तुम अपनी चिकित्सा कराओ।"

लाभ और हानि

पर वावजूद इस प्रश्नोत्तरी के यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस फुलावट की नीति के कारण पावनेदार को घाटा हुआ, और देनदार को लाभ; क्योंकि पावनेदार का जो पावना था, वह था पूर्णकला रुपया या सुवर्ण मुद्रा, और अब वापस मिल रहा है उसे घटी कीमत का प्रतीक, जो पुराने रुपए की अपेक्षा कम जिन्स खरीद सकता है। पर चूंकि कानून का यह तकाजा है कि फुलावट या गिरावट के कारण प्रतीक की कीमत में चाहे जो घटा-वढ़ी हो (उस घटा-बढ़ी को निश्चित-रूपेण मापने का कोई साधन नहीं है और यदि हो भी तो वह सरकार को मान्य नहीं है) उससे पावनेदार या देनदार के पावने देने की रकम पर कोई असर नहीं होगा—अर्थात् यदि स्वयंसिद्ध मुद्रा के चलण के समय का १०० का पावना देना है, तो वह फुलावट-नीति के समय भी १०० का ही पावना देना माना जायगा।

करोड़ों का देना-पावना हर मुल्क में होता है और उस देने-पावने की रकम ज्यों-की-त्यों वनी रहती है, इसलिए सर्वसाधारण को प्रतीक की कीमत गिर गई है या वढ़ गई है, इसका थोड़ी घटा-बढ़ी में कोई पता भी नहीं चलता। पर पता न भी रहे तो भी उसके असर से लोग वंचित नहीं रहते। यदि दाम चढ़ते हैं तो सभी को उसका फल भुगतना पड़ता है, और गिरते हैं तब भी यह सभी को लागू पड़ता है।

एक सावधान और सम्पन्न व्यक्ति ऑस्ट्रिया में कैसे दरिद्र हो गया और उसका भाई, जो शराबी था, कैसे धनिक बन गया, इसका उदाहरण हम पहले दे आये हैं। यद्यपि फुलावट के कारण प्रतीक-मुद्रा की दर कितनी गिर गई है, इसकी माप-तौल का सर्वसाधारण को पूरा पता नहीं चलता, पर जाननेवाले तो जानते ही हैं कि फुलावट के कारण प्रतीक की कीमत कम हो जाती है और इसके

फलस्वरूप पावनेदार को, नकद रुपया रखनेवाले को, जिन्सों की खपत करनेवाले को, मजदूरपेशा लोगों को और जिनकी आय निर्धारित है उनको (जैसे जमींदार, पेन्शनयाफ्ता लोग, नौकरीपेशा लोग, कर वसूल करनेवाली संस्थाएं—जैसे सरकार, म्युनिसिपैलिटी, कॉलेज, स्कूल इत्यादि) हानि होती है, और कर्जदार लोग, कारखानेवाले, माल पैदा करनेवाले, (जैसे किसान, जुलाहा, बढ़ई, लोहार, चमार आदि) इन लोगों को लाभ होता है।

गिरावट की नीति में, जिन्हें फुलावट में लाभ होता है, उनको हानि है, और फुलावट में जिन्हें नुकसान है, उनको लाभ है।

६

इस फुलावट या गिरावट के कारण हमारी मुद्रा की कीमत पर विदेशों में क्या असर होता है, इसका भी जरा विवेचन कर लें।

हमने पहले बताया है कि प्रतीक-मुद्रा तो स्वयंसिद्ध मुद्रा की प्रतिनिधि-मात्र है—अर्थात् एक सुवर्ण मुद्रा की कीमत का प्रतीक हम नोट-प्रसारक बैंक के पास पेश करें, तो हम एक सुवर्ण मुद्रा पाने के अधिकारी होंगे और बैंक एक सुवर्ण मुद्रा देने के लिए बाध्य होगा। पर यह अधिकार और जिम्मेदारी, दोनों-के-दोनों फुलावट-नीति के प्रवेश करते ही समाप्त हो जाते हैं, और गिरावट-नीति के आने पर दोनों और भी सुरक्षित बन जाते हैं।

कारण स्पष्ट है। थोड़े-से सोने की पूंजी पर एक तरफ तो अत्यधिक और बेपरिमाण प्रतीक चलण में डाल दिये जायं, और दूसरी तरफ प्रतीक के स्वामी का प्रतीक के बदले में स्वयंसिद्ध मुद्रा पाने का अधिकार अक्षुण्ण बना रहे और बैंक प्रतीक-मुद्रा के बदले में सुवर्ण मुद्रा देने के लिए बाध्य हो—ये दोनों बातें असंगत हैं; क्योंकि १२० करोड़ की कीमत के सोने के आधार पर यदि ३,२०० करोड़ के नोट चलण में डाल दिये जायं और उनमें से यदि २०० करोड़ की कीमत के नोटवाले भी अपने अधिकार का उपयोग करें और बैंक से नोट भुनाकर सुवर्ण-मुद्रा मांगें, तो बैंक को अपना दरवाजा बन्द करने के सिवा कोई चारा न होगा। कुल पूंजी ही यदि १२० करोड़ है, तो फिर २०० करोड़ के नोटों का भुगतान बैंक चुका ही कैसे सकता है? ज्यादा-से-ज्यादा—३,२०० करोड़ के नोटों में से—कुल १२० करोड़ ही तो चुका सकता है। बाकी के नोटों के पीछे जब कोष में सोना ही नहीं रहता, तो फिर नोटों की पुश्ती ही नेस्तनाबूद हो जाती है और

इसलिए नोटों की साख शून्यवत् रह जाती है। इसलिए जहां फुलावट-नीति के प्रयोग का विचार हुआ कि प्रतीक मुद्रा के स्वामी का सुवर्ण मुद्रा पाने का अधिकार समाप्त हुआ।

गिरावट की नीति में, इसके विपरीत, यह अधिकार और भी ठोस बन जाता है; क्योंकि चलण के नोटों के परिमाण के मुकाबले में बैंक के कोष में स्थित सोने का परिमाण और भी बढ़ जाता है। इसलिए स्वभावतया प्रतीक मुद्रा की साख बढ़ जाती है। पर फुलावट-नीति में तो प्रतीक नाम-मात्र का प्रतीक रहता है। पहले प्रतीक की कीमत जो एक सुवर्ण मुद्रा थी, फुलावट होने पर अब उसकी कोई निश्चित कीमत नहीं रही। अब प्रतीक की कीमत उसकी साख की घटा-बढ़ी के अनुसार घटती और बढ़ती रहती है और वह साख फुलावट के परिमाण के पीछे कमो-बेश होती रहती है। यदि फुलावट ज्यादा होती है तो, जैसाकि ऊपर बताया है प्रतीक की कीमत ज्यादा गिर जाती है और यदि फुलावट अपेक्षाकृत कम होती है तो प्रतीक की कीमत कम गिरती है।

जबतक प्रतीक और स्वयंसिद्ध मुद्रा का कानूनन सम्बन्ध था, दोनों गठजोड़े से बंधे थे, तबतक तो प्रतीक की निर्धारित कीमत कायम थी, पर जहां प्रतीक और स्वयंसिद्ध मुद्रा का तलाक हुआ कि कीमत की स्थिरता गायब हुई। यद्यपि कहने के लिए तो प्रतीक फिर भी एक सुवर्ण मुद्रा का नोट ही होगा, जैसा कि इंग्लैंड में एक पाउण्ड का नोट आज भी एक पाउण्ड का नोट ही कहलाता है, पर उसके माने यह नहीं कि उसके पीछे एक पाउण्ड की सुवर्ण मुद्रा पड़ी है, जिसे हम चाहे जब बैंक ऑफ इंग्लैंड से मांग लेंगे और वह हमें दे देगा। इस तलाक के बाद असल में तो प्रतीक की कीमत कटी पतंग की तरह हो जाती है और जैसे हवा के झोकों के बल पर पतंग गिरती है या उठती है, उसी तरह प्रतीक की कीमत भी चलण की फुलावट की कमी-बेशी के आधार पर हिलोरें खाती रहती है।

प्रतीक की कीमत और विदेशी बाजार

यह सही है कि सर्वसाधारण को फुलावट या गिरावट के कारण प्रतीक की दर में क्या घटा-बढ़ी हुई, इसका कोई पता नहीं चलता; क्योंकि उनकी नजरों के सामने तो सिवा जिन्सों की कीमत की घटा-बढ़ी के और कोई ऐसे लक्षण नहीं आते, जिनसे उन्हें प्रतीक की नई कीमत का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। उनके सामने रुपए की वही पहले वाली शक्ल है; वही देनदार-पावनेदार की रकम है; वही रुपए का नाम है।

पर विदेश में लोग हमारे प्रतीक की कीमत के सम्बन्ध में इतने अन्धकार में नहीं रहते। उन्हें हमारे प्रतीक की कीमत का और उसमें रोज होनेवाली घटा-बढ़ी की करीब-करीब सही माप-तौल मिल जाती है; और इसलिए, जैसे मनुष्य

अपने चेहरे को स्वयं नहीं देख सकता, किन्तु दर्पण की सहायता से अपने मुंह की बदसूरती या सुन्दरता की सही माप-तौल कर सकता है, उसी तरह हमारे प्रतीक का विदेशी लोग क्या दर-दाम करते हैं, इससे उसकी कीमत का अधिक सही ज्ञान हमें हो सकता है। विदेशी बाजार एक तरह दर्पण का काम देते हैं; क्योंकि उन्हीं के द्वारा हमें अपने प्रतीक की सही कीमत का पता लगता है।

पर विदेशी बाजार हमारे दर्पण क्यों बन जाते हैं ? यदि विदेशों से हम माल न तो खरीदें और न उन्हें बेचें, तब तो किसको फुर्सत है कि हमारे चलण की क्या कीमत होनी चाहिए, इस पर कोई विदेशी बहस करने बैठेगा। पर चूंकि हम विदेशों में जिन्स मोल लेते हैं और बेचते हैं, इसलिए हमारे चलणी प्रतीक की कीमत को हर समय कूतते रहना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। यह क्यों ?

मान लीजिए, आप लन्दन के बाजार में कुछ चीजें मोल लेते हैं, तो उनका दाम आप यदि भारतीय नोटों में चुकाना चाहेंगे तो कोई दूकानदार आपको माल न बेचेगा, इसलिए आपको वह दाम अंग्रेजी नोटों में चुकाना पड़ता है। अंग्रेजी नोट आप कहां से लाते हैं ? आपके घरवाले हिन्दुस्तान में किसी विदेशी बैंक को रुपया देते हैं और उसकी कीमत का अंग्रेजी द्रव्य खरीदकर आपको उसी बैंक की मार्फत भेज देते हैं, जो आपको अंग्रेजी नोट या सिक्कों की शक्ल में मिल जाता है। पर इसी तरह यदि सब लोग यहां से इंग्लैंड भेजने वाले ही होंगे और मंगाने वाला कोई न रहेगा, तब तो कारोबार अपने-आप कुछ दिन के बाद बन्द हो जायगा। पर चूंकि जैसे भेजने वाले हैं वैसे ही लन्दन से द्रव्य मंगाने वाले भी हैं, इसीलिए यह दुतरफा कारोबार चलता रहता है और जब हम रुपए से अंग्रेजी पाउण्ड खरीदते हैं (लन्दन धन भेजने के लिए) या तो पाउण्ड बेचकर रुपया खरीदते हैं (लन्दन से धन मंगाने के लिए) तब जिस कीमत से या तो हम रुपया बेचकर पाउण्ड खरीदते हैं या पाउण्ड बेचकर रुपया खरीदते हैं, उससे हमें पता लग जाता है कि हमारे प्रतीक (चलण) की विदेश में क्या कीमत है।

विदेश में कीमत कैसे बनती है ?

प्रश्न का उत्तर यह है कि हर चीज की कीमत लेने और बेचने वालों की गरज पर अवलम्बित है। वैसे ही इस विषय में भी होता है।

पर इसे ज्यादा स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है। यदि हम विदेशों में माल ज्यादा लेते हैं और कम बेचते हैं, जैसे कि हमने १०० का माल तो लिया और ६० का बेचा, तो हमें विदेशों को ४० चुकाना बाकी रहा। यह ४० हम कैसे चुकायंगे ?

इसके तीन तरीके हो सकते हैं :

एक तरीका तो है पावनेदार को सोना भेजकर। सोने के सभी ग्राहक होते हैं, और तमाम मुल्कों ने करीब-करीब सोने की एक निर्धारित कीमत कायम कर

रखी है, उस निर्धारित कीमत पर, हर मुल्क के नोट-प्रसारक बैंक प्रायः सोना खरीदने को तैयार रहते हैं। इसलिए पावनेदार को सोना भेजकर हमारा कर्ज चुकाने में तो कोई कठिनाई है ही नहीं, पर हर साल सोना भेजकर तो वही मुल्क माल खरीद सकता है, जिसके पास सोने की बड़ी-बड़ी खानें हों और जहां सोने की बड़ी मिकदार में पैदाइश भी हो। इसलिए सोना भेजकर दाम चुकाने का यह तरीका चाहे १-२ साल के लिए भले ही चले, पर हर मुल्क के लिए निरन्तर इस तरीके का चलाना व्यावहारिक नहीं हो सकता।

दूसरा तरीका है—जहां माल खरीदा वहीं लोगों से धन उधार लेकर माल का दाम चुकाया। यह तरीका भी विशेष समय के लिए चाहे उपयुक्त हो, पर निरन्तर नहीं चल सकता। निरन्तर उधार कौन देता जायगा? आखिर कभी तो वापस चुकाना ही होगा। इसलिए यह तरीका भी निरन्तर नहीं चल सकता।

अब एक तीसरा तरीका है, जो दाम चुकाने के लिए सर्वदा व्यावहारिक होता है। यह तरीका यह है कि अपने यहां बनी चीजों को या अपनी सेवा या श्रम को विदेश में बेचकर उससे जो द्रव्य मिले, हम उसी से अपना विदेशी देन चुकावें।

उपरोक्त तीन तरीकों में से प्रथम दो तरीके तो सर्वदा और बड़े परिमाण में चल ही नहीं सकते। तीसरा ही एकमात्र तरीका है, जो हमें विदेश के भुगतान चुकाने में हमारा सहायक हो सकता है। हर मुल्क के लिए यह लाजिमी है कि या तो वह विदेशी व्यापार से मुंह मोड़े या विदेश में माल लेने और बेचने की कीमत को एक हद तक समतल पर रखे—अर्थात् जितना-सा ले उतना-सा ही बेचे।

इसके कुछ अपवाद हैं सही। मान लीजिए कि हमारे पास ऐसी चीजें हैं, जिनके बिना दुनिया का काम ही नहीं चल सकता है, तो विदेश वाले हमसे हमारी जिन्सें खरीदते जायंगे और बदले में हमें सोना भेजते जायंगे। या तो ऐसा भी हो सकता है, जैसा कि इंग्लैंड के सम्बन्ध में था। इंग्लैंड ने तमाम दुनिया को कर्जदार बना रखा था, इसलिए यद्यपि इंग्लैंड बेचता था कम, खरीदता था दुनिया में ज्यादा—उस ज्यादा खरीदे हुए माल की कीमत—अपने कर्जदारों से ब्याज-वसूली का जो धन आता था, उसीसे चुका देता था। पर ऐसे अपवादों को छोड़ कर यह मानना होगा कि विदेशी खरीद और बिक्री की कीमत को समतल पर लाना हमारे लिए आवश्यक है।

पर जबतक हम इस लेवा-बेची को समतल पर नहीं लाते तबतक यदि विदेशों में हम जितना बेचते हैं उससे हम ज्यादा खरीदते हैं, तो उसकी कीमत चुकाने के लिए हमें हर समय अपने द्रव्य यानी मुद्रा को बेचकर विदेशी द्रव्य यानी विदेशी मुद्रा खरीदने की जरूरत बनी रहती है। इसके कारण हमारे प्रतीक का दाम विदेशों में झुकाव की ओर—अर्थात् गिरने की ओर होगा। और यदि हम विदेशों में जितना लेते हैं उससे वहां ज्यादा बेचते हैं, तो उस बेचाण की कीमत

को स्वदेश लाने के लिए या तो हमें वहां सोना मिल जायगा, अन्यथा हम हर समय विदेशी द्रव्य-प्रतीक के बेचवाल और अपने चलण-प्रतीक के लेवाल रहेंगे। नतीजा यह होगा कि हमारे प्रतीक की कीमत विदेशों में चढ़ाव की ओर होगी।

जब फुलावट की नीति होती है, तब हमने बताया है कि हमारे प्रतीक की कीमत कम हो जाती है। पर किस समय कितनी कीमत गिरी, उसका सही अंदाज भी, जैसा कि ऊपर बताया है, विदेशी बाजारों से ही लगता है। विदेशों में हमारे द्रव्य की कीमत कैसे भिन्न-भिन्न, पर तमाम संजोगों के कारण कायम होती है, इसकी कुछ कल्पना उपरोक्त चित्रण से ही की जा सकती है। इन तमाम संजोगों में कई संजोग ऐसे होंगे, जो विदेशों में हमारे चलण की कीमत को चढ़ाने वाले होंगे और कई ऐसे संजोग होंगे, जो हमारे चलण की कीमत को गिराने वाले होंगे। इन सब संजोगों के जोड़-बाकी के बाद शेष जो संजोग कीमत बढ़ाने या घटाने के पक्ष का रह जाता है, उसीका फिर एकपक्षीय असर होता है।

जब फुलावट की नीति हमारे यहां बरतती है तो हमारी जिन्सों के दाम हमारे देश में तो बढ़ते हैं; पर चूंकि विदेशों में तो न फुलावट है, न गिरावट, स्पष्ट है कि वहां दाम साधारणतया स्थिर रहेंगे—अर्थात् न चढ़ेंगे, न गिरेंगे। "साधारणतया"—पाठकों का ध्यान इस क्रिया-विशेषण की ओर आकृष्ट किया जाता है। अवस्था-विशेष में—जैसा कि आगे चलकर बताया गया है—एक देश में दाम गिरने से दूसरे देश या देशों में मन्दी आ सकती है।

अच्छा, तो हमने कहा कि फुलावट की नीति के कारण अपने देश में हमारी जिन्सों के दाम बढ़ते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि हमने फुलावट-नीति धारण की? उस समय हमारे यहां गेहूं का दाम १ रुपए का १० सेर था। और यह भी मान लीजिए कि उसी जमाने में हमारे १ रुपए के सिक्के की कीमत किसी एक विदेशी मुल्क में १ मार्क जितनी थी। इसके माने हुए कि हमारे यहां और वहां, दोनों जगह १ मार्क में १० सेर गेहूं मिल सकते थे। (१ रुपया=१ मार्क। १ रुपया=१० सेर गेहूं। इसलिए १ मार्क=१० सेर गेहूं।) अब हमारे यहां तो फुलावट की नीति जारी हो गई, उसके कारण गेहूं के दाम अन्य जिन्सों के दामों के साथ चढ़ गए और अब एक रुपए में केवल ८ सेर ही गेहूं मिलता है। पर उस विदेश में तो आज भी वही भाव हैं, जो पहले थे, यानी १ मार्क का भाव १० सेर गेहूं ही है। (इस उदाहरण में हमने यह मान लिया कि और तमाम स्थिति दोनों मुल्कों में यकसां हैं, इसलिए जिन्सों के दाम भी, यदि हमारे यहां फुलावट न हो तो यकसां रहते।)

अब मान लीजिए कि हमने उस विदेश में १ मार्क की कोई चीज खरीदी; उसकी कीमत चुकाने के लिए बदले में हमने वहां गेहूं बेचा। अब गेहूं यहां मिलता है १ रुपए का ८ सेर। वहां भाव है १ मार्क का १० सेर। हमें १ मार्क वहां

भेजना चाहिए, क्योंकि हमने १ मार्क की वस्तु ली है। तो हमको एक मार्क चुकाने के लिए वहां १० सेर गेहूं बेचना पड़ा, जिसका कि हमें यहां स्वदेश में १$\frac{1}{4}$ रुपया देना पड़ा। इसके माने यह हुए कि पहले जहां रुपए की कीमत १ मार्क थी, अब १$\frac{1}{4}$ रुपए की कीमत १ मार्क हुई। दूसरे शब्दों में हमारे रुपए की १ मार्क से गिर कर ·८० मार्क रह गई। $\frac{\text{१ मार्क}}{\text{१}\frac{1}{4}\text{ रुपया}}$ = ·८० मार्क, अर्थात् २० प्रतिशत कीमत गिर गई।

विदेशी मुल्कों में हमारे द्रव्य की कीमत को शास्त्रीय भाषा में हुण्डी की दर कहते हैं। जब हमारे चलण की कीमत विदेशों में बढ़ती है तो हम कहेंगे कि हमारी हुण्डी की दर तेज है। हमारे चलण की कीमत गिरी, तो कहेंगे कि हुण्डी की दर मन्दी है।

७

हुण्डी की दर गिरने से या ऊंची होने से हमारे मुल्क के उद्योग-धन्धों और आयात-निर्यात पर क्या असर होता है, और वह असर कैसे होता है, इसका विवेचन भी कर लें।

यह तो अब समझ में आ ही गया होगा कि फुलावट-नीति की रचना चलण में प्रतीक की बहुतायत की बुनियाद पर खड़ी की जाती है, और इसके फलस्वरूप जिन्सों के दाम चढ़ जाते हैं। जिन्सों के दाम क्यों चढ़ जाते हैं, यह पहले हम समझ चुके। नाणे की अधिकता के माने हैं कि नाणा सस्ता है। नाणा सस्ता है, इसी भाव को हम दूसरी भाषा में यों भी व्यक्त कर सकते हैं कि चीजें महंगी हैं। यदि फुलावट-नीति द्रुत गति से आती है तो फिर लोग मुद्रा की साख में विश्वास भी खो बैठते हैं। इससे भी लोगों की रुचि मुद्रा में धन रोकने से हट कर जिन्सों में धन रोकने की ओर ज्यादा बढ़ जाती है। ये सब-के-सब जिन्सों के दाम तेज करने के हेतु बन जाते हैं।

पर एक और चीज है, जो जिन्सों के दाम बढ़ाने में सहायक होती है। वह है विदेश से आनेवाली चीजों का ऊंचा पड़ना। जब हमारी हुण्डी की दर गिर जाती है तो विदेश में तो हमारे यहां आनेवाली चीज के दाम चाहे वही पुराने दाम हों, पर हुण्डी गिर जाने से यहां का पड़ता अपने-आप ऊंचा हो जाता है।

मसलन, हमें एक घड़ी विदेश से मंगानी है। उसकी कीमत, मान लीजिए १० मार्क है। पुराने हिसाब से १० मार्क के माने थे १० रुपए। पर चूंकि अब

हमारी हुण्डी की दर २० प्रतिशत, जैसा कि हम ऊपर वता चुके, गिर गई, इस-लिए१०रुपए के हमें कुल ८ मार्क ही मिलते हैं। इसके माने यह हुए कि १० मार्क खरीदने के लिए हमें अव १२॥ रुपए की जरूरत है। इसके माने यह भी हो गए कि जिस घड़ी का पड़ता पहले १० रुपए का था, वह अव१२॥ रुपए का हो गया।

इसी तरह हमारी निर्यात की चीजों का पड़ता भी वढ़ जाता है; वह इस तरह—मान लीजिए कि हम यहां से वाहर रुई भेजते हैं, और १ गांठ रुई के दाम जर्मनी में १०० मार्क पहले थे। उसके माने थे, पुरानी हुण्डी के हिसाव से, १०० मार्क=१०० रुपए। अव भी मान लीजिए, जर्मनी में रुई की कीमत वही १ गांठ के १०० मार्क है। पर चूंकि हुण्डी की दर गिर गई, इसलिए १०० मार्क को बेचकर हम रुपया खरीदते हैं तो, ८० मार्क=१ रुपया, इस हुण्डी की दर से हमें १०० मार्क के १२५ रुपए उपलब्ध होते हैं। इसके माने हुए कि रुई के निर्यात के लिए पड़ता लगता है १२५ रुपया प्रति गांठ, जो पहले १०० रुपया प्रति गांठ था।

विदेशों से आनेवाली और विदेशों को जानेवाली चीजों का जव पड़ता वढ़ जाता है तो उन चीजों के चढ़े दाम देखकर अन्य चीजों के दाम भी अपने-आप ऊंचे जाने लगते हैं। इस तरह अन्य कारणों के अलावा विदेशों से सम्वन्ध रखने-वाली चीजों का पड़ता ऊंचा होने की वजह से भी जिन्सों के दामों को ऊंचा जाने में सहायता मिलती है।

हुण्डी की दर और उद्योग-धन्धे

इस परिस्थिति में उद्योग-धंधों पर क्या असर होता है? इसका उत्तर तो साफ है। जब जिन्सों के दाम ऊंचे जाते हैं तो कारखानेदारं का मुनाफा भी बढ़ता है। यह सही है कि जिन्सों के दाम ऊंचे जाते हैं तो कच्चे माल के दाम भी बढ़ते हैं। पर इतना होने पर भी कारखानेदार या अन्य माल उपजानेवाले लोगों (जैसे किसान, जुलाहा, खटीक इत्यादि) के मुनाफे की वृद्धि में कोई रुकावट नहीं होती। बतौर उदाहरण, हम एक कारखानेदार के काल्पनिक पड़ता का जरा विश्लेषण कर लें। हर १०० रुपए के माल पर, मान लीजिए, कारखानेदार का खर्च नीचे लिखे अनुसार होता है:

रुपया	
५०	कच्चा माल
२५	मजदूरी
१०	घिसाई
५	व्याज
१०	मुनाफा
१००	

अब मान लीजिए फुलावट-नीति के कारण जिन्सों के दाम बढ़े और जिस माल का कारखानेदार को पहले १०० रुपया मिलता था उसका अब १२५ रुपया मिलेगा। इसके साथ-साथ, मान लीजिए, कच्चे माल का दाम भी बढ़ा और मजदूरी भी उसी अनुपात से बढ़ी, तो फिर मुनाफे पर क्या असर होगा ? नीचे के तलपट से इसका स्पष्ट अन्दाजा लग जायगा।

	पुरानी कीमत	नई कीमत
	रुपया	रुपया
कच्चा माल	५०	६२॥
मजदूरी	२५	३१।
घिसाई	१०	१०
ब्याज	५	५
मुनाफा	१०	१६।
	१००	१२५

उपर्युक्त तफसील से पता लगेगा कि जहां कच्चे माल और मजदूरी का दाम २५ रुपया प्रतिशत तक बढ़ा वहां घिसाई और ब्याज में पुराने और नए खर्च में कोई फर्क नहीं पड़ा। कारण प्रत्यक्ष है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, फुलावट और गिरावट के कारण लेन-देन की रकम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। १०० रुपए हमने कर्ज ले रखा था तो आज भी हमें १०० रु० ही चुकाना है। इसलिए ब्याज पर कोई असर नहीं पड़ता। और घिसाई पर भी क्या असर पड़ेगा ? इसलिए मुनाफा, जो पहले १० रुपया एक अदद पर था, वह अब १६। हो गया, या तो यों भी हो सकता है कि कारखानेदार की आज यह शक्ति है कि पहले जहां बाहर की चीज का पड़ता १०० रुपए था और कारखानेदार मुनाफे को अक्षुण्ण रखते हुए १०० रुपए से कम में नहीं बेच सकता था, आज वह विदेशी माल का पड़ता १२५ रुपये होने पर भी १० रुपए का ही मुनाफा रखे तो ११८ रुपये १२ आने में बेच सकता है।

इस हिसाब से यह सही है कि कारखानेदार का मुनाफा बढ़ गया, और यदि वह अपने दाम नहीं घटाता तो मुनाफा १० के बजाय १६। हो गया, यानी ६२॥ प्रतिशत बढ़ गया। पर साथ ही यह भी जानना चाहिए कि जिन्सों के दाम बढ़ने के कारण उस मुनाफे की ताकत ६२॥ प्रतिशत नहीं बढ़ी। यदि जिन्सों के दाम औसतन सवाए हो गए हैं, जैसा कि हमने हिसाब लगाया है, तो फिर दाम बढ़ने के पहले जो करामात १३ रुपए में थी वही आज १६। में है। मान लीजिए कि पहले १३ रुपए में १ मन पाट मिलता था और अब पाट के दाम बढ़कर सवाए हो गए—अर्थात् १६। हो गए, तो पहले के १३ और अबके १६। रुपए की क्रय-शक्ति में कोई फर्क नहीं पड़ा। खैर।

तो अब इस परिस्थिति के दो असर साथ-साथ हुए। एक तो स्वदेशी उद्योग-धंधों पर, और दूसरा विदेशी आयात पर और निर्यात पर। स्वदेशी उद्योग-धंधों पर अच्छा असर हुआ। विदेशी आयात मुरझाने लगा और निर्यात पनपने लगा।

सबसे पहले स्वदेशी उद्योग-धंधों को लीजिए।

यह स्वाभाविक है कि जब मुनाफा बढ़ता है तो कारखानेदार या माल उपजानेवाले को ज्यादा माल पैदा करने की चाह होती है। ऊपर के हिसाब से हमने मान लिया है कि मजदूरी भी अन्य जिन्सों के दामों के साथ-साथ बढ़ने लगती है। पर व्यवहार में ऐसा होता नहीं। जब जिन्सों के दाम बढ़ते हैं तो मजदूरी भी जबतक उसी अनुपात से नहीं बढ़ती तबतक कारखानेदार को हमारी कूत से भी मुनाफा अधिक रहता है। इसके फलस्वरूप कारखानेदार माल ज्यादा पैदा करने लगता है; कारखाना बढ़ाने भी लगता है। नए-नए कारखाने भी खुलने लगते हैं। अधिक लोगों को मजदूरी मिलने लगती है।

इसका प्रभाव बाहर से आनेवाली चीजों पर भी पड़ता है। चूंकि कारखानेदार का मुनाफा बढ़ा है, इसलिए उसमें यह ताकत आ जाती है कि वह मुनाफे को थोड़ा कम करके भी विदेशी चीजों के मुकाबले में अपना माल सस्ता बेच सके। विदेशी चीजों का ऐसी प्रतिद्वंद्विता में टिकना मुश्किल हो जाता है। विदेशी आयात पर इससे बुरा असर पड़ता है।

इसके विपरीत, निर्यात पर अच्छा असर होता है, क्योंकि जब ऊंचे पड़ता की वजह से यहां दाम ऊंचा हो गया, पर विदेशों में हमारी चीज का दाम वही पुराना है, तब यहां के उपजानेवाले थोड़ा-सा यहां भाव मंदा कर दें तो विदेश में भाव पुराने दामों से भी सस्ता हो जायगा, और इस तरह विदेशों में हमारे माल की बिक्री बढ़ेगी। सारांश यह कि अपनी मुद्रा की कीमत गिरा देने से हमारे कल-कारखाने, उद्योग-धंधे सब पनप उठते हैं; विदेशी आयात पर प्रहार होने लगता है; विदेशी निर्यात जागने लगता है। इस तरह देश की समृद्धि बढ़ने लगती है।

दर गिरने से लाभ स्थायी या अस्थायी ?

यह प्रश्न हो सकता है कि जरा हुण्डी के हेरफेर से या मुद्रा की कीमत कम कर देने से समृद्धि बढ़ने का क्या वास्ता ? वास्ता है। वह इस तरह से :

एक आलसी मनुष्य है। वह न खेत बोता है, न मेहनत करता है। इसलिए दारिद्र्य ने उसके घर पर प्रभाव जमा रखा है। अब किसी ने उससे कहा कि हम तुम्हें रोजमर्रा कुछ मिठाई खिलायंगे, कुछ तमाशे दिखायंगे और कुछ अच्छे कपड़े भी देंगे, बशर्ते कि तुम अपने खेत को मेहनत के साथ जोतो और उसमें जो फसल हो उसका आधा हिस्सा हमें दे दो। वह आलसी मिठाई और अच्छे कपड़ों के प्रलोभन में आकर काम करने लगता है, और अन्त में अच्छी फसल तैयार कर

लेता है। फसल के आधे हिस्से की आमदनी वह प्रलोभन देनेवाले सज्जन को सौंप देता है। इस सज्जन को तो, उसने जितना मिठाई इत्यादि पर खर्च किया था, उसकी पूरी कीमत उस फसल के आधे हिस्से में से वसूल हो जाती है, और उस आलसी को अच्छा खाने-पहनने को मिला, और आधी फसल मिली, जिससे उसकी समृद्धि बढ़ गई। इसके अलावा उसकी आदत भी तो बदली। काम करते-करते वह आलसी कर्मशील बन गया। प्रलोभन देनेवाले सज्जन का कुछ व्यय नहीं हुआ, और आलसी कर्मण्य बन गया।

अब कोई कहे कि हुण्डी की दर गिरने और समृद्धि से क्या वास्ता ? तो यह भी कहा जा सकता है कि आलसी के मिष्टान्न-भोजन से उसकी समृद्धि का क्या वास्ता ? पर बात यह है कि गिरती हुई हुण्डी की दर, या दूसरे शब्दों में, गिरती हुई मुद्रा की कीमत, माल उपजानेवालों के दिलों में एक तरह का उत्साह और तृष्णा पैदा करती है, जो उन्हें ज्यादा काम करने के लिए खदेड़ती है और इस तरह देश की समृद्धि पर इसका अच्छा असर होता है।

ठीक इसका विपरीत असर गिरावट की नीति का होता है।

हमने यह बताया है कि यह अच्छा असर मुद्रा की गिरती हुई कीमत का होता है। पर एक दफा कीमत गिरा दी गई, फिर भी क्या उसका असर होता है ?

होता है, पर आंशिक। हमने पंप का पहिया घुमाया और पानी कुंए में से निकलने लगा। जब पहिया घुमाना बन्द कर दिया तब पानी भी निकलना बन्द हो गया। इसी तरह जब हुण्डी की दर गिरती ही रहती है, तब तो चीजों के दाम भी बढ़ते ही चले जाते हैं और उससे पैदा होनेवाले नतीजे—जैसे उद्योग-धंधों की उन्नति, अधिक माल की पैदाइश, बेकारों को रोजगार, विदेशी आयात को ठेस, निर्यात की पुष्टि इत्यादि अपना प्रभुत्व जमाए रखते हैं। उसी तरह हुण्डी की गिरी हुई दर भी एक जगह आकर जब स्थिर हो जाती है और लोगों को उसकी स्थिरता में विश्वास आ जाता है, तब गिरती हुई हुण्डी से जो नतीजे पैदा हुए थे वे धीरे-धीरे करके रफा होने लगते हैं, अर्थात् पंप में से पानी निकलना धीरे-धीरे बन्द हो जाता है।

पर इसके माने यह नहीं कि हुण्डी गिराकर फिर स्थिर कर दी तो उसका कोई असर ही नहीं हुआ। जो पानी कुंए से निकल आया उसकी भी तो कोई कीमत है। उस निकले हुए पानी से हमने सिंचाई की, धान पैदा किया; उससे हम पुष्ट बने। पुष्ट बनकर हमने मेहनत ज्यादा की। उस मेहनत से फिर नई सम्पत्ति पैदा की, और इस तरह से समृद्धिचक्र जो चला तो फिर चलता ही गया। इस दृष्टि से गिराई हुई मुद्रा की दर का लाभ भी एक दृष्टि से स्थायी-सा हो गया।

पर यह भी कोई कह सकता है कि फिर हुण्डी की दर गिरने से इस तरह लाभ होता है तो हम दर को गिराते ही क्यों न जायं ? स्थिर करें ही क्यों ? इस

रामबाण औषध से अघाना ही क्यों ? अफसोस ! मकरध्वज के सेवन से शरीर की चपलता अवश्य बढ़ती है, पर वह स्वयं मनुष्य की क्षुधा को नहीं मेटता और ज्यादा सेवन से तो शरीर का अन्त भी हो सकता है। फिर यदि हम मुद्रा की दर को गिराते ही चले जायं तो एक समय ऐसा आ सकता है कि जब मुद्रा की साख में किसी को श्रद्धा ही न रहे और मुद्रा स्वयं नेस्तनाबूत हो जाय, और फिर तज्जनित हानि-लाभ भी कहां रहे ? जब शरीर ही नहीं तो प्राण कहां ? मुद्रा ही मर मिटे, तो उससे होनेवाले हानि-लाभ कहां रहे ? और यदि मुद्रा की कीमत गिरा देना ही एक जादू का डंडा हो, जो एक पल में समृद्धि पैदा कर दे, तो फिर हर मुल्क ही इसका प्रयोग क्यों न करे ? और यदि हर मुल्क इसका प्रयोग करने लग जाय तो दो देशों के बीच जो हुण्डी की घटा-बढ़ी से हानि-लाभ होता है वह होने ही नहीं पाए। दो लकीर पास-पास में हों, और एक बड़ी हो, तो दूसरी छोटी कहलायगी। पर यदि बड़ी को काटकर छोटी कर दी जाय तो, जो पहले छोटी थी वह अब बड़ी कहलायगी।

हुण्डी गिरने के माने भी तो यही हैं कि हमने अपनी मुद्रा की दर गिरा दी; अन्य मुल्कवालों ने नहीं गिराई। ऐसी हालत में अपेक्षाकृत हमारी मुद्रा सस्ती हो गई। पर यदि दूसरे देशवालों ने भी गिरा दी, तो फिर हमारी हुण्डी की दर दूसरे देशों के मुकाबले में नीची नहीं रही और ऐसी हालत में विदेशी आयात-निर्यात पर कोई अच्छा-बुरा असर नहीं हुआ। बताना तो यह है कि हुण्डी गिरने का असर पूर्णतया स्थायी नहीं है; एक अंश में स्थायी है। मकरध्वज-सेवन का कुछ तो लाभ शरीर को मिलता ही है। हुण्डी गिराने से समाज की आर्थिक स्थिति को जो एक मरतबा लाभ मिलता है, उसका स्थायी असर भी रह ही जाता है। ठीक इसके विपरीत, गिरावट-नीति द्वारा मुद्रा की दर चढ़ाकर समाज की आर्थिक स्थिति को हानि पहुंच जाती है, वह भी स्थायी नुकसान कर बैठती है। छाती में जो सेल लगा उसका घाव तो रूझ गया, पर उसका दाग तो रह ही गया, और वह जगह भी सदा के लिए नाजुक बन गई।

कभी-कभी तो ऐसा देखा गया है कि संसार की बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं की तह में एक छोटी-सी घटना हुई है, जिसको इतिहास लिखनेवालों ने कम महत्त्व दिया। प्रशिया के फ्रेडरिक दी ग्रेट को महान् बनने का मौका यों मिला कि ऑस्ट्रिया का शाहंशाह मर गया। पर ऑस्ट्रिया का शाहंशाह भी तो इसलिए मरा कि वह एक रोज कुकुरमुत्ते की तरकारी बेहद परिमाण में खा गया। 'विधि का लिखा को मेटनहारा' यह उक्ति सही है। पर विधि भी जब कोई बड़ी होनहार को घड़ने बैठता है तब शुरुआत एक नगण्य चीज से करता है। ऑस्ट्रिया के शाहजादों के खून ने यूरोप में खून की नदियां बहा दीं। दुर्योधन और अर्जुन, जब दोनों श्रीकृष्ण के पास महाभारत-युद्ध के लिए सहायता मांगने गये तब यदि

दुर्योधन श्रीकृष्ण के सिरहाने न बैठकर पैंताने बैठता, या तो श्रीकृष्ण की सेना न लेकर स्वयं श्रीकृष्ण को अपने पक्ष में लेता, तो महाभारत-युद्ध का अन्त क्या होता, यह बताना कठिन है।

पर कोलम्बस ने अमरीका का आविष्कार किया, और नई दुनिया से व्यापार-रोजगार चमक उठा। उसके कारण यूरोप-भर में सरसब्जी फैल गई, ऐसा यूरोप के आर्थिक इतिहासज्ञ मानते हैं। अमरीका की भूमि क्या मिली, यूरोप के लिए तो गड़ा सोना मिल गया और केलीफोर्निया में तो सचमुच सोने की खानें मिल गईं, जिन्होंने यूरोप की समृद्धि की खूब वृद्धि की। इन सबका यूरोप पर कितनी मात्रा में असर हुआ, यह चाहे न मापा जा सके, पर जो जाहोजलाली की बाढ़ यूरोप में आ गई उसने उसको सदा के लिए सम्पन्न कर दिया, इसमें कोई शक नहीं।

इसलिए हुण्डी गिरने का असर चाहे अस्थायी हो, पर एक मरतबा मिला हुआ सहारा कमजोर शरीर के पनपने में काफी सहायता पहुंचा देता है।

फुलावट—नियंत्रित और अनियंत्रित

फुलावट-नीति के शुभ परिणामों का भी हमने जिक्र किया और अति मात्रा में उसके बुरे नतीजे का भी वर्णन किया। यहां यह समझ लेना चाहिए कि जहां फुलावट-नीति केवल व्यापार-रोजगार को चमकाने के लिए, उद्योग-धंधों को पनपाने के लिए काम में लाई जाती है, वहां फुलावट स्वल्प मात्रा में, और नियन्त्रण के साथ, उपयोग में लाई जाती है।

हम बता चुके हैं कि जब फुलावट द्रुतगति से अनियन्त्रित होकर चलती है तब ब्याज सस्ता नहीं, महंगा—अत्यन्त महंगा—हो जाता है। महंगा ब्याज भी रोजगार-व्यापार के लिए घातक है। इसलिए स्वेच्छा से जब फुलावट-शस्त्र का प्रयोग होता है तब सारी नीति पर इस हिसाब से नियन्त्रण रखा जाता है कि जिससे सिक्के की साख में से लोगों की श्रद्धा न टूटे; लोगों में इसके सम्बन्ध में भय या घबराहट का संचार न हो; ब्याज की दर साधारणतया ठीक हो और दामों में तेजी इतनी ही आवे जितनी कि संचालक चाहते हों। इसके माने यह हुए कि ऐसी नीति तो स्वेच्छा से ही काम में लाई जाती है, और उसी हालत में काम में लाई जा सकती है जबकि देश की सरकार प्रजा का विश्वासभाजन हो, बलिष्ठ हो और देश और परदेश में उस सरकार और उस देश की पूरी धाक हो। और चूंकि यह सारा-का-सारा खेल अपने देश में उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देने के लिए और लोगों में नई आर्थिक जागृति पैदा करने के लिए खेला जाता है इसलिए यह फुलावट भी स्वल्प मात्रा में ही होती है।

पर इसके विपरीत, जहां फुलावट अनियन्त्रित होती है—जैसा कि रूस,

जर्मनी वगैरा के सम्बन्ध में हम ऊपर बता चुके हैं—तब इसका परिणाम दूसरी तरह का होता है। यह सही है कि उस फुलावट में भी कल-कारखाने बेहद पनपते दिखाई देते हैं, पर मुद्रा की शक्ति का इस जोर से ह्रास होता चला जाता है कि वह करोड़ों का मुनाफा हजारों के मुकाबले में भी बलहीन होता है। और दूसरी तरफ सरकार और देश की साख को इतने जोर का धक्का पहुंचता है कि जिनके पास पूंजी होती है वे तबाह हो जाते हैं। लोग अपना माल-मत्ता, सम्पत्ति आदि बाहर भेजने लगते हैं। परस्पर की साख में भी विश्वास हट जाता है। अन्तर्राष्ट्रों में देश की साख कौड़ी की रह जाती है। सारा आर्थिक तन्त्र छिन्न-भिन्न हो जाता है।

ऐसी स्थिति अवश्य ही अवांछनीय है, और यह स्पष्ट है कि जान-बूझकर ऐसी स्थिति को कोई निमन्त्रण नहीं देता। यह तो मजबूरी से ही आती है। देश का दिवाला निकलने का दूसरा नाम यह उग्र फुलावट है, जिसे राज-दुराजी के जमाने में ही सरकार बलात् बाध्य होकर अपनाती है। सरकार को जब राजतन्त्र चलाने के लिए कर-संग्रह में भी कठिनाई आने लगती है तब कागज, स्याही और प्रेस की शरण लेकर इस जोर से नोट छापना शुरू करती है कि इस ताण्डव नृत्य को देखकर एक छिन के लिए भी कोई अपने पास नोट रखने की हिम्मत नहीं करता।

८

हम बता चुके हैं कि चलण का मूल्य स्थिर नहीं, पर घटता-बढ़ता है। तो भी जन-समाज के मन पर एक ऐसी थोथी और बेबुनियाद छाप पड़ी हुई है कि चलण का मूल्य स्थायी है। यदि ऐसा नहीं होता तो जिस निर्भयता के साथ लोग रुपया उधार देते हैं और सरकारी कागजों में लगाते हैं वैसा कभी नहीं होता। पर मनुष्य तो प्रायः वर्त्तमान का पुजारी होता है और पुरानी स्मृति कटु भी हो तो उसे भूल जाता है। इसलिए जबतक कोई भयंकर युद्ध, विप्लव या आकस्मिक घटना के कारण चलण की कीमत बुरी तरह नहीं गिरने लग जाती तबतक साधारण मनुष्य को तो पता भी नहीं चलता कि चलण की कीमत गिरी है क्या! साधारण फुलावट यदि नियन्त्रित हो तब तो आम जनता को पता भी नहीं चलता कि पर्दे के पीछे क्या नाटक खेला जा रहा है। तो भी जिन्सों के दामों के आंकड़ों का हम सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें सहज ही पता लग जायगा कि पिछले सौ सालों में चलण के मूल्य में घटा-बढ़ी होती ही रही है।

जिन्सों के दामों के आंकड़े कैसे तैयार होते हैं, इसका संक्षिप्त विवरण भी जान लेना चाहिए। मान लीजिए कि हमारे देश के गरीब किसान अधिकतर गेहूं, बाजरा, मोठ, चना, घी, तेल, दियासलाई, कपड़ा, गुड़ इत्यादि—४० या ५० चीजों का उपयोग करते हैं। तो आंकड़े तैयार करने वाले विशेषज्ञ उन सब जिन्सों के दामों का एक गड़-पड़ता निकाल लेते हैं। वह गड़-पड़ता साधारण तरह से यों निकाला जाता है कि जिस साल को हम बुनियादी साल मानते हैं उसके गड़-पड़ता का अंक सौ मान लिया जाता है। मान लीजिए, सन् १९१४ को हमने बुनियादी साल माना। उस साल में :

गेहूं का भाव था	५ रुपया मन
जौ का भाव था	४ रुपया मन
तेल का भाव था	२० रुपया मन
घी का भाव था	४० रुपया मन
गुड़ का भाव था	५ रुपया मन
कपड़े का भाव था	४ आने गज

(यह महज उदाहरण है, इसीलिए ४०-५० चीजों के दाम न देकर सिर्फ ६ जिन्सों के दाम दिए हैं।)

तो हमने उस साल की जिन्सों की कीमत १०० के अंक पर कायम कर दी। अब १९४१ में मान लीजिए :

गेहूं का भाव था	६। रुपया मन (याने २५ प्रतिशत बढ़ा)
जौ का भाव था	५ रुपया मन (याने २५ प्रतिशत बढ़ा)
तेल का भाव था	१५ रुपया मन (याने २५ प्रतिशत घटा)
घी का भाव था	८० रुपया मन (याने १०० प्रतिशत बढ़ा)
गुड़ का भाव था	२॥ रुपया मन (याने ५० प्रतिशत घटा)
कपड़े का भाव था	६ आने गज (याने ५० प्रतिशत बढ़ा)

१ वस्तु में	२५ प्रतिशत बढ़ा
१ ,,	२५ ,, बढ़ा
१ ,,	२५ ,, घटा
१ ,,	१०० ,, बढ़ा
१ ,,	५० ,, घटा
१ ,,	५० ,, बढ़ा

तो १२५ प्रतिशत कुल बढ़ा, और ६ जिन्सों द्वारा १२५ प्रतिशत को विभाजित किया तो फल यह निकला कि एक जिन्स पर २०$\frac{5}{6}$ प्रतिशत वृद्धि हुई ($\frac{125}{6}$=२०$\frac{5}{6}$ प्रतिशत)—अर्थात् जिन्सों की दर १०० से बढ़कर १२०$\frac{5}{6}$ हो गई। तात्पर्य यह हुआ कि जिस चलण की क्रय-शक्ति १९१४ में १०० थी वह

१९४१ में २०ई प्रतिशत कम हो गई। दूसरे शब्दों में, चलण का दाम २०ई प्रतिशत गिर गया।

सूचक अंक

इस तरह जिन्सों की दर के जो अंक तैयार किये जाते हैं उन्हें हम 'सूचक अंक' के नाम से पुकार सकते हैं। अब १९१५ से १९४० तक के सूचक अंक नीचे की तालिका में देते हैं। इससे पता लगेगा कि चलण की क्रय-शक्ति में कितनी घटा-बढ़ी हुई है, अर्थात् चलण की कीमत किस कदर घटती या बढ़ती रही है।

कलकत्ता में कुछ खास चीजों के थोक दाम

१९१४=१००

१९१५	औसत	११२	१९२८	औसत	१४५
१९१६	,,	१२८	१९२९	,,	१४१
१९१७	,,	१४५	१९३०	,,	११६
१९१८	,,	१७८	१९३१	,,	९६
१९१९	,,	१९६	१९३२	,,	९१
१९२०	,,	२०१	१९३३	,,	८७
१९२१	,,	१७८	१९३४	,,	८९
१९२२	,,	१७६	१९३५	,,	९१
१९२३	,,	१७२	१९३६	,,	९२
१९२४	,,	१७३	१९३७	,,	१०२
१९२५	,,	१५९	१९३८	,,	९६
१९२६	,,	१४८	१९३९	,,	१०८
१९२७	,,	१४८	१९४०	,,	१२०

पर यह भी सही है कि चलण की कीमत के स्थायित्व में जितनी श्रद्धा यूरोपवासियों की रही उतनी इस देश के लोगों की न रही। हमारे पिछले इतिहास में समय-समय पर इतने राज्य बदलते रहे हैं, इतने दंगे-फसाद होते रहे हैं कि इसके कारण भारतवासियों को स्वभाव से ही सोने-चांदी में मोह ज्यादा रहा। इसके विपरीत इंग्लिस्तान में, बाहर के आक्रमणों से मुक्त रहने की वजह से, वहां के लोगों में काफी अमन-चैन रहा। नतीजा यह हुआ कि स्वभाव से ही चारों ओर शान्ति और व्यवस्था दिखाई देती रही, और इसलिए उन्हें अपनी सरकार की साख में श्रद्धा भी ज्यादा रही। लंदन नाणे का एक वृहत् बाजार बन गया और अंग्रेजों की देखा-देखी हमने भी सरकारी कागजों में और तरह-तरह के शेयरों में रुपया लगाना सीख लिया।

चलण की कीमत गिरती आई है

पर बताना तो यह था कि चलण की कीमत स्थायी नहीं रही और दूसरी बात यह बतानी थी कि चलण की कीमत गिराकर अपना उल्लू सीधा करने का तरीका इतिहास में हर सल्तनत ने—जब वह विपद्ग्रस्त हुई तब—बिना किसी हिच-किचाहट के अख्तियार किया है। रोम की प्राचीन सरकार ने हजारों साल पहले अपने चलण को अंशतः खोटा करके अपना खजाना भरा, तभी से हर सल्तनत ने यह पाठ सीख लिया और चलण के दाम गिराकर प्रजा की बिना जानकारी के कर-वसूली का यह अद्‌भुत तरीका मौके-मौके पर हर सरकार ने विपद् के समय अपने लाभ के लिए कामयाबी के साथ आजमाया।

बात यह है कि सिक्का जैसा भी हो, अच्छा या बुरा, उसके चलण का संपूर्ण अधिकार तो हर देश की सरकार के पास रहता है और इस अधिकार का दुरुप-योग करके भी यदि कोई सल्तनत अपना दिवाला दबा सके और राज्यच्युत होने से अपने-आपको बचा सके तो कौन ऐसी संयमी सल्तनत हो सकती है जो इस अधिकार का दुरुपयोग करने के लोभ का संवरण कर सके ? इसलिए जहां किसी सल्तनत पर आफत आई, कोई बड़ा बलवा होने को है या कोई बड़ा युद्ध छिड़ गया और धन की बड़ी राशि की जरूरत आ पड़ी और प्रजा सीधी तरह से देने को तैयार नहीं, यदि जबरन लिया जाय तो क्रांति की आग धधक उठती है, लोगों की रही-सही सहानुभूति भी गायब हो जाती है, तो ऐसे विकट समय में सबसे सीधा और सहज मार्ग कर-वसूली का यही रह जाता है कि नोट छापे जाओ और उसीसे अपना खर्च चलाये जाओ। धन की जरूरत पड़ी और सीधी अंगुली से घी न निकला तो फिर चलण के दाम गिराकर टेढ़ी अंगुली से—चाहे वह फिर अधिकार का दुरुपयोग ही क्यों न हो—घी निकाला !

पर एक बात और है। चलण के दाम गिराने में ऐसी विपद्ग्रस्त सरकार का तो स्वार्थ रहता ही है, पर प्रजा के एक दल-विशेष की भी सहानुभूति रहती है। हमने पहले बताया है कि चलण के दाम गिरने से कर्जदार और बंधी मालगुजारी देने वाले और अन्य ऐसे लोग जिनका दायित्व बंधी हुई रकम में हो, उन्हें लाभ होता है। इसलिए ऐसे सब लोग चलण के दाम गिरने के स्वभाव से ही पक्षपाती होते हैं और विपद्ग्रस्त सरकार को तमाम ऐसे लोगों की सहानुभूति अपने-आप मिल जाती है। प्रख्यात अर्थशास्त्री श्री केयन्स ने सच कहा है :

"चलण का मूल्य जब गिरता है तब उसका लाभ केवल सरकार तक ही सीमित नहीं रहता। किसान, कर्जदार और अन्य लोग, जिन्हें अपने-अपने क्षेत्र में एक निर्धारित रकम देनी पड़ती है—मसलन ब्याज या मालगुजारी इत्यादि—वे सब-के-सब इस लाभ में शरीक हो जाते हैं। जैसे आर्थिक क्षेत्र में आजकल व्यापारी

लोग समाज के एक रचनात्मक और क्रियात्मक अंग माने जाते हैं वैसे ही प्राचीन समय में किसान इत्यादि एक विशिष्ट अंग माने जाते थे, और सल्तनत पर इनका प्रभाव तो पड़ता ही रहता था। कोई भी सांसारिक परिवर्तन, जो द्रव्य के मूल्य को ठेस पहुंचाता था, वह नए आदमियों के लिए एक रसायन का काम कर जाता था। यह परिस्थिति पुराने लोगों की दौलत का नाश करके नए लोगों के पास दौलत ला देती थी। जिन्होंने धन संग्रह करके रखा था, उनका खातमा करके व्यवसायशील लोगों को यह परिस्थिति सहायक हो जाती थी। कुदरत का यह खेल ऐसा लगता है मानो संग्रह और क्रिया के बीच के संग्राम में द्रव्य के मूल्य का गिरना क्रिया का पक्ष लेता रहा हो। द्रव्य के मूल्य के गिरने की प्रवृत्ति ने बपौती धन और उस पर चक्रवृद्धि ब्याज खानेवाले इन्सान की खासियत पर काफी आक्रमण किया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि बपौती संपत्ति को अकर्मण्य होकर भोगने की वृत्ति को इसने जबरदस्त धक्का मारा। इस परिक्रिया ने हर पीढ़ी को बपौती सम्पत्ति के उत्तराधिकार से एक तरह से वंचित-सा कर दिया। जो हो, विपद्ग्रस्त सरकार की जरूरतें और कर्जदार वर्ग की आवश्यकताएं, इन दो प्रभावों ने मिलकर कभी एक तो कभी दूसरी शक्ति ने, द्रव्य के मूल्य का लगातार घटाना जारी रखा है। यह क्रिया ईसा के ६०० साल पहले, जब पहले-पहल सिक्का चला, तभी से न्यूनाधिक रूप से चलती आ रही है।"

फुलावट का यह एक दिलचस्प पहलू है। किस तरह समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों का स्वार्थ सिक्के के मूल्य के साथ बंधा है, किस तरह जान-बूझकर समाज की कुछ श्रेणियां चलण के मूल्य को गिरा देने के पक्ष में रहती हैं और असाधारण समय में लुढ़कती हुई सल्तनत के लिए भी चलण का मूल्य गिराना कितना उपयोगी शस्त्र है, यह ऊपर के कथन से जाहिर होता है।

९

फुलावट एक तरह का कर—प्रच्छन्न कर है, यह कम लोग जानते हैं। पर यह ध्रुवसत्य है कि एक कमजोर सरकार भी, जिसके कर लगाने के अन्य सब साधन सूख गए हों, और जिसके लिए कोई भी कर उगाहना असंभव-सा हो गया हो, इस अन्तिम अस्त्र का उपयोग करके प्रच्छन्न कर उपार्जन कर सकती है। इस प्रच्छन्न कर का यह मजा है कि कोई कितना ही सरकार का विरोधी क्यों न हो, वह भी इस कर से बच नहीं सकता। इस पहलू को कुछ और विश्लेषण के साथ

समझाने की जरूरत है।

जहां हमने 'द्रव्य परिमाण मत' का जिक्र किया है वहां यह बतला दिया है कि अन्य सब स्थिति समान रूप से वरतती हों तो जितना ही चलण में हम द्रव्य का अधिक प्रवेश करावेंगे उसी अनुपात से द्रव्य का मूल्य गिरेगा और जिन्सों के दाम चढ़ेंगे। इसका फिर एक उदाहरण दे देना अच्छा होगा।

मान लीजिए कि सामान्य अवस्था में हमारे यहां २५० करोड़ रुपए के नोट चलण में हैं, जिनकी सोने की कीमत १० करोड़ तोला सोना है। (एक तोला सोने की कीमत = २५ रुपए। इसलिए १० करोड़ तोला सोना × २५ = २५० करोड़ रुपए) तो यदि हमने चलण में २५० करोड़ रुपए के नोट और छापकर डाल दिए, तो भी सोने की कीमत तो वही १० करोड़ तोले की रहेगी। पर चूंकि चलण में नोट अब ५०० करोड़ के हो गए, इसलिए जहां पहले २५० करोड़ रुपए के नोटों की कीमत १० करोड़ तोला सोना थी, अब ५०० करोड़ रुपए के नोटों की कीमत १० करोड़ तोला सोना रहा—अर्थात् नोटों की सोने की माप में जो कीमत पहले थी उससे आधी हो गई। इसके माने यह भी हुए कि जिन्सों की कीमत दुगुनी हो गई—अर्थात् नोटों का चलण दुगुना हुआ, उसके अनुपात से नोटों का मूल्य तो आधा रह गया, पर जिन्सों का मूल्य दुगुना हो गया।

अब सरकार को जो नए २५० करोड़ रुपए नए नोट छापने के कारण हासिल हुए वह सारा-का-सारा धन उन लोगों की जेब से निकला, जिनके पास चलण की धरोहर थी—अर्थात् ऐसे लोगों की जेब से निकला जो रुपया उधार देने का काम करते थे—जैसे बैंक, साहूकार इत्यादि, या तो जिन्हें जेब-खर्च के लिए भी अपनी जेब में कुछ नोट रखने पड़ते थे। इस २५० करोड़ की क्रय-शक्ति अवश्य ही पहले के मुकाबले में घट गई, क्योंकि जिन्सों के दाम जो चढ़ गए। पर जब फुलावट-नीति पहले-पहल शुरू होती है तब लोगों के अज्ञान के कारण जिन्सों के दाम अचानक नहीं चढ़ जाते, और इसलिए नए २५० करोड़ की क्रय-शक्ति भी शुरू-शुरू में पहले से बिलकुल आधी शायद न होगी। अब सरकार इस तरह से यदि २५० करोड़ का कर उगाहती तो सैकड़ों झमेले होते, पचासों तरह का विरोध होता, कर-कानून बनाना पड़ता। इसके विपरीत, इस तरह से चुपचाप नोट छाप कर चलण में प्रवेश करा देने से सरकार ने चुपचाप अपना काम बना लिया।

इस कर से बचना असम्भव-सा है

कोई कह सकता है कि क्या इस कर से कोई बच भी सकता है? हां, कल्पना में बच सकता है, पर व्यवहार में शायद ही। आखिर यह कर उसी की जेब से निकलता है, जिसके पास द्रव्य की धरोहर हो। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, यह कर एक तो इस तरह के लोगों की पाकेट से निकलता है, जो उधार रुपया

देते हैं, दूसरे, ऐसे लोग जिन्हें क्रय-विक्रय के लिए रोजगार-धंधे के लिए कुछ-न-कुछ रुपया तो सिलक में रखना ही पड़ता है, उनकी जेव से भी यह कर निकालता है।

अव ये दोनों तरह के लोग कर से इस तरह वच सकते हैं कि उधार देनेवाले तो उधार देना वन्द कर दें, घर में जवाहरात इत्यादि रख छोड़ें और क्रय-विक्रय-वाले नोट का व्यवहार तक करना छोड़ दें। पर यह नामुमकिन है। सूद पर उधार देनेवाले शायद उधार देना वन्द करके अपना धन जिन्सों में रोक दें, पर नित्य की खरीद-फरोख्त के लिए रुपए का व्यवहार वन्द करना, यह दवा मर्ज से भी कहीं ज्यादा कष्टप्रद है। हम गहरे उतरने पर देखेंगे कि रोजमर्रा की खरीद-फरोख्त के लिए जो रुपया हम उपयोग में लाते हैं, उसके कारण हर व्यक्ति पर यह नई तरह का कर इतनी कम मिकदार में पड़ता है कि वजाय इसके कि वह रुपये का व्यवहार वन्द कर दे, एक नागरिक इस कर को अदा करना अधिक पसन्द करेगा।

हम एक अन्तिम सीमा का उदाहरण ले लें। मान लीजिए सरकार चलण में इतना द्रव्य प्रविष्ट करती है कि जिसके कारण हर महीने द्रव्य का मूल्य करीव आधा ही रह जाता है। अब यदि रोजमर्रा के व्यवहार के लिए हर मनुष्य दो दिन से ज्यादा फरोख्त किये हुए माल का रुपया अपने पास नहीं रखता, तो इसके माने यह हुए कि रुपए की एक महीने में १५ वार पलटाई हुई—अर्थात् १५ वार भिन्न-भिन्न कामों के लिए उसी रुपए का उपयोग हुआ। द्रव्य का मूल्य गिरा एक महीने में ५० प्रतिशत। रुपए की पलटाई हुई एक महीने में १५ वार। तो ५० ÷ १५ = ३.३३। अर्थात् हर सौदे की लेवा-वेची पर ३.३३ प्रतिशत कर पड़ा, याने, १०० रुपए में जिस सौदे को खरीदते उसके १०० + ३.३३, अर्थात् १०३.३३ रुपए असल में आपको देने पड़े। यह कर असाधारण जमाने के लिए इतना कम है कि केवल इससे बचने के लिए ही कौन रुपये का व्यवहार वन्द करेगा?

इसलिए, जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है, इस कर से अत्यंन्त विरोधी भी वच नहीं सकता, और निकम्मी-से-निकम्मी सरकार भी यह कर उगाह सकती है। असल में तो इस शस्त्र का उपयोग भी वही सरकार करती है, जिसका दिवाला निकलने जा रहा हो। हां, अल्प मात्रा में, और नियंत्रण के साथ, तो उद्योग-धंधों को पनपाने के लिए, जैसा कि पहले वता चुके हैं, हर अच्छी सरकार भी फुलावट-नीति को समय-समय पर काम में लाती है।

पर यह भी सही है कि जिस तरह हर चीज की सीमा होती है वैसे ही इस शस्त्र की करामात के वारे में भी कहा जा सकता है। जव साख में लोगों की कोई श्रद्धा नहीं रहती तब लोग महज खरीद-विक्री के लिए, और सो भी अत्यन्त कम समय के लिए ही, अपने पास नोट रखते हैं। नतीजा यह होता है कि चलण को

व्यवहार में लानेवाले इतने कम हो जाते हैं कि फिर हजारों मन नोट छापकर चलण में प्रविष्ट करने पर भी कोई लम्बी रकम सरकार को हासिल नहीं होती। इसलिए इस शस्त्र की धार भी अंत में करीब-करीब झूठी-सी पड़ जाती है।

ऐसी भयंकर फुलावट का एक परिणाम और होता है। सरकार का कर्ज तो अपने-आप चुक जाता है। जब द्रव्य का मूल्य इतना गिर जाय कि रुपया एक कौड़ी का भी न रहे तो, फिर हजारों-अरबों का देना-पावना भी केवल हिसाब-बहियों की शोभा की चीज रह जाता है, और इस तरह सरकार का कर्ज अपने-आप रफा हो जाता है। चूंकि सारा-का-सारा यह कर द्रव्य के धरोहरधारी की जेब से निकला, इसलिए इसे हम यदि पूंजी-कर की भी उपमा दें तो यह अनुपयुक्त उपमा न होगी। पर यह पूंजी-कर घुमाकर नाक पकड़ने-जैसी चीज है। सीधे रास्ते से पूंजी-कर लगाने में मनुष्य शास्त्रीय विधि का उपयोग कर सकता है। पर लुढ़कती हुई सल्तनत में सीधा मार्ग अख्तियार करने की हिम्मत कहां? इसलिए यह अशास्त्रीय और भद्दा मार्ग ऐसी विपद्ग्रस्त सरकार के लिए ज्यादा आसान होता है।

१०

हमने अबतक फुलावट-नीति की चर्चा की। उससे पाठक के दिल पर यही असर होगा—और वह स्वाभाविक है; क्योंकि सारे विवेचन में ध्वनि भी वही निकलती है—कि फुलावट या गिरावट की क्रिया का संचालन केवल सरकार या नोट-प्रसारक बैंक के हाथ में ही रहता है। किन्तु यह बात अंशतः ही सही है। हद दरजे की भयंकर फुलावट या गिरावट का संचालन तो अवश्य ही या तो सरकार कर सकती है या उसके इशारे से नोट-प्रसारक बैंक। पर, एक सीमा के भीतर, फुलावट या गिरावट अन्य बैंक या अन्य साहूकार भी पैदा कर सकते हैं।

हमने बतलाया है कि धन का प्रतीक मुद्रा, मुद्रा का प्रतीक नोट और नोट का या मुद्रा का प्रतीक चेक या हुण्डी हो जाती है। जिस आदमी की साख अच्छी है, उसकी हुंडी भी धन ही है। फुलावट या गिरावट नोटों के अधिक विस्तार या संकोच से पैदा होती है, क्योंकि नोट धन के प्रतीक हैं। तो उसी तरह चेकों और हुंडियों द्वारा भी तो धन का प्रसार या संकोच किया जा सकता है, क्योंकि यह

भी तो धन के प्रतीक हैं। वह इस तरह होता है :

मान लीजिए एक बैंक है या एक साहूकार है। उसके पास रुपया सिलक में नकद पड़ा है, अथवा, सरकारी कागजों में कम ब्याज में रुका पड़ा है। न तो वह अक्रिय रकम किसी तरह के वाणिज्य-व्यवसाय में लगती है, न लेन-देन में काम आती है। उधार लेनेवालों की कमी नहीं, पर उन्हें बैंक या साहूकार की उस अक्रिय पूंजी से कोई लाभ नहीं मिल रहा है। अब व्यापार को पनपते देखकर पूंजी के स्वामी उस बैंक या साहूकार की रुपया उधार देने की इच्छा होती है। वह व्यापारियों एवं अन्य उधार लेनेवालों को रुपया देना शुरू करता है और इस तरह उस धन का उपयोग होने लगता है। अक्रिय रकम अब सक्रिय बन जाती है और जितनी ही रकम सक्रिय बनती जाती है, उतनी ही बाजार में नाणे की बहुतायत होती जाती है।

उधार की फुलावट

इस बहुतायत का वही असर होता है जो नोट-प्रसार के कारण होता है, बल्कि नोट-प्रसार से पैदा हुई फुलावट की अपेक्षा, उधार-द्वारा की गई फुलावट कभी-कभी ज्यादा शक्तिशाली भी होती है। एक करोड़ रुपए के नए नोट हम चलण में डालते हैं और सौ करोड़ के नोट पहले से चलण में है, तो साधारणतया यह कहा जा सकता है कि एक प्रतिशत तक फुलावट हुई और उसका साधारणतया (यदि और कोई नया मसला उलट-फेर का मौजूद न हो तो) उसी परिमाण में दामों पर भी असर होना चाहिए। पर उधार-द्वारा एक करोड़ की पूंजी यदि नाणे के बाजार में प्रवेश करती है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसका दामों पर असर, एक करोड़ की फुलावट के अनुपात से ही होगा।

हम कल्पना कर सकते हैं कि किसी आसामी के पास एक लाख का गल्ला पड़ा है, जिसपर उस आसामी की रकम लगती है। उसे रुपया उधार न मिलने की वजह से उसका हाथ रुका पड़ा है। उसे अचानक बैंक से रुपए उधार मिल जाते हैं। अब उसका हाथ खुला हो जाता है। एक लाख रुपए से वह तेल का एक कारखाना खोलता है। उसे अब सरसों की जरूरत पड़ती है। सरसों बेचनेवाले आसामी के पास मुद्दत से सरसों पड़ी थी, वह बिक नहीं रही थी। उसे बेचकर सरसों वाला आसामी एक बर्तन बनाने का कारखाना खोल लेता है। उसके लिए तांबा खरीदता है। तांबेवाले आसामी के पास मुद्दत से तांबा पड़ा था, जो बिक नहीं रहा था। तांबा बिकते ही वह नया माल खरीदने लगता है। नया माल खरीदने से खानवाला काम बढ़ाता है। चारों तरफ से मजदूरों की मांग होने से ठलुए मजदूरों को काम मिलता है। वे फिर ज्यादा कपड़ा खरीदने लगते हैं; तो कपड़े की पैदाइश बढ़ती है। उसके माने हैं—ज्यादा मजदूरों की मांग, ज्यादा

रुई की जरूरत। बस, इस तरह से बाजार की रोशनी जो फीकी हो चली थी, फिर चमकती है। उस चमक का दूसरी चीजों पर प्रभाव पड़ता है। इस तरह उत्पन्न हुई आशावादिता चारों ओर प्रकाश डालती है और थोड़ी-सी रकम से, बड़ी-सी फुलावट भी आ सकती है।

हमने यह उदाहरण इसपर काफी रंग चढ़ाकर पेश किया है। ऐसा ही होता है सो नहीं, पर ऐसा हो सकता है, इतना ही बताना है। गरज यह है कि उधार से पैदा हुई फुलावट कभी-कभी अपने अनुपात से ज्यादा काम कर जाती है; क्योंकि उसके पीछे एक भावना रहती है, जो लोगों में आशा का संचार करके कभी-कभी आवश्यकता से अधिक सरगर्मी ला देती है। इसी तरह जब बैंक अपना उधार सिमेटता है तो आवश्यकता से ज्यादा मुर्दनी भी पैदा कर देता है।

अब हम देख सकते हैं कि उधार-द्वारा भी धन का विस्तार और संकोच और तज्जनित फुलावट या गिरावट पैदा की जा सकती है।

नोटों के प्रसार और संकोच से जो काम होता है, एक तरह से उधार के विस्तार और संकोच से भी वही काम होता है। दोनों चीजें एक तरह से तो एक ही हैं, क्योंकि दोनों के द्वारा धन का संकोच या विस्तार हो सकता है। पर बैंकों या साहूकारों द्वारा धन का विस्तार अर्थात् धन का चलण में प्रवेश तभी होता है जबकि व्यापार चलता हो या तो अच्छे चलने की आशा हो, कारखानेवाले कमाते हों, भविष्य उज्ज्वल दीखता हो। रुपया उधार देने में किसी तरह का खतरा न लगता हो, तभी उधार का विस्तार होता है। साख एक नाजुक चीज है, जो लाजवंती के पौधे की तरह खतरे की आशंका होते ही अपने डाल-पात को समेट लेती है। जहां समय अच्छा आया, व्यापार पनपने लगा, कि पूंजीवाले उधार देने में बहादुरी दिखाने लगते हैं, और जहां खतरे की घंटी बजी कि वे अपना बोरिया-बंधना उठाने लगते हैं। इस तरह से उधार देनेवाले भी फुलावट और गिरावट के कर्त्ता बन जाते हैं। इस फुलावट या गिरावट को साख की फुलावट या गिरावट भी कह सकते हैं।

पर यह उधार की फुलावट या गिरावट सीमा के भीतर ही रहती है। किसी पूंजीवाले के पास अगनित धन तो होता नहीं, संख्याबद्ध धन ही होता है। इसलिए बैंक या साहूकार द्वारा की गई फुलावट या गिरावट भी सीमा के भीतर बद्ध रहती है।

११

फुलावट-नीति का हमने विस्तार के साथ जिक्र किया। गिरावट का हमने ज्यादा जिक्र नहीं किया है, पर शायद यह समझाने की जरूरत नहीं कि गिरावट का परिणाम हर बात में फुलावट से उलटा होता है।

विपद्ग्रस्त सरकार धन उगाहने के लिए—चारों तरफ से उसकी चाल रुक जाती है तब—फुलावट-नीति का आसरा लेती है, या तो स्वल्प और नियंत्रित मात्रा में फुलावट उद्योग-धंधों को पनपाने के लिए भी काम में लाई जाती है।

तो फिर यह प्रश्न हो सकता है कि गिरावट-नीति का दौरदौरा कब होता है?

गिरावट-नीति आम तौर से ऐसी दशा में प्रयोग में लाई जाती है जबकि सरकार तो व्यवस्थित है और व्यवस्था के साथ विशेष हेतु के लिए उस सरकार ने फुलावट-नीति का प्रयोग किया है; पर मात्रा से कुछ ज्यादा फुलावट हो गई है, और इसलिए, फुलावट का जोश ठंडा करने के लिए व्यवस्था के साथ अब कुछ गिरावट-नीति के प्रयोग की आवश्यकता है। ऐसी आवश्यकता पड़ने पर गिरावट-नीति का उग्र प्रयोग किया जाता है।

पर जैसे फुलावट बेबसी की चीज है, वैसे ही गिरावट इस बात की द्योतक है कि सरकार सही-सलामत है; उसकी ताकत या व्यवस्था में कोई कमजोरी नहीं है। गिरावट में तो चलण की साख बढ़ानी पड़ती है। इसलिए यह काम एक व्यवस्थित सरकार ही, और सो भी विशेष हेतु के लिए ही, कर सकती है। यह इसलिए स्वाभाविक है कि जिस तरह फुलावट असीमित हो सकती है, वैसे गिरावट सीमा के बाहर नहीं जा सकती।

पर गिरावट-नीति के प्रयोग के उदाहरण संसार के आर्थिक इतिहास में कम मिलते हैं। ज्यादातर लोगों ने विवश होकर, या तो देश के उधोग-धंधों की उन्नति के लिए, फुलावट-नीति का ही प्रयोग किया है। इसलिए फुलावट-नीति के गुण-दोषों का हम अच्छी तरह विवेचन कर लें तो काफी है; क्योंकि जो हानि-लाभ फुलावट के हैं, उनको ठीक तरह समझने के बाद गिरावट के गुण-दोष अपने-आप समझ में आ जायंगे।

जब गिरावट-नीति का प्रयोग होता है तब फुलावट-नीति से ठीक उलटे नियमों को काम में लाया जाता है—अर्थात् किसी भी बहाने नोटों को चलण में से निकालकर नोटों की एक बनावटी तंगी पैदा की जाती है। सरकारी खर्च के लिए, मान लीजिए, आवश्कता है एक सौ करोड़ की और कर-वसूली की गई सवा सौ करोड़ की, तो जनता के पास से पचीस करोड़ का धन खींच लिया गया, और इसी परिमाण में जनता की क्रय-शक्ति कम हो गई; या तो व्याज ऊंचा

देकर बिना किसी हेतु के सरकार ने पचीस करोड़ का ऋण ले लिया और उसे खर्चने के बजाय कोष में ही रख छोड़ा। तो इसका भी वही असर पड़ा, अर्थात् जनता की क्रय-शक्ति कम हो गई।

गिरावट कब वांछनीय है ?

जनता की क्रय-शक्ति को कम करने की यह नीति एक तरह से तो दम घोटने की नीति-जैसी लगती है। इसलिए ऐसी नीति को काम में लाना तभी वांछनीय हो सकता है जब कि सल्तनत को यह लगे कि जनता समृद्ध है और समृद्धि के नशे में वित्त-शाठ्य करने जा रही है—अर्थात् बूते के बाहर खर्च करने की या व्यवसाय करने की जन-साधारण की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसका आगे जाकर परिणाम भयानक हो सकता है। जब सरकार को ऐसी विपत्ति की आशंका होती है तभी, जैसे दूध के उफान को ठंडा करने के लिए पानी से छांट दिया जाता है उसी तरह समृद्धि के उफान को—समृद्धि को नहीं, क्योंकि समृद्धि तो ठोस असली चीज है, उफान धोखा है—आवश्यकतानुसार गिरावट का प्रयोग करके शान्त करना प्रजाप्रिय सरकार का कर्त्तव्य बन जाता है।

सरकार ने कर-वसूली से या ऋण द्वारा जो धन जनता से खींचा उसका आखिर तो व्यय ही करना है और वह व्यय उस समय किया जाता है जब कि उफान के बाद की सुस्ती के मारे जनता भयभीत होकर अपनी सारी प्रगतियों को बन्द कर देती है, व्यय में आवश्यकता से ज्यादा कंजूसी करने लगती है, व्यापारी मंदी से भयभीत होकर अपने हाथ-पांव समेट लेते हैं, बेकारी बढ़ने लगती है और जिन्सों के दाम गिरने लगते हैं। ऐसे समय में जनता को फिर प्रोत्साहन देने के लिए, अतिशय आई हुई मंदी को शान्त करने के लिए, ठंडे खून में फिर से गर्मी लाने के लिए, जनता से खींचा हुआ धन सरकार खर्चने लगती है। और जहां खर्च शुरू हुआ कि फिर ताजगी आने लगती है।

इसके यह माने नहीं कि हिन्दुस्तान में सरकार ने जो गिरावट का प्रयोग किया वह इसी सिद्धान्त पर किया और जब मंदी ने तबाही शुरू की तब उसको रोकने के लिए फिर फुलावट का प्रयोग किया। यहां की कथा तो निराली है।

इस देश में गिरावट-नीति अक्सर इसलिए काम में लाई गई है कि द्रव्य के परिमाण में कमी करके उसका मूल्य ऊंचा कर दिया जाय।

आगे जब हम भारतवर्ष की हुण्डी का विवेचन करेंगे तब गिरावट-नीति से इस देश की जिन्सों के दामों पर, कल-कारखानों पर, समृद्धि पर और आयात-निर्यात पर क्या असर हुआ, गिरावट की नीति को सफल बनाने के लिए कैसे करोड़ों रुपए बरबाद किये गए, इन सब बातों का विवेचन करने के लिए हमें काफी मौका मिलेगा।

१२

फुलावट में दामों में तेजी, गिरावट में मंदी, यह हमने वतलाया है और फुलावट या गिरावट मुख्यतया सल्तनत की मर्जी की चीज है। कम-से-कम सरकार सही-सलामत रहे तो वेवसी की फुलावट को तो हम अनहोनी चीज करार दे सकते हैं। इसलिए सीमाबद्ध फुलावट या गिरावट सरकार की मंशा पर अवलम्वित रह जाती है। तो फिर यदि फुलावट से तेजी और गिरावट से मंदी होती है तो दाम करीव-करीव स्थिर रखने के लिए भी कभी फुलावट तो कभी गिरावट की चावी घुमाई जा सकती है। दूसरे शब्दों में, दाम स्थिर रखने के लिए भी इन दोनों तरकीवों का उपयोग किया जा सकता है, और दाम स्थिर रहना, यह भी तो समाज के लिए एक वड़ा लाभ है।

हम पहले बता चुके हैं कि दामों की तेजी से माल उपजाने वालों को लाभ और बंधी आय वालों को नुकसान है; दामों की मन्दी में इससे उलटा। पर इस तेजी-मन्दी के उलट-फेर में कभी किसी को लाभ और कभी हानि से सामाजिक असन्तोष फैलता है, सो बुराई तो है ही, पर इस असन्तोष के साथ-साथ पैदाइश पर भी बुरा असर पड़ता रहता है। धीरे-धीरे लगातार तेजी चलती है तो पैदाइश बढ़ती रहती है, पर फिर, जब दामों में मुड़की आती है और दाम गिरते हैं तो कारखानों को ताला लगने लगता है, बेकारी वढ़ती है और इससे समाज में गरीवी आने लगती है। उससे असन्तोष वढ़ता है। सम्भव है दाम स्थिर हों—कम-से-कम एक परिधि के भीतर—तो शायद इस परिस्थिति से पैदाइश की वृद्धि भी हो और समाज के विभिन्न फिरकों में दामों की घटा-बढ़ी से पैदा हुआ असन्तोष भी न होने पावे। इस भावना से प्रेरित होकर कई अर्थशास्त्री दामों की साम्यावस्था की पुष्टि करते हैं।

दामों की साम्यावस्था

दामों की साम्यावस्था से इतना ही प्रयोजन है कि दामों के सूचक अंक (Index Figure) की साम्यावस्था। यह तो नामुमकिन चीज है कि हम सव जिन्सों के अलग-अलग दामों की घटा-बढ़ी को रोक सकें। मान लीजिए, एक साल गेहूं की फसल बहुत वढ़िया वैठी, और सरसों की फसल मारी गई। तो गेहूं की वहुतायत से गेहूं की मन्दी और सरसों की कमी के कारण सरसों की तेजी अवश्यम्भावी है। इसे कोई नहीं रोक सकता। पर अलग-अलग चीजों की तेजी या मन्दी एक बात है, और सम्मिलित दामों की तेजी या मन्दी दूसरी बात। जब सम्मिलित दामों की तेजी या मन्दी आती है तभी समाज के एक अंश को लाभ

और दूसरे को हानि होती है। इस सम्मिलित दामों की तेजी या मन्दी को गिरावट या फुलावट की नीति द्वारा काफी दर्जे तक रोका जा सकता है। वह इस तरह :

सल्तनत दामों के सूचक अंकों का अध्ययन करती रहती है और जहां दाम कुछ बढ़े कि नोट-प्रसारक बैंक चलण में से नोटों को निकालकर धन का संकोच शुरू कर देती है; जहां दाम गिरे कि नोटों का चलण बढ़ाकर विस्तार कर देती है। इस तरह के संकोच-विस्तार द्वारा दामों को यथासाध्य साम्यावस्था में रखने की कोशिश की जाती है और उसमें उसे साधारणतया सफलता भी मिलती है। इस सारी क्रिया को विस्तार से समझाने में छोटी-मोटी अन्य कई क्रियाओं का भी उल्लेख करना पड़ेगा। चूंकि पाठकों के सामने एक मोटी-सी रूप-रेखा देना ही इस पुस्तक का ध्येय है, इसलिए ज्यादा ब्योरे में उतरना आवश्यक नहीं है। बतलाना इतना ही है कि फुलावट-गिरावट की नीति से दामों में तेजी, मन्दी और साम्यावस्था तीनों चीजें लाई जा सकती हैं।

पर दामों को साम्यावस्था में रखने के और भी तरीके हैं। एक तरीका तो खास करके इसी महायुद्ध में बहुतायत से काम में लाया गया है। यह तरीका नया नहीं है, पर इतने विस्तार से इसी युद्ध में काम में लाया गया है, इसलिए इसे नया तरीका भी कह सकते हैं। यह तरीका है माल की उपज, खपत और दामों का नियंत्रण करना।

जब हम नोट-प्रसार अधिकता से करके दामों की तेजी को प्रोत्साहन देते हैं या तो कम करके दामों की मंदी का आह्वान करते हैं, तो एक तरह से हम दामों की तेजी या मंदी पर सीधा हल्ला न बोलकर ऐसे टेढ़े-मेढ़े उपायों का प्रयोग करते हैं कि जिससे जनता की क्रय-शक्ति कमोबेश होकर चीजों की उपज और खपत पर अपने-आप अच्छा या बुरा असर पड़ता रहे।

जनता के पास क्रय-शक्ति है और वह उसका उपयोग करके दामों को तेज करना चाहती है। उस क्रय-शक्ति को हमने कर-द्वारा या उधार लेकर अपने कब्जे में कर लिया। फलस्वरूप अब जनता बाजार से हट जाती है और दाम गिर जाते हैं। या तो जनता की क्रय-शक्ति का ह्रास हो गया और इसलिए बाजार में सन्नाटा छा गया। सल्तनत ने नए-नए खर्च करना शुरू करके जनता की क्रय-शक्ति बढ़ा दी और जनता फिर बाजार में खरीदने के लिए आ धमकी और इस तरह बाजार में फिर जान आ गई। यह गिरावट या फुलावट का एक तरीका है दामों को घटाने और बढ़ाने का।

पर मान लीजिए कि आपके पास असंख्य दौलत पड़ी है। उसको किसी ने नहीं छीना। पर आप पर यह दफा लगा दी कि आप अमुक परिमाण से ज्यादा किसी भी हालत में किसी भी वस्तु को खरीदने नहीं पावेंगे, और न दूकानदार

बिना सरकारी इजाजत के आपको कोई चीज बेचेगा। तो फिर इसका परिणाम भी वही होता जाता है जो चलण की कमी-बेशी से पैदा किया जाता है; क्योंकि आपके पास शक्ति होते हुए भी आप खरीद के हकदार नहीं रहे। यदि सरकार इस तरह की सारी हलचलों का नियंत्रण कर डाले कि अमुक चीज की इतनी पैदाइश होगी, हर मनुष्य अमुक मिकदार ही अमुक चीज की खरीद और खपत कर सकेगा, बेचनेवाले और लेनेवाले अमुक बंधे हुए दाम पर ही खरीद और फरोख्त कर सकेंगे और जो कोई सरकारी हुक्मउदूली करेगा उसे सजा भुगतनी पड़ेगी, तो फिर चाहे किसी के पास असंख्य धन क्यों न पड़ा हो वह धन बेकार-सा बन जाता है और उसकी नियंत्रित क्रिया के कारण दामों की घटा-बढ़ी भी नियंत्रित हो जाती है। अवश्य ही यह दूसरा तरीका, दामों की साम्यावस्था लाने का, ज्यादा सीधा है—आड़ा-टेढ़ा नहीं है—पर इसके यह माने नहीं कि यह ज्यादा वांछनीय है।

नियंत्रण

इस तरीके में योजना और संचालन के लिए अफसरों और कारिन्दों की एक बृहत् सेना को रोकना पड़ता है, जो रात-दिन इसी ताक-झांक में रहती है कि किसी ने इस नियम का भंग तो नहीं किया। इतने नागरिकों को केवल योजना और संचालन के लिए रोक रखना, यह भी देश की समृद्धि के लिए एक हानिकर चीज है। आखिर जबतक हर आदमी कुछ पैदाइश करता रहता है तभी तक देश की समृद्धि बढ़ती है। यदि सब लोग संचालन में, वाद-विवाद में, सैन्य और पुलिस में और ऐसे अन्य बे-उपजाऊ धंधों में ही लगे रहें, तो फिर समृद्धि कहां? इस दृष्टि से वही तरीका अच्छा है जिसमें कम-से-कम आदमियों की शक्ति का ह्रास हो। पर युद्ध-काल में इन सब नियमों की अवहेलना करनी पड़ती है। ऐसे विकट समय में ध्येय की अपेक्षा साधन गौण बन जाता है। इसलिए ऐसे नियंत्रणों का उपयोग विकट काल में ही वांछनीय माना जाना चाहिए। यद्यपि रूस में शांति-समय में भी नियंत्रण का उपयोग किया गया है पर रूस के सम्बन्ध में तो यह भी कहा जा सकता है कि वहां शांति का समय आया ही नहीं, विकट समय का ही दौर-दौरा रहा, और इसलिए वहां नियंत्रण-नीति अभीष्ट ही थी। जो हो, दामों की साम्यावस्था नियंत्रण से भी लाई जा सकती है, यह अब पाठक समझ सकेंगे।

... ...

अब पाठकों से विदा लेता हूं।

२. पानी में भी मीन पियासी

जैसा कि इस लेख के नाम से विदित है, वर्तमान आर्थिक संकट अनजान लोगों के लिए एक अजीव पहेली है। इसके पहले भी आर्थिक संकट आते थे; किन्तु उनका जन्म किसी प्रकार के दैवी या मानुषी प्रकोप, महामारी, अग्निप्रलय, जल-प्रलय, अनावृष्टि, भूकम्प, राजविप्लव ऐसे-ऐसे कारणों से होता था। कारण मिट जाने पर स्थिति सुधर जाती थी। उस समय रेल-तार न होने के कारण दुनिया आज की तरह छोटी न थी, स्थानीय कष्ट अपनी सीमा के भीतर ही कष्ट-प्रद होते थे; किन्तु आज के आर्थिक संकट का ढंग कुछ अनोखा है। न महामारी है, न प्लेग है, न राजविप्लव है, न अनावृष्टि या अतिवृष्टि है, न अग्निप्रलय है, भूकम्प तो अभी हाल में ही हुआ है, फिर भी चारों ओर से तबाही की आवाज आती है। खेत धान्य से भरे हुए हैं, किन्तु पेट खाली है। माल बेचनेवाले लालायित हैं, गोदाम ठसाठस भरे हुए हैं, उधर लेनेवाले चीज़ों के लिए तरस रहे हैं। चीज़ें सस्ती हैं, किन्तु गांठ में दाम नहीं। सामने हलवे से भरी थाली रखी है और पेट में भूख है; परन्तु हाथ बंधे हैं और होंठ सी दिये गए हैं। ऐसी ही आज की हालत है। पुराने जमाने में जब फसल की बहुतायत होती थी और दाम मन्दे होते थे तब उसे लोग सुकाल कहते थे। आज भी चीजों की बहुतायत है, दाम भी मन्दे हैं, तो भी सुकाल नहीं, दुकाल है। अमरीका में "चीजें कम पैदा करो" इसकी धूम है। यहां भी "पाट कम बोओ", "गेहूं कम बोओ" ऐसी सलाह देने वालों की कमी नहीं। जहां सुभिक्ष की चाह थी, वहां दुर्भिक्ष में मुक्ति सूझती है। कल-कारखानेवालों ने तो पैदाइश करके अपनी स्थिति सुधार ली है। उदाहरणार्थ, चाय और चटकलवालों ने ऐसा किया है और कोयलेवाले करने की तैयारी में हैं। किसानों में इतना एका नहीं कि इस तरह बन्धेज के साथ पैदाइश घटा लें, तो भी वे कुछ इसी तरह की फिक्र में हैं। क्या अजब जमाना है ! जहां बहुतायत के लिए लोग तरसते थे, वहां बहुतायत के मारे लोग परेशान हैं।

यह क्यों ? इसीका यहां विवेचन करना है।

आगे बढ़ने से पहले हम सिक्के की करामात को कुछ समझ लें। जब हम कहते हैं कि वस्तुओं के दाम गिर गये या चढ़ गये हैं तब हमारा मतलब यह होता है कि वस्तुओं को अमुक माप या तौल के लिए हमको कम या अधिक परिमाण में सिक्के देने पड़ते हैं। मतलब यह है कि चीजों के दाम की माप का एकमात्र साधन इस समय सिक्का है। इसलिए यदि सिक्के के रहस्य को न समझा तो तेजी-मन्दी का खेल समझना आसान नहीं, और यह कोई जटिल प्रश्न भी नहीं है। झूठ-मूठ लोगों ने इसे जटिल विषय मान लिया है। अच्छा, सिक्के के बारे में एक

भ्रांत धारणा तो यह है कि सिक्के के दाम स्थिर हैं। उदाहरण के लिए लोग समझते हैं कि एक रुपये के १६ आने और ६४ पैसे बंधे हैं, इसलिए इसके दाम स्थिर हैं। किन्तु यह एक बड़ी भारी गलतफहमी है। यदि हम यह कहें कि आध सेर जल है तो इससे यह साबित नहीं होता कि पानी की कीमत स्थिर है। पानी की कीमत मापने में आप पानी को ही मापदण्ड नहीं बना सकते। तो फिर सिक्के की कीमत मापने में उसीके अंग १६ आने या चौंसठ पैसे को क्यों मापदण्ड माना जाय? जैसे हम चीजों की कीमत की माप सिक्के से करते हैं, वैसे ही सिक्के की कीमत की माप वस्तुओं से ही हो सकती है और जब हम सिक्के को वस्तुओं से मापेंगे तब पता चलेगा कि सिक्के की दर वस्तुओं से कहीं अधिक अस्थिर है। मान लीजिए कि हम एक ऐसे मुल्क में पहुंच गये हैं, जहां सोना चारों तरफ मिट्टी की तरह पड़ा हो और अन्न की काफी तंगी पैदा हो तो यह कहा जायेगा कि वहां अन्न खूब महंगा है। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि सोना वहां काफी सस्ता है। अलास्का वगैरा में जब नयी-नयी सोने की खानें निकली थीं, यही हाल था। मिट्टी में मिला हुआ सोना तो चारोंतरफ नजर आता था, पर खाने-पीने की चीजों की इतनी तंगी थी कि एक पैसे की चीज एक रुपये तक बिकती थी। सिक्के की भी वहां कमी थी, अक्सर लोग दाम चुकाने में सोने की मिट्टी का प्रयोग किया करते थे। वहां यह कहा जा सकता था कि चीजें बहुत महंगी थीं। यह भी कहा जा सकता था कि सोना बहुत सस्ता था। दोनों के माने एक ही हुए। इसी तरह आज की मंदी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि चीजें बहुत सस्ती हैं और दूसरे शब्दों में इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि सिक्का बहुत महंगा है। सिक्का इस समय सोने का प्रतिनिधि है, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सोना बहुत महंगा है। राम कहो या रहीम कहो, जैसे ये दोनों शब्द एक ही कर्तार के द्योतक हैं, इसी तरह चीजों का दाम मन्दा है, यह कहो चाहे सिक्का महंगा है यह कहो, दोनों वाक्य एक ही स्थिति के द्योतक हैं। इतना कहने पर यह समझ में आ जायेगा कि सिक्के की महंगी के कारण यह मंदी है और सिक्का सस्ता होने से चीजों के दाम बढ़ेंगे।

चीजों की पैदाइश कम करने से भी महंगी आती है। पैदावार कम करने से जैसे "न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी", वैसे न रहेंगी चीजें, न होगी सिक्के की मांग। इस हिसाब से सिक्के की कमी होते हुए भी अपेक्षाकृत बहुतायत हो जाती है; किन्तु जो महंगी कम पैदाइश से होती है वह आमवात रोग का मोटापन है और जो महंगापन उपज की वृद्धि के साथ-साथ सिक्कों की बहुतायत से होता है वह स्वास्थ्यकर वृद्धि है। १९०० से १९२० तक चीजों की उपज बढ़ी, दाम भी बढ़े, क्योंकि सिक्कों की तंगी न थी। उन वर्षों में नयी-नयी सोने की खानें खोज निकाली गयीं और इसलिए सोने या उसके प्रतिनिधि सिक्कों की कमी न होने

पायी। १९२० से १९२९ तक चीजों की पैदाइश बढ़ी, दाम घटे, क्योंकि पैदाइश के हिसाब से सिक्कों का चलन नहीं बढ़ा। सोने की कोई नयी खान नहीं निकली इसलिए सोने की उपज न बढ़ी और इसलिए सिक्कों की तंगी १९२९ के बाद महसूस होने लगी। फलस्वरूप दाम गिरने शुरू हुए। मन्दीवाड़े में चीजों की उपज घटनी स्वाभाविक थी। दाम भी घटे और उपज भी घटी। यह दोहरी मार हुई।

एक यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है। माना कि सिक्का दामों को मापता है और सिक्के की महंगी के कारण वर्त्तमान समय में इतनी मन्दी है, सिक्के की बहुतायत होने से तेजी भी आ सकती है; पर क्या कोई और तरीका इस अर्थ-संकट में से निकलने का नहीं ? क्या सिक्के की अवहेलना करके हम इस पाश में से नहीं निकल सकते ? हां, यदि सिक्के की अवहेलना करें तो। किन्तु जबतक कानून हम पर सिक्के का साम्राज्य लादता है, तबतक हम इसकी अवहेलना नहीं कर सकते। आज सिक्का कानूनन हमारे जीवन की प्रत्येक हरकत में गुंथा हुआ है। सिक्के का मौजूदा कार्यक्षेत्र यह है :

(१) सिक्का खरीद का साधन है। (आज हम चीजों का दाम चीजों में नहीं चुका सकते, किन्तु सिक्के में चुकाना पड़ता है।)

(२) सिक्का दामों को मापता है। (जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।)

(३) सिक्का धन की खान है। (संग्रह करके रखने में या साहूकार के पास जमा रखने से।)

(४) सिक्का कर चुकाने का जरिया है। (कर्ज सिक्के में लेते हैं। अदा करने की जिम्मेदारी सिक्के में है। कर सिक्के में बंधा है। जिन्स में कर्ज निश्चित हो और कर भी जिन्स में चुकाया जा सके तो सिक्के की शरण न लेनी पड़े।)

प्राचीन समय में सिक्के का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था। उस जमाने में नौकरों की नौकरी जिन्स में चुकायी जाती थी और जिन्सों का दाम जिन्सों में चुकाया जाता था। उधार का लेन-देन भी जिन्सों में काफी हो जाता था और जमीन की मालगुजारी जिन्सों में ही चुकायी जाती थी। सिक्का विशेषतया धन की खान ही था, इसलिए उसका कार्य-क्षेत्र संकुचित था। पर अब वह बात नहीं रही। आपके पास लाखों मन गल्ला मौजूद हो; किन्तु जबतक उस गल्ले को सिक्के में नहीं बदलवा लेते तबतक न तो मालगुजारी अदा कर सकते हैं, न नौकरों की तनख्वाह चुका सकते हैं, न कपड़ा खरीद सकते हैं और न अपना कर्ज ही अदा कर सकते हैं। यदि किसान की मालगुजारी सिक्कों में बंधी न होकर खेती की उपज में बंधी होती तो आज उसे कोई कष्ट न होता। किन्तु वैसा नहीं है। आधुनिक सभ्यता ने हम पर सिक्के का साम्राज्य स्थापित कर दिया है।

इस कारण एक चीज को दूसरी चीज से वदलने के लिए हमें पहले सिक्के की शरण लेनी पड़ती है। हमारे पास गल्ला है और हमें दूसरी चीज खरीदनी है तो यह जरूरी हो जाता है कि हम गल्ला वेचकर पहले सिक्का खरीदें, उसके वाद सिक्का वेचकर दूसरी चीजें खरीदें। अगर कर्ज, वेतन या मालगुजारी चुकाना है तो हमें अपनी जिन्स को पहले सिक्के में तवदील कर लेना होगा। इस परिस्थिति ने सिक्के का कार्य-क्षेत्र वहुत विस्तृत कर दिया है। इसके लिए अत्यधिक परिमाण में सिक्कों का चलन आवश्यक हो जाता है और इतना विस्तृत कार्य-क्षेत्र होते हुए यदि सिक्के का चलन पूरी तादाद में न हो तो उसका नतीजा यही होगा कि सिक्का महंगा होगा और जिन्सों के दाम गिरेंगे। यों समझिए कि यदि काशी के तमाम आदमियों पर यह कैद लगा दी जाय कि जितनी वेर वे खाना खायें या पानी पीयें उतनी ही वेर विश्वनाथजी का दर्शन किया करें तो उसका नतीजा यही होगा कि विश्वनाथ बावा के दर्शन के लिए वड़ी दौड़ा-दौड़ होगी, या तो ऐसी हालत में हमें विश्वनाथ को किसी ऐसी ऊंची जगह विठाना होगा, जहां से विना कष्ट और विशेष प्रयत्न के सभी को दर्शन सुलभ हों और यदि हम उन्हें आज की तंग गलियों में ही रखेंगे तो नतीजा यह होगा कि हर शख्स मुश्किल से भी रोज दर्शन न कर सकेगा। और उसके अर्थ यही होंगे कि बहुतों को भूखा और प्यासा रहना पड़ेगा। सिक्के की आज की हालत से यह उपमा बहुत मिलती-जुलती है। हमारे आर्थिक जीवन में हर कदम पर हमें सिक्के की जरूरत पड़ती है और इसके कार्य-क्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए चलन में इसकी तादाद कम है, इसलिए यह महंगा हो गया है और चीजों के दाम गिर गये हैं, हमारा कर्ज, कर, मालगुजारी, सब सिक्के में बंधे हुए हैं, इसलिए ध्रुव की तरह ये सब देनदारियां अपने स्थान पर अटल हैं। हमारी आमद कम हुई, देना वही रहा, अर्थ-संकट अवश्यंभावी हो गया।

यह भी जान लेना चाहिए कि जवतक सिक्के का सोने से सम्बन्ध है, इसको सस्ता करना भी आसान काम नहीं। सोना एक परिमित तादाद में पैदा होता है। अन्य चीजों की उपज नहीं वढ़ी। नतीजा यह हुआ कि लोगों को जब सिक्के की अधिक आवश्यकता पड़ी तब सोना इतने सिक्के नहीं दे सका। परिणाम यह हुआ कि सोना महंगा हो गया और चीजें मन्दी हो गयीं, हालांकि जैसे-जैसे सिक्के का कार्य-क्षेत्र वढ़ा, वैसे-वैसे उसकी तादाद वढ़ाने की कोशिश भी की गयी। जहां सिक्का खुद नहीं पहुंच सका वहां सिक्के के प्रतिनिधि नोट इत्यादि पहुंचे, परन्तु अन्त में प्रतिनिधियों को भी सीमावद्ध ही रखना पड़ता है। यदि एक सिक्के के वेहद प्रतिनिधि वन जायं तो स्वभावतया सिक्के की वकत घटेगी। इसलिए प्रतिनिधियों को भी सीमावद्ध रखना आवश्यक हो जाता है। जहां सीमा का उल्लंघन किया कि सिक्के की कीमत घटी और उसकी कीमत के घटने अर्थात् दाम गिरने

से चीज़ों के दाम अपने-आप बढ़ते हैं। लड़ाई में जब सिक्के की कमी महसूस होने लगी तब तो अमरीका को छोड़कर अन्यान्य सभी राष्ट्रों ने सिक्के के प्रतिनिधि परिमाण से अधिक पैदा कर दिये (Inflation)। नतीजा यह हुआ कि सिक्के की इज्जत घट गयी और सोने से उसका साथ छूट गया (Of the gold standard) और चीजों के दाम बुरी तरह से चढ़ गये। लड़ाई के बाद सब राष्ट्रों ने सिक्के को फिर सोने के साथ बांधकर (Reversion to the gold standard) प्रतिनिधियों को सीमाबद्ध करना शुरू किया (Deflation), और जब चीजों की उपज बढ़ने लगी और सिक्का या उसके प्रतिनिधि सब जगह नहीं पहुंच पाये तब चीजों का दाम गिरना शुरू हुआ। सन् १९१४ में यदि हम दामों को १०० की संख्या में मान लें तो इस हिसाब से भिन्न-भिन्न देशों में घटत-बढ़त कैसी हुई होगी, उसका ब्योरा इस प्रकार होगा :

	१९१४	१९२०	१९३३
इंग्लैण्ड	१००	२९५	९४
अमरीका	१००	१९७	९४
भारतवर्ष	१००	२०२	८७

अब साफ समझ में आ जायेगा कि दाम कैसे गिरे और क्यों गिरे ? अब यह भी समझ में आ जायेगा कि यह आर्थिक संकट क्यों हुआ ? यदि दामों के गिरने के साथ-साथ मालगुजारी, कर, कर्ज, ब्याज, तनखवाह जैसी देनदारियां—जिनका देना सिक्के के रूप में निश्चित है—किसी कानून द्वारा घटा दी जा सकतीं तो यह आर्थिक संकट कभी न होता। अगर किसान को अपनी पैदावार की कीमत सिक्के में कम मिलती तो साथ ही मालगुजारी, कर्ज और सूद भी कम देना पड़ता, किन्तु मालगुज़ारी, कर्ज, सूद और तनखवाह वगैरा सिक्कों में बंधे हुए हैं, इसीलिए ये सब देनदारियां पुरानी तादाद में ही चुकानी पड़ती हैं। उधर जिन्सों की कीमत सिक्कों में कम हो गयी और तलपट में घाटा पड़ना अनिवार्य हो गया, और जबतक तलपट के दोनों पासों में फिर समानता स्थापित न की जायेगी, यह आर्थिक संकट जारी ही रहेगा। जो लोग हुंडी की दर गिराना चाहते हैं, सिक्कों को सस्ता करना चाहते हैं, उनकी यही मंशा है।

अमरीका, इंग्लैण्ड, जापान वगैरा मुल्कों ने इन वर्षों में सिक्के का सोने से सम्बन्ध-विच्छेद करके उसकी इज्जत और कीमत इसीलिए गिरायी है कि चीजों के दाम चढ़ें। कुछ दाम चढ़े भी हैं, परन्तु बहुत नहीं। बात यह है कि जबतक सिक्के के दाम इतने न गिराये जायंगे कि आवश्यकतानुसार सबको उसका मिलना सुलभ हो जाये, दामों का चढ़ना असम्भव है। जो लोग हुंडी की दर को १८ पेंस से १६ पेंस करना चाहते हैं, उनसे मैं सहमत नहीं। मेरा अपना ख्याल है कि हुंडी की दर इतनी ज्यादा गिरा दी जानी चाहिए और तबतक गिराते चले जाना

चाहिए जबतक दाम सन् १९२६ के दामों की सतह पर न आ जाये।

संक्षेप में इस पहेली का उत्तर यह है :

(१) सिक्का दामों की माप का एकमात्र साधन है।
(२) चीजों की उपज बढ़ी, परन्तु उस हिसाब से सोने या उसके प्रतिनिधियों का चलन नहीं बढ़ा।
(३) इसके कारण सिक्के की तंगी हुई।
(४) फलस्वरूप दाम गिरे।
(५) किन्तु कर, कर्ज़, मजदूरी और सिक्के में निश्चित देनदारी में कोई कमी नहीं हुई।
(६) नतीजा यह हुआ कि पैदाइश करनेवाले लोगों और कर्जदारों की, किसानों और कलवालों की हानि हुई। चीज खरीदनेवालों पावनेदारों, साहूकारों, नौकरीपेशावरों, जमींदारों (यदि मालगुजारी पूरी आती हो तो) बैंक और बीमा कम्पनियों को लाभ हुआ।

क्षतिग्रस्त लोग ही अधिक संख्या में हैं। इसीलिए मौजूदा हालत को 'पानी में भी मीन पियासी' कहना उपयुक्त है।

इस मर्ज़ की दवा क्या है? दवा तो है; पर सत्ता नहीं है। बिना सत्ता के दवा खाने को हम किसे बाध्य करें? तलपट के दोनों पासों में समानता स्थापित हो, यही उद्देश्य होना चाहिए। एक तरीका यह है कि हम कर्ज़, मालगुज़ारी, वेतन, व्याज को उतने ही परिमाण में कानूनन कम कर दें, जितने कि दाम गिरे हैं। दूसरा तरीका यह है कि हम दाम उतने ऊंचे कर दें, जितने कि १९२६ के करीब थे। दूसरा तरीका ज्यादा व्यावहारिक है। पर दाम कैसे चढ़े? सिक्का सस्ता होने से। सिक्का कैसे सस्ता हो? वह विचारणीय प्रश्न है।

सिक्का सस्ता करने का एक तरीक़ा तो यह है कि हम इसके सोने के प्रतिनिधित्व को कम कर दें। जिस समय हमारा सिक्का सोने से बंधा था (२० सितम्बर सन् १९३१ के पहले) उस समय हमारा एक रुपया ८.४७ ग्रेन सोने का प्रतिनिधि था। १ शि० ६ पें० के विलायती सिक्के भी उतने ही ग्रेन सोने के प्रतिनिधि थे। इसीसे यह कहा जाता था कि हमारे रुपये को १ शि० ६ पें० की हुंडी से बांध रखा है। सितम्बर सन् ३१ में जब इंगलैण्ड के सिक्के ने सोने का साथ छोड़ा तब हमारे रुपये ने भी सोने से तो सम्बन्ध भंग कर लिया, मगर सोने को छोड़ने पर भी उसे स्वतन्त्रता न मिली। सरकार ने जबरन उसका नाता स्टर्लिंग से अर्थात् अंगरेजी सिक्के से जोड़ दिया। इस समय हमारा रुपया १ शि० ६ पें० अंगरेजी सिक्के का प्रतिनिधि है। अब यदि रुपये को सस्ता बनाना हो तो क्या करना होगा?

एक तो यह तरीक़ा हो सकता है कि जहां पहले हमारे सिक्के की कीमत

८.४७ ग्रेन सोना था, वहां अब उसका प्रतिनिधित्व घटाकर हम उसकी कीमत केवल ४.२३ ग्रेन सोना ही रख दें। उसका नतीजा यह होगा कि सिक्के की बहुतायत होगी, इसकी कीमत स्वभावतः पहले से सस्ती होगी और चीज़ों के दाम चढ़ेंगे। कितने चढ़ेंगे, यह कोई भी नहीं बता सकता। इसलिए यह दवा पूरी कारगर होगी, इसका कोई निश्चय नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि दाम चढ़कर फिर तो नहीं गिर जायेंगे। इसका भी कोई निश्चय नहीं। सोने की नयी-नयी खानें तो निकलती ही नहीं। चीज़ों की उपज बढ़ने पर यदि यह सस्ता किया हुआ सिक्का भी सब जगह न पहुंच सके तो फिर दाम गिरने लगेंगे। इसलिए रामबाण औषध तो यह होगी कि सिक्के का सदा के लिए सोने से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाये। सोना खाया नहीं जा सकता (हां, वैद्य और हकीम कभी-कभी औषध के रूप में इसे खिलाते हैं, पर इसके ऊपर भी घी-मक्खन की ज़रूरत पड़ती है), पिया नहीं जा सकता, पहना नहीं जा सकता। खूबसूरती में भी यह ऐसी कौन-सी लाजवाब चीज़ है ? फिर सोने का सिक्का ही प्रतिनिधि क्यों हो ? सिक्का आटा, दाल, गेहूं, कपड़ा, मक्खन, तेल, नमक, शक्कर का और विशेषकर कायिक परिश्रम का ही प्रतिनिधि क्यों न हो ? सिक्के की कीमत मापने के लिए जहां हम सोने का उपयोग करते हैं, वहां हम जिन्सों का उपयोग क्यों न करें ? इसके बजाय कि रुपया इतने ग्रेन सोने का प्रतिनिधि हो, यह इतने सेर गेहूं, इतने छटांक घी, शक्कर या अन्य वस्तु का ही प्रतिनिधि क्यों न हो जाये ? सोने की खानें सिक्के के चलन के लिए अपर्याप्त हो सकती हैं, किन्तु जिन्सों की कमी नहीं हो सकती। जबतक मनुष्य रहेंगे तबतक खेत रहेंगे और अन्य तरह की अनेक चीज़ों की पैदाइश रहेगी। इसलिए सिक्के का मुवक्किल सोना न होकर जिन्स हो, तभी सिक्का सदा के लिए बहुतायत से चलन में रह सकता है। तभी सिक्का सुलभ हो सकता है, तभी चीज़ों के दाम स्थिर और तलपट के दोनों पासे समान रह सकते हैं। अनुचित मन्दी और तेजी की रुकावट भी तभी रह सकती है, जब सिक्का सोने का प्रतिनिधि न होकर जिन्सों का प्रतिनिधि हो।

संक्षेप में सिक्का सोने से नाता तोड़कर यदि जिन्सों का प्रतिनिधि हो तो :

(१) सिक्के की बहुतायत होगी।

(२) फलस्वरूप चीज़ों की अधिक मन्दी या तेज़ी सदा के लिए नेस्तनाबूद हो जायेगी।

(३) समाज के तलपट के दोनों पासों में एक हद तक समानता होगी।

(४) इस अर्थ-संकट का एक हद तक नाश होगा। 'एक हद तक' मैंने इसलिए कहा है कि और भी कई कारण अर्थ-संकट के हैं, जिनके मिटने पर ही अर्थ-संकट का पूरा खात्मा हो सकता है। किन्तु सिक्का इसमें एक प्रधान कारण है, इसके सुधार से स्थिति बहुत-कुछ सुधर सकती

है। मगर यह तो कोरी लफ्फाजी हुई। आज हमें पूछता कौन है ? असल में तो होगा वही, जो होर साहब या उनके जांनशीन चाहेंगे।

"बूट डासन ने बनाया मैंने एक मजमूं लिखा।
मुल्क में मजमूं न फैला और जूता चल गया।।"

खैर, मजमूं ही सही।

जुलाई, १९३४

३. सट्टा, फाटका या फ्यूचर मार्केट

आमतौर पर लोगों से पूछे जाने पर कि फाटके के बारे में आपकी क्या राय है, प्रायः यही जवाब मिलेगा कि सट्टा, फाटका एक तरह की बुराई है, जिससे हर एक मनुष्य को बचना चाहिए। फिर भी यह कम लोग जानते हैं, कि सट्टा या फाटका बुरा क्यों है, कौन-से कारबार को सट्टा या 'फाटका' के नाम से पुकारना चाहिए, और उसकी उपयोगिताएं या बुराइयां कौन-कौनसी हैं। मैं नहीं कह सकता कि 'फाटका' शब्द कैसे प्रचलित हुआ; किन्तु सम्भवतः 'सट्टा' शब्द गुजराती और मारवाड़ी 'साटे' शब्द से बना है, जो शायद हेज (Hedge) का अनुवाद है। मारवाड़ी और गुजराती में 'साटा' शब्द बदले को कहते हैं। मारवाड़ी के 'रोटी साटे रोटी, कै पतली कै मोटी' में 'साटा' शब्द बदले के अर्थ में ही व्यवहार किया गया है। चूंकि हेज या फ्यूचर मार्केट खास करके एक वस्तु के बदले में उसीसे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी वस्तु या एक वायदे की वस्तु के बदले में दूसरे वायदे की वस्तु को बेचने ही के लिए स्थापित किया गया था, और चूंकि पहले-पहल इस मार्केट का विकास बम्बई में हुआ मालूम होता है, इसलिए गुजराती-मारवाड़ियों ने हेज के अनुवाद-स्वरूप 'साटा' शब्द का व्यवहार किया, जिससे सम्भवतः सट्टा बन गया। किन्तु यह मेरी अपनी कल्पना है और इस कल्पना के लिए कोई प्रामाणिक आधार है, ऐसा भी नहीं मानना चाहिए। जो हो, सट्टा-फाटका किसे कहना चाहिए और इसमें क्या बुराइयां हैं, यह तो बहुत ही कम लोगों ने सोचा है।

पहले-पहल इसी पर विचार करें कि सट्टा, जिसे आज लोग सट्टा कहते हैं और एक बुरा व्यसन मानते हैं, किसे कहना चाहिए। कितने लोग समझते हैं कि जिस वायदे के सौदे में माल की डिलीवरी नहीं होती, केवल रुपयों का ही

भुगतान होता है, उसे सट्टा कहना चाहिए। किन्तु कलकत्ता और बम्बई में ऐसे बाजार, जिनमें माल का भुगतान नहीं होता, बहुत कम हैं। जो थोड़े-से हैं उनमें सब लोग काम भी नहीं करते; क्योंकि पुलिस की उनपर निगाह रहती है और इसलिए ऐसे बाजार कानून के खिलाफ हैं। ऐसे बाजारों को जुवाड़खानों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है, इसलिए ऐसे बाजारों के महत्त्व को बढ़ा देना अतिशयोक्ति होगी। आमतौर से जिन बाजारों को लोग सट्टा-फाटका कहते हैं, उनमें से अधिकतर ऐसे ही बाजार हैं, जहां वायदे का सौदा होता है और जहां माल का लेन-देन बराबर होता है। तो फिर किसी ऐसे बाजार को, जिसमें माल का लेन-देन होता हो, उसे फाटका या सट्टा क्यों कहना चाहिए ? शायद कोई यह भी कहे कि जिस वस्तु का वायदे का सौदा होता हो, उसे ही फाटके की श्रेणी में रख देना चाहिए; किन्तु यह ठीक नहीं। हमें रोज दूधवाला बंधी से दूध देता है, वायदे पर माल भुगताता है, पर कोई उस दूध बेचनेवाले ग्वाले को फाटकिया कहकर नहीं पुकारता। किसान अपने खेत की फसल महाजन को खेत पकने के पहले भी बेच देता है और वायदे पर माल भुगत जाता है; पर कोई न किसान को न महाजन को सटोरिया कहकर पुकारता है। किसान और ग्वाले का उदाहरण तो अधिक समझ में आ सकता है, इसीलिए सामने रख दिया गया; वरना जो बात किसान और ग्वाला नित्य करता है, वही हर माल के पैदा करनेवाले, चालान करनेवाले, आयात-निर्यात करनेवाले व्यापारी रोजमर्रा करते हैं; किन्तु क्या उन्हें फाटकिया कह सकते हैं ? मैं यदि १००० गांठ वायदे की रुई अपनी मिल के लिए खरीदूं और बदले में १००० गांठ कपड़े की वायदे की बेच दूं, तो क्या उसे फाटका कहेंगे ? इसी तरह यदि मैं विदेश को पाट की रफ्तनी करता हूं और १००० गांठें विलायत में बायदे की बेचकर यहां १००० गांठ वायदे की बदले में ले लेता हूं, तो क्या उसे फाटका कहेंगे ? शायद कोई उत्तर दे कि जहां १००० गांठें लीं और बदले में उतनी न बेचकर यदि कम या ज्यादा बेचीं, और इस तरह से माथे या पोते की जो जोखिम ली, उसे फाटका समझ लेना चाहिए। किन्तु इस बुनियाद पर चलने से जो ग्वाला अपनी गाय के १० सेर रोजाना दूध में से ८ सेर की बंधी बांध देता है और २ सेर दूध गाय को दुहने के बाद बेचता है, उसे फाटकिया कहना होगा; पर उस ग्वाले को फाटकिया कहना नितान्त हास्यास्पद होगा। चाहे जितने उदाहरण ले लीजिए, किसी भी लेने या बेचने की क्रिया-मात्र को, चाहे वह तैयार माल की हो, चाहे वायदे की, हम फाटका या सट्टा नहीं कह सकते। जिस तरह देश, काल, पात्र के भेद से समान कर्म भी कभी अधर्म और कभी धर्म हो सकते हैं, उसी तरह से लेने और बेचने की क्रिया भी देश, काल, पात्र के भेद से 'व्यापार' या फाटके के नाम से सम्बोधित की जा सकती है।

यदि एक मिलवाला या माल का आयात-निर्यात करनेवाला माल लेता है

या बेचता है तो उसे हम व्यापार ही कह सकते हैं, फाटका नहीं। किन्तु वही क्रिया यदि किसी वकील, डाक्टर, सम्पादक या ऐसे किसी आदमी के द्वारा की जाती है, जिसका उस व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं, तो अवश्य ही वह आपत्ति-जनक क्रिया होगी, क्योंकि इससे देश की उत्पादन-शक्ति की तनिक भी वृद्धि नहीं होती, और यह सारी मेहनत-माथापच्ची बेकार जाती है। ऐसे कार्य को वास्तव में फाटका ही कहना होगा। व्यापार की भलाई एवं स्वयं उस फाटकिये की भलाई के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उस नये रंगरूट को, जिसका व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं, हम फाटका करने से रोकें। तात्पर्य यह हुआ कि जो क्रिया व्यापारी के लिए हितकर है एवं फाटका नहीं है, वही पात्र-भेद से अ-व्यापारी के लिए अहितकर या फाटका है। जिस तरह शिक्षा-प्राप्त डाक्टर या वैद्य को चिकित्सा करने का अधिकार है, उसके लिए और उसके रोगियों के लिए चिकित्सा वांछनीय है, उसी तरह व्यापारियों के लिए वायदे का लेना-बेचना आवश्यक, वांछनीय, हितकर और देश की समृद्धि का साधन एवं नौसिखुओं के लिए ठीक इससे उलटा है। सारांश यह कि दोष क्रिया का नहीं, किन्तु पात्र-संसर्ग से है और इसलिए जिसे हम फाटका कहते हैं, वह व्यापारियों के लिए व्यापार और फाटकियों के लिए फाटका है। व्यापार की भलाई के लिए सारे संसार में वायदे की लेवा-बेची का आयोजन है, उसकी उपयोगिता बड़ी भारी है। व्यापार-क्षेत्र में से वायदे के बाजारों को उठा देने से व्यापार की हानि है, इसलिए ऐसे बाजार रहे हैं और रहेंगे। अ-व्यापारियों की लेवा-बेची से देश की और स्वयं उनकी भी हानि होती है; किन्तु यह स्वीकार कर लेने के बाद भी ऐसा कोई राजमार्ग नहीं मालूम होता, जिससे अ-व्यापारियों को फाटके में कूद पड़ने से बचाया जा सके। अधिक-से-अधिक उनकी रक्षा के लिए यही हो सकता है कि वायदे के सौदे में (१) अदद छोटी मिकदार में न हों, (२) माल की डिलीवरी के लिए लेवाल-बेचवाल दोनों बाध्य हों, (३) सौदे का लिखित कण्ट्राक्ट हो, (४) सौदे का समय निर्धारित हो और (५) सौदे की व्यवस्था अर्थात् सारा कार्य कानूनी ढंग से होता हो, इसकी व्यवस्था के लिए एक व्यवस्थापक-मण्डल हो।

हम यह भी विचार करें कि वायदे के सौदे से वस्तुओं के भावों पर और देश की समृद्धि पर क्या असर होता है?

यह तो जानी हुई बात है कि वस्तुओं का दाम उनकी मांग और पैदाइश पर निर्भर करता है। यदि मांग कम हुई और उपज ज्यादा, तो अवश्य ही दाम नीचा रहेगा, किन्तु इसके अतिरिक्त माल बेचनेवाले और खरीदनेवाले की गरज और शक्ति का भी दामों पर बहुत असर होता है। मान लीजिए, मेरे पास एक गाय है और पड़ोसी उसे खरीदना चाहता है। अब चीज की मांग और पैदाइश तो दोनों बराबर हैं, किन्तु मुझे रुपये की आवश्यकता है, और इसलिए किसी भी तरह

अपनी गाय को बेचकर नकद दाम करना है। पड़ोसी को मेरी ग़रज का पता लग गया। इसलिए वह गाय खरीदने में टालमटोल करने लग जाता है, तो मुझे बाध्य होकर उस गाय को सस्ते दाम पर बेचना पड़ता है। इसी तरह यदि मुझे पता लग जाये कि पड़ोसी के घर में दूध की शीघ्र आवश्यकता है और उसे जितनी जल्दी हो सके, गाय खरीदनी है, तो मैं एक हदतक मुंहमांगा दाम अपनी गाय के लिए ऐंठ सकता हूं। तात्पर्य यह कि वस्तु का मूल्य पैदाइश, मांग, गरज और वस्तु को रोक रखने की शक्ति पर निर्भर है। इसी तरह यदि पाट की पैदाइश १ करोड़ गांठों की है और खपत इससे भी अधिक अर्थात् १ करोड़ ५ लाख की है, तो भी यदि माल खानेवाले लोगों को—मिलवालों को, विदेशी रफ्तनी करने-वालों को—यह पता है कि किसानों के पास माल रोकने की गुंजाइश नहीं है और दूसरा कोई प्रतिद्वंद्वी बाजार में नहीं है, तो स्वभावतः माल खरीदनेवाले लेने में जल्दी न करके किसानों से पाट नीची दर में ऐंठ सकेंगे। अमरीका आदि देशों में किसान बैंकों से रुपया उधार लेकर माल रोक सकते हैं; किन्तु यहां तो किसानों की कौन कहे, व्यापारियों को भी रुपए की कमी है। ऐसी हालत में किसान हर समय विदेशी रफ्तनी करनेवाले या अन्य माल की खपत करनेवाले साहूकारों की दया पर ही जीता है। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट समझ में आजायेगा कि जहां केवल पैदाइश करनेवाले और केवल खपत करनेवाले ही आपस में लेवा-बेची करते हैं, वहां कमजोर की हार और ताकतवर की जीत होती है। मौजूदा हालत में माल की पैदाइश करनेवाले कमजोर हैं, खपत करनेवाले ताकतवर एवं संगठित हैं, केवल तैयारी के बाजार में जीत खपत करनेवाले की ही होती है, किन्तु जहां किसी चीज का वायदे का सौदा शुरू होता है, बाजार में लेने और बेचनेवाले कुछ और भी नये-नये व्यक्ति आ कूदते हैं और इसलिए जिस वस्तु का वायदे का सौदा होता है, उसके दाम की घटा-बढ़ी के कारणों में प्रथम कहे गये कारणों के अलावा फाटकियों की मनोवृत्ति भी एक नया कारण बन जाती है, किन्तु इसमें भी एक सीमा होती है। कोई फाटकिया अपनी शक्ति के कारण बाज़ार को हद से ज्यादा नहीं घटा सकता, किन्तु प्रचुर धन पास में हो, तो हरएक फाटकिया किसी भी चीज का दाम बेहद ऊंचा कर सकता है। फाटकिये में असल में माल को रोकने की शक्ति तो होती है; किन्तु माल की पैदाइश फाटकिये की शक्ति के बाहर है। इसके अतिरिक्त वायदे के सौदे में रुपया उधार देनेवाले साहूकार भी पहुंच जाते हैं। जो साहूकार किसान को रुपया देने में हिचकता है, वही किसी एक प्रतिष्ठित व्यापारी को रुपया देने में नहीं हिचकता। इसका फल यह भी होता है कि लोग तैयार माल खरीदकर वायदा बाजार में ऊंचे बेचकर हेज (Hedge) कर लेते हैं और इस प्रकार रुपये का सूद उपजा लेते हैं। उपर्युक्त हेतुओं के कारण माल रोक रखने की शक्ति का, तैयारी बाजार में जो

अभाव रहता है, वह वायदा बाजार में मिट जाता है। प्रत्यक्ष देखने से भी यह पता लगता है कि जहां केवल तैयारी का काम होता है, वहां वस्तुओं की दर शक्तिमान खरीदार की मर्जी पर रहती है। वायदे के बाजार में केवल खरीदारों को ही यह सुभीता नहीं रहता; किन्तु कभी-कभी तो चीजों के दाम में अनाप-शनाप तेज़ी भी हो जाती है।

मैं समझता हूं कि अब पाठकों की समझ में भली-भांति आ जायेगा कि किस वस्तु का वायदे का बाजार वांछनीय और लाभप्रद है और किसका हानिप्रद। जिस माल की हम पैदाइश करते हैं, उसका यदि वायदे का बाजार न हो, तो नतीजा यही होगा कि भिड़ंत केवल पैदाइश करनेवाले और माल खानेवालों के बीच में रहेगी और माल के खानेवाले जोरावर और पैदाइश करनेवाले कमजोर हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। ऐसी हालत में जिस चीज की हम पैदाइश करते हैं, उसका वायदे का बाजार होना अति आवश्यक है। मैं ऊपर बता चुका हूं कि वायदे के बाजार में किस तरह 'हेज' करनेवाले पहुंच जाते हैं और किस तरह माल खपत करनेवाले की, कम दाम में वस्तु ऐंठने की नीति को विफल कर देते हैं। उदाहरण देने से बात ज्यादा सुगमता से समझ में आ जायेगी। मान लीजिए, मिलवालों को पाट या रुई लेनी है, किन्तु किसानों की कमजोरी का लाभ उठाने की नीयत से वे माल की खरीद बंद कर देते हैं। दाम गिरना चाहता है। जहां वायदे का बाजार न हो, किसान और मिलवालों के बीच का व्यापारी जबतक मिलवाला खरीद शुरू नहीं करता, किसान से माल नहीं खरीदेगा। किन्तु जहां वायदे का बाजार हो वहां 'बीच' का व्यापारी मिलवाला लेवाल न भी हो तो, किसान से खरीदकर वायदे में बेचकर 'हेज' कर लेता है और इस तरह बाजार को गिरने से रोक देता है। जब मिलवाला लेवाल हो, तब वह खरीदे हुए माल को बेचकर वायदे में वापस लेकर अपना 'हेज' सुलझा लेता है। वायदे का बाजार पैदाइश करनेवाले का किस तरह हित करता है, यह उपर्युक्त उदाहरण से भली-भांति स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह जिस माल की हम पैदाइश करते हैं, उसका वायदे का बाजार होना इस देश के लिए लाभदायक है, उसी तरह जिस चीज की हम खपत करते हैं, उसके वायदे का बाजार हमारे हित के विरुद्ध है। इस सिद्धांत से पाट और हैसियन का बाजार निर्विवाद रूप से हमारे हित में है। रुई हम आधी खाते हैं और आधी रफ्तनी करते हैं, इसलिए आंशिक हित और आंशिक अहित है। गल्ला भी रुई की श्रेणी में आता है। कपड़ा और चीनी हम बाजार से भी मंगाते हैं, इसलिए उनका वायदे का सौदा किसी भी हालत में हमारे लिए लाभप्रद नहीं है।

सारे लेख का निचोड़ यह निकला कि :

(१) फाटका किसी भी क्रिया-विशेष का नाम नहीं है; किन्तु क्रिया और क्रिया

करनेवाले की परिस्थिति, दोनों के विचार से यह निर्णय होता है कि फाटका किसे कहना चाहिए।

(२) कोरा फाटका इसलिए बुरा है कि फाटकिया देश की उत्पादक शक्ति को सीधा प्रोत्साहन नहीं देता।

(३) किन्तु कोई ऐसा राजमार्ग नहीं, जो वायदे के बाजारों को कायम रखते हुए उनमें से फाटकियों को बिलकुल निकाल दे।

(४) वायदे के बाजार चीजों का दाम प्रायः ऊंचा करते हैं।

(५) इसलिए जिन वस्तुओं की हम पैदाइश करते हैं, उनका वायदे का बाजार हमारे लिए हितकर और जिनकी हम खपत करते हैं, उनके वायदे का बाजार हमारे लिए अहितकर है।

नवम्बर, १९२८

४. सात बोध-सूत्र

कलकत्ता शहर में मैं १९०३ में आया था, पर मुझे याद नहीं, मैंने जनता में कभी इतनी बेचैनी और असंतोष देखा हो। विपक्ष को स्थिति से लाभ उठाने का दोष दिया जा सकता है, लेकिन निश्चय ही यह स्थिति उसकी पैदा की हुई नहीं है। न ईश्वर को ही दोष देना चाहिए। यह संकट मनुष्य का पैदा किया हुआ है। इसका इलाज भी मनुष्य को ही खोजना है।

हमारी अर्थ-व्यवस्था की ऐसी दुर्गति क्यों है? हमारी समस्या क्या है? बहुत सीधी बात है। उत्पादन गिरा है, जनसंख्या बढ़ी है। दोष कम उत्पादन का ही है। कोई बच्चा भी आपको बता देगा कि इसका केवल एक ही हल है और वह है अधिक उत्पादन—कृषि और औद्योगिक दोनों। सौभाग्य से, इस बात पर हम सभी सहमत हैं। आजकल राजनीतिज्ञ तक उत्पादन बढ़ाने की दुहाई देते हैं। प्रधान मंत्री ने अपने हाल के सभी भाषणों में इसकी चर्चा की है।

फिर भी, कुछ लोग, अधिकांशतः अर्थ-शास्त्री, कुछ और ही भाषा बोल रहे हैं। उन पर मुद्रा-संकोच, ब्याज की दर बढ़ाने, नोटों का चलण बन्द करने आदि का भूत सवार है।

इन अर्थ-शास्त्रियों की सारी जानकारी विदेशी है। जर्मनी, इटली और दूसरे देशों में जो-कुछ हुआ, उसे उन्होंने किताबों में पढ़ लिया है और यह नतीजा

निकाल लिया है कि एकमात्र हल ब्याज की दर को बढ़ाना और मुद्रा-संकोच करना है।

उनके पास मुद्रा-संकोच के अलावा दूसरा हल नहीं है। यह पागलपन पिछले कुछ महीनों से जारी है। इस बीच भाव ऊंचे और ऊंचे चढ़ते जा रहे हैं। मेरा यह बहुत दृढ़ अभिमत है कि अगर इन अर्थ-शास्त्रियों के सुझाए हलों को स्वीकार किया गया तो देश चौपट हो जायगा।

दूसरे विश्व-युद्ध के बाद जब जापान की सारी अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई, तब उसने "अधिक ऋण" की नीति अपनाई। उत्पादन बढ़ाने के लिए जापान सरकार ने बैंकों को निर्देश दिया कि १०० रु० की जमा पर उन्हें ११० रु० का ऋण दे देना चाहिए। जब उसने अपनी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण कर लिया और उसने देखा कि मुद्रा-स्फीति बढ़ रही है, तभी उसने अंकुश लगाये।

जब माल बहुत थोड़ा हो और उसको खरीदने के इच्छुक व्यक्तियों के पास बहुत अधिक पैसा हो तो भाव बढ़ जाते हैं। अगर माल पर्याप्त हो तो मुद्रा की अधिक सप्लाई की समस्या स्वयं सुलझ जाती है। उत्पादन में वृद्धि मुद्रा-सप्लाई में वृद्धि को संभाल लेती है। इसलिए, मैं फिर कहता हूं, इसका हल अधिक उत्पादन ही है—कृषि और औद्योगिक दोनों।

एक और भी पहलू है। हम प्रायः सुनते हैं, मुख्य जोर कृषि-उत्पादन पर होना चाहिए। विदेशी विशेषज्ञों तक ने हमें सलाह दी है, "देखो, आप कृषि-उत्पादन पर ही ध्यान दो, और आपको बस यही करना चाहिए।" लेकिन इस बात को बिलकुल भुला दिया जाता है कि कृषि-उत्पादन मूलतः औद्योगिक उत्पादन पर निर्भर है। क्यों ? यदि आप कृषि-उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं तो आप को अधिक नहरें, ट्यूबवैल और खाद चाहिए। आपको ये कहां से मिलते हैं ? यदि आपको अधिक जलाशय बनाने हैं, तो आपको सीमेंट चाहिए, आपको इस्पात चाहिए। अगर आप अधिक खाद पैदा करना चाहते हैं तो आपको अपने कारखाने खड़े करने होंगे—आप खाद विदेशों से नहीं मंगा सकते। इसके लिए आपको इंजिनियरिंग के अधिक कारखाने चाहिए, आपको अधिक इस्पात चाहिए।

उद्योग और कृषि एक-दूसरे पर निर्भर हैं। जैसे बीज और पेड़। आप पेड़ से शुरुआत नहीं कर सकते, आपको बीज से ही शुरुआत करनी होगी। अगर आप कृषि-उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं तो आपको उद्योग पर ध्यान देना होगा, बल देना होगा। वह बुनियादी चीज है।

यह केवल लाइसेंस जारी करने या दूसरी बाधा को दूर करने का प्रश्न नहीं है। यह बहुत बड़ा काम है। मेरी राय में, पहली जरूरत बेहतर प्रशासन की है।

प्रशासन सो गया है। वह पिछली बाधाओं से ग्रसित है। पिछले कुछ वर्षों में अधिकारियों से पूछा गया है कि उन्होंने बड़े घरानों को इस या उस क्षेत्र में प्रवेश करने की अनुमति क्यों दी, लाइसेंस-क्षमता से अधिक उत्पादन कैसे हुआ? परिणाम यह है कि अधिकारी 'नियमानुसार' काम कर रहे हैं। वे हड़ताल पर नहीं हैं, लेकिन वे काम भी नहीं कर रहे। एक बहुत उच्च अधिकारी ने मुझसे कहा, "देखिए महोदय, कोई जटिल समस्या हो और हमारे सामने फाइल हो और हमें उस पर निर्णय करना हो तो हम फाइल को नीचे अंडर सेक्रेटरी के पास भेज देते हैं कि वह नोट पेश करे। इसमें पांच-छह महीने लग जाते हैं। दुर्भाग्य से फाइल फिर लौट आती है—अब हमें निर्णय करना होता है। तब हम फाइल को ऊपर भेज देते हैं और मंत्री को स्वयं ही निर्णय करने देते हैं। हम निर्णय क्यों लें, जबकि हो सकता है, कि २० वर्ष बाद जांच बैठाई जाय कि ऐसा कैसे हुआ?"

इसके विपरीत, पुराने दिनों में कैसे काम होता था। मैंने 'हिन्दालको' (हिन्दुस्तान अल्युमीनियम कारपोरेशन) को १८ महीनों में खड़ा कर दिया। वह बहुत बड़ा कारखाना है, और उसके लिए मैंने निवेदन नहीं किया था। एक दिन सुबह तत्कालीन वित्तमंत्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने मुझसे संपर्क किया। उन्होंने कहा, "देखो जी० डी०, हमें और एल्युमीनियम चाहिए, तुम रिहंद, मिर्जापुर में कारखाना लगाओ।" मैंने कहा, "कृष्णमाचारीजी, यह बहुत बड़ी परियोजना है और इसे हाथ में लेते मुझे डर लगता है।" उन्होंने कहा, "नहीं, इसे तुम्हीं हाथ में लो। मैं एक परियोजना दक्षिण को देना चाहता हूं और एक तुमको।" मैं पंडितजी के पास गया और उनसे कहा, "श्रीमान्, मुझसे ऐसा करने को कहा गया है, आपका क्या निर्देश है?" उन्होंने उत्तर दिया, "जरूर काम शुरू कीजिए।" तब मैंने पूछा, "लाइसेंस का क्या होगा?" उन्होंने कहा, "लाइसेंस की चिन्ता क्यों करते हो? लाइसेंस मिल जायगा। तुम काम शुरू करो।"

उन दिनों इस प्रकार काम हुआ करते थे।

इसलिए, मैं कहता हूं, पहली बात प्रशासन को सुधारने की है। इस बाधा को दूर कीजिए, अधिकारियों को निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहन दीजिए। उन्हें बहुत निश्चित रूप से बता देना चाहिए कि यह उनकी जिम्मेदारी है। इस समय यदि कोई समस्या होती है तो फाइल संबंधित मंत्री को पास करनी होती है। ऐसा होने पर उसे घुमाया जाता है—कम्पनी ला विभाग, वित्त विभाग और उद्योग विभाग के पास। नोट लिखे जाते हैं और हर मंत्री को हस्ताक्षर करने होते हैं। जब सब मंत्रियों के हस्ताक्षर हो लेते हैं तो फाइल वहीं लौट आती है, जहां से वह शुरू हुई थी। इसके बाद सेक्रेटरी नोट लिखता है और सभी संबंधित मंत्रियों

के पास उसे घुमाता है। फिर, फाइल सेक्रेटरी के पास वापस पहुंचती है, जो उसे मंत्रिमंडल के पास भेज देता है। इस तरह काम हो सकता है ?

एक घरेलू उदाहरण लीजिए। आप दस आदमियों को खाने पर बुलाते हैं। आप पत्नी से कहते हैं, दस आदमियों का खाना बनना है। तब वह नोट लिखने शुरू कर देती है और उन्हें आपके, आपकी मां के और आपकी बहन के पास भेजती है। वे नोट वापस आते हैं, तब वह और नोट लिखती है। उनके पूरे होने तक अतिथि आ पहुंचते हैं, पर घर में खाना नहीं होता।

दिल्ली में इसी तरह की बातें हो रही हैं। यह अत्यंत हास्यास्पद है। अगर कोई समस्या है तो ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि सभी मंत्री साथ बैठें, निर्णय लें और उसे पास कर दें ? 'ना' कहो या 'हां', आप 'ना' नहीं कहते और आप 'हां' नहीं कहते, तो किया क्या जाय ?

अब लाइसेंस-प्रणाली पर विचार कीजिए। सीमेंट बनाने के लिए ढेरों लाइसेंस जारी किये गए हैं। क्या कोई कारखाना चालू हुआ है ? क्या सीमेंट का उत्पादन बढ़ा है ? लाइसेंस व्यवसायियों के पास पड़े सड़ रहे हैं, क्योंकि उत्पादन शुरू करने से पहले अन्य बहुत-सी खानापूरी जरूरी होती है। लाइसेंस ही काफी नहीं है।

मैं तीसरे और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न—मूल्य-नीति—पर आता हूं। यह नीति ऐसी है, जिस पर आप तभी चल सकते हैं जब कोई कारखाना स्थापित करना नहीं चाहें। सीमेंट का उदाहरण लीजिए। सीमेंट चोरबाजार में बिकता है, पर सीमेंट का कंट्रोल भाव है। यदि कोई सीमेंट का निर्माता हो तो उसे कंट्रोल भाव पर बेचना होगा। किसे ? ऐसे व्यक्ति को, जो उसे चोरबाजार में बेचना चाहता है। वह सीमेंट अंततः उपभोक्ता के पास बहुत ऊंचे भाव पर पहुंचता है। असली भाव का लाभ न तो उद्योग को मिलता है और न उपभोक्ता को। कोई दूसरा ही पैसे से जेब भर लेता है। सरकार कहती है, वह चोरबाजारी की कट्टर विरोधी है, लेकिन इस चोरबाजार को पैदा कौन कर रहा है ? सरकार, जिसने अपनी मूल्य-नीति से कम-से-कम तीन उद्योगों को चौपट कर दिया है—सीमेंट, मोटर कार और एल्युमीनियम।

अब अल्युमीनियम की ही बात लीजिए। उसे हम ४,००० रुपए प्रति टन बेच रहे हैं। आज का बाजार-भाव—खुला बाजार-भाव १०,००० रुपए प्रति टन है। सरकार को आय-कर और उत्पादन-शुल्क का घाटा हो रहा है, उद्योग को लाभ का घाटा हो रहा है और उपभोक्ता को ऊंचा भाव देना पड़ता है। जबतक इस मूल्य-नीति में संशोधन नहीं किया जाता, तबतक कोई आशा नहीं। श्रीसुब्रह्मण्यम ने कहा बताते हैं कि वह मूल्य-नीति में इस प्रकार से संशोधन करेंगे, जिससे उद्योगों को लाभ हो। बहुत बढ़िया। लेकिन शब्दों से आशा ही पैदा हो

सकती है। शब्द मुनाफा नहीं पैदा करते। मैं पिछले तीन महीनों से सुन रहा हूं कि सीमेंट का भाव बढ़ाया जा रहा है। पर वह नहीं बढ़ाया गया। रोज कहा जाता है कि फाइल टैरिफ कमीशन से वापस आ गई है और सरकार निर्णय लेने वाली है। मैं पूछ सकता हूं—कब ? १९७५ में ? १९७६ में ? १९७७ में ?

इस बीच, मैसूर सीमेंट उद्योग का विस्तार करने के लिए हमें लाइसेंस दिया गया। पर हमें रुपए की जरूरत थी। आप इस मूल्य-नियंत्रण से रुपया नहीं इकट्ठा कर सकते। इसलिए हमने वित्तीय संस्थाओं से मांग की, पर उनका क्या कहना है ? "देखिए, हमने सरकार से कह दिया है कि हम किसी सीमेंट कारखाने के लिए रुपया नहीं देंगे, क्योंकि इस भाव पर हमारा रुपया वहुरने की जरा भी संभावना नहीं है।"

एक सरकारी विभाग कहता है—हम रुपया नही देंगे, दूसरा कहता है—काम आगे बढ़ाओ और विस्तार करो। कैसे विस्तार करें ? आप घी और चीनी के विना हलवा नहीं वना सकते। रुपया है नहीं और रुपया पैदा हो भी नहीं रहा, क्योंकि सीमेंट के वर्तमान भाव पर कोई निर्माता मुनाफा नहीं कमा सकता।

मुझे वताया गया है कि आज ७५ प्रतिशत सीमेंट कारखानों में घाटा हो रहा है। क्या कोई घाटे का सौदा करेगा ? सरकार कर सकती है, क्योंकि उसे केवल नोट छापने होते हैं। जब उसे घाटा नहीं होता तो वह कहती है, "यह आश्चर्यजनक वर्ष है, हमें घाटा नहीं हो रहा," मानो उसने कोई बड़ा तीर मारा हो।

आप सीमेंट-निर्माताओं से कहते हैं—विस्तार करो, उत्पादन करो, और घाटा उठाओ, पर इसके लिए वे रुपया कहां से लायंगे ? मुद्दा यही है। मुझे इस मूल्य-नीति में कोई तर्क नहीं दिखाई देता, क्योंकि सरकार को राजस्व का घाटा हो रहा है, उत्पादक को मूल्य के लाभ का घाटा हो रहा है और उपभोक्ता को भी कोई लाभ नहीं मिल रहा। जितनी जल्दी यह नीति समाप्त कर दी जाय उतना ही सभी संवंधित पक्षों के लिए श्रेयस्कर है।

चौथी बड़ी बाधा विजली की है। यह एक अत्यंत भीषण समस्या है। हर राज्य में बिजली की स्थायी कमी है। मैंने हिसाब लगाया है कि एक बार यदि किसी कारखाने की बिजली में ५० प्रतिशत कटौती कर दी जाय तो उसे भारी घाटा होने लगता। मार्च में सामान्य से करीब २५-३० प्रतिशत कम बिजली मिली। अप्रैल में सामान्य से ४० प्रतिशत कम पर काम करना पड़ा। यदि कटौती ५० प्रतिशत से भी अधिक हो गई तो ईश्वर ही मालिक है। तब तो घाटा उठाना ही होगा। कुछ लोग एक महीने तक घाटा उठा सकते हैं, कुछ दो या तीन महीने तक और अंत में आपको अपनी दूकान बन्द करनी होगी। मैं ऐसे किसी व्यवसायी को नहीं जानता, जो निरंतर घाटा उठाते रहने को तैयार हो।

मैं व्यवसायियों, देश और सरकार को चेतावनी दे रहा हूं कि यह बिजली की कमी हमारे सामने सबसे गम्भीर समस्या है। रोज सुबह जब आप अखबार खोलते हैं तो आपको पढ़ने को मिलता है, दिल्ली में इतनी बिजली कम हो गई, इस प्रान्त में इतनी कटौती कर दी, आदि-आदि।

मुझे भयंकर बेरोजगारी की भी शंका है। किन्तु यह ऐसी समस्या नहीं, जिसे हल न किया जा सके, क्योंकि वास्तविक दोष ट्रांसमिशन में क्षति और बुरे रख-रखाव का है। हम 'हिन्दालको' के लिए एक बड़ा बिजली-घर चला रहे हैं और वहां उत्पादन करीब ९२ प्रतिशत है। टाटा एक बड़ा बिजली-घर चला रहे हैं, जहां उत्पादन करीब ९१ प्रतिशत है। इसके विपरीत सभी राज्यों में बिजली बोर्ड के बिजली-घरों में उत्पादन ५० प्रतिशत से अधिक नहीं है। समस्या क्या है? निस्सन्देह बुरे रख-रखाव की है, लेकिन ट्रांसमिशन में क्षति की भी है। विशेषज्ञों की सलाह क्यों नहीं लेते कि कैसे उत्पादन बढ़ा सकते हैं? सरकार ने तब अवश्य बहुत बुद्धिमानी दिखाई जब उसने निश्चय किया कि यह गेहूं का व्यापार उससे ज्यादा नहीं खिंचेगा। उसने व्यापारियों से कहा, "बाबा, तुम इसे संभालो और हमारा सिर-दर्द दूर करो।" मैं नहीं जानता कि व्यापारी इसे कैसे निभायंगे, लेकिन एक बात का मुझे विश्वास है—देश भूखों नहीं मरेगा। लोगों को अधिक भाव देना पड़ सकता है, लेकिन उन्हें गेहूं मिलता रहेगा। अगर सरकार उनसे परामर्श करे, जो बिजली के बारे में ज्ञान रखते हैं, तो यहां भी हल निकल सकता है। यह इतना कठिन काम नहीं है।

पंत जी, जो बिजली विभाग के मंत्री हैं, हमें बड़े आराम के साथ बताते हैं कि बिजली की स्थिति अगले दो वर्षों तक बुरी बनी रहेगी। मैं पूछता हूं, फिर आप यहां किसलिए हैं? अगर दो वर्ष तक हमें कष्ट ही उठाने हैं तो मंत्री की जरूरत क्या है? क्यों न हम बिना मंत्री के ही कष्ट उठायें? लेकिन स्थिति उतनी बुरी नहीं है। उसमें सुधार हो सकता है। मैं बिना अनुभव के यह बात नहीं कह रहा, क्योंकि मुझे बिजली-घरों के बारे में जानकारी है। मैं कहता हूँ, हम बिजली की स्थिति में सुधार कर सकते हैं। लेकिन यह कोई विवाद की बात नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि दिल्ली में विचारधारा बदल रही है—हमसे 'हिन्दालको' के लिए अपना निजी 'कैप्टिव' बिजली-घर बनाने को कहा गया है। हमने कब मांग की थी? तीन वर्ष पहले। हम बिजली चाहते हैं और उन्होंने बस इतना ही कहा, "हां।" लेकिन फाइल चल रही है और चलती जा रही है और हो कुछ नहीं रहा।

अगर बिजली की स्थिति इतनी बुरी है तो आप व्यवसायियों को अपने निजी 'कैप्टिव' बिजली-घर बनाने की अनुमति क्यों नहीं देते? वे उन्हें विदेशों से मंगावें, पुरानी मशीनें लावें या नई, यह बात उन पर छोड़ दीजिए। उद्योगों का और देश का जीवन है बिजली।

पांचवीं समस्या मजदूर स्थिति की है। रोज आप अखबारों में हड़तालों की धमकियों के बारे में पढ़ते हैं और सरकार इस स्थिति का कैसे सामना कर रही है—बहुत भद्दे ढंग से। इस समस्या को सुलझाने वाले अकेले एयर मार्शल पी० सी० लाल हैं, जिनके प्रति मेरे मन में भारी आदर है। वह जमकर बैठ गए और अब सभी विमान समय से चल रहे हैं। यह कुछ बात हुई।

हमारी प्रधान मंत्री ने अपने एक भाषण में कहा था कि कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे हड़ताल या तालाबंदी न हो। मैं इससे पूरी तरह सहमत हूं। मेरे विचार से, हमारे मुख्य मंत्री श्री सिद्धार्थशंकर राय ने बहुत समझदारी की बात कही थी जब उन्होंने घोषणा की कि हड़तालों और तालाबंदियों पर रोक होनी चाहिए। लेकिन हुआ कुछ भी नहीं। 'फेडरेशन' ने भी कहा कि एक विराम-संधि होनी चाहिए। लेकिन सुने कौन ? एक कानून होना चाहिए, जिससे हड़तालों और तालाबंदियों पर रोक लगे। कानपुर में बिजली की कमी के कारण बहुत-से लोगों की कामबंदी कर दी गई है। अगर हम इस मजदूर-समस्या को गंभीरता से नहीं सुलझायंगे तो हमारी सारी गाड़ी ही उलट जायगी।

एक अन्य समस्या परिवहन की है। मैं नहीं जानता कि क्या गलती है ! लेकिन बात फिर अकुशलता की आती है। इन सभी समस्याओं को सुलझाने के लिए अन्ततः आपके पास एक अच्छा प्रशासन होना चाहिए। मान लीजिए, आपके पास एक मिल है और आप अपने चपरासी से कहते हैं, "इसे चलाओ।" क्या वह चला पायगा ? आपको किसी अच्छे आदमी को उसका भार सौंपना होगा। इसलिए, अच्छा प्रशासन सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, क्योंकि अन्ततः सबकुछ उसी पर निर्भर है। हमारे अधिकारी प्रथम श्रेणी के व्यक्ति हैं, मुझे इसमें संदेह नहीं है। पर हमारे यहां नियमों की भरमार है। जरा-से बहाने पर एक नया नियम बन जाता है। विधिमंत्री से पूछिए, यह नियम क्या है ? उन्हें नहीं मालूम। उन्होंने स्वयं नियम बनाया है, लेकिन नहीं जानते कि नियम क्या है ?

हम सभी नियमों से बुरी तरह से जकड़े हुए हैं। अपने निजी अनुभव से मैं कह सकता हूं कि ९० प्रतिशत समय सरकार को पत्र लिखने में निकल जाता है। श्री जे० आर० डी० टाटा भी यही बात कहते हैं। एक बार उन्होंने कहा था, "मेरा सारा समय भारत सरकार को पत्र लिखने में लगता है।"

मैं समस्याओं को फिर से एक-एक कर गिनाऊंगा। सबसे पहले, ऐसे वातावरण की आवश्यकता है जिसमें अधिकारियों को निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहन मिले, लाइसेंस-व्यवस्था, बुरी मूल्य-नीति, बिजली, मजदूर-संबंध, परिवहन और नियमों की भरमार।

मैं प्राय: अपने से प्रश्न करता हूं, "क्या हम सब उत्पादन बढ़ाने के बारे में जरा भी गंभीर हैं ? क्या हम समस्या के साथ खिलवाड़ नहीं कर रहे ?" मैं नहीं

जानता, लेकिन मैं इतना जानता हूं कि अब केन्द्र की भी विचारधारा बदल रही है। सरकार अधिक उत्पादन चाहती है, लेकिन नहीं जानती कि कैसे करे, और यही समय है जब व्यवसायियों को सरकार की सहायता करनी चाहिए। इसके लाभ देखिए। हमारे पास फालतू जनशक्ति है, अनदुहे साधन हैं, बेकार पड़ी मशीनें हैं। हम उनका उपयोग क्यों न करें? हमारे पास आटा, चीनी, घी है। आप उनसे हलवा क्यों नहीं बना सकते? पर हम हलवा नहीं बनाते, हम बस अपने को भूखा मार रहे हैं।

मेरा उन लोगों से, जो उत्पादन के प्रश्न से संबंधित हैं, अत्यंत विनम्र निवेदन है कि वे इस पर बहुत गंभीरता से विचार करें।

निर्जन सड़क पर एक मूर्ख भी कार चला सकता है। इसके लिए कार चलाने के लाइसेंस की भी जरूरत नहीं, लेकिन जब सड़कों पर भारी भीड़ हो तो गाड़ी को संभालने और भीड़ में से निकालने के लिए एक होशियार ड्राइवर चाहिए। यह समय है चुनौती का। व्यवसायियों के पास बुद्धि है, मैं जानता हूं। उनमें संकल्प भी है। समय हमेशा बदलता है और यह समय भी बदलेगा। हर काली रात के बाद प्रभात आता है। मैं नई दिल्ली में उसके लक्षण देख भी रहा हूं। इसलिए, साहस से काम लीजिए और हिम्मत न हारिए। इस समय यही देश-सेवा है।

देश-विदेश में

१. स्टीमर में

हमारा स्टीमर कब चला और कब अदन पहुंचा, ये सब बातें करना समय नष्ट करना है। बहुत-से यात्रियों ने अपने भ्रमण के वृत्तान्तों में भिन्न-भिन्न स्थानों का, वहां के मकानों का और रीति-रस्मों का काफी वर्णन कर दिया है, इसलिए मैं अपने भ्रमण-वृत्तान्त में उन बातों को बराबर बचाता जाऊंगा, जो कि अन्य लोगों द्वारा पहले बतायी जा चुकी हैं। अदन पहुंचने तक कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। समुद्र-यात्रा में सबको कब्ज रहता है, यह प्रथम ही अनुभव था; फिर भी अंग्रेज लोग तो प्रायः पांच बार खाते हैं। हम लोगों को तो दो बार खाना भी अच्छा नहीं लगता था। निरामिषाहारी हिन्दुओं को अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा खान-पान के मामले में अधिक कष्ट रहता है। मांसाहारी तो अंडे आदि खाकर निर्वाह कर लेते हैं, किन्तु हम लोगों की खूराक ठहरी दूध और घी। घी तो साथ में है, किन्तु दूध का नितान्त अभाव है। बोटवाले डिब्बे का दूध देते हैं। यह स्वाद में तो दूध-सा ही होता है, किन्तु तत्त्व में काफी भिन्नता है। पकाने के लिए एक हिन्दुओं का और एक मुसलमानों का ऐसे दो अलग-अलग स्थान बना रक्खे हैं। किन्तु पकाने के स्थान में गरमी इतनी अधिक पड़ती है कि पकानेवाले को अत्यन्त कष्ट होता है। जो ऐसे हिन्दू हों, जिन्हें छुआछूत का विचार न रहता हो, किन्तु शुद्ध निरामिषभोजी ही रहना चाहते हों, उनको भी कष्ट है, क्योंकि जहाज में बना हुआ कोई भी ऐसा भोजन नहीं है, जो निरामिष होने के साथ ही पौष्टिक भी हो। हिन्दुओं की आवागमन की वृद्धि हो, इस हेतु भोजन की समस्या को हल करना आवश्यक है। किन्तु इसमें भी कठिनाइयां हैं। यात्रियों में अधिक लोग तो ऐसे ही होते हैं, जो कष्ट पाने पर अंग्रेजी भोजन को अपना लेते हैं। जो निरामिष-भोजी हैं, वे भी जहाज की रोटी, मक्खन और मुरब्बे से निर्वाह कर लेते हैं।

बहुत-से लोग प्रांत-सम्बन्धी विभिन्नता के कारण भोजन में भी विभिन्नता रखते हैं। किसी को भात चाहिए, किसी को फुलके, किसी को रोटी, तो किसी को पराठे। ऐसी हालत में सबके लिए भोजन की एक विधि निश्चित करना बहुत मुश्किल काम है। ऐसे खानेवाले भी एक जहाज में पन्द्रह-बीस से अधिक नहीं होते। साधारण लोग अपना रसोइया ले जायें, यह तो साध्य नहीं है। इसलिए आम लोगों को सुभीता तभी हो सकता है जब दो पकानेवाले ब्राह्मण जहाज पर बराबर रहें और पूरी, रोटी, दाल, भात इत्यादि नित्यप्रति शुद्ध निरामिषाहारियों के लिए बना दें। जहाज में पांच-सात गायों का भी रहना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर आम लोगों को सुभीता हो सकता है।

भोजन के कष्ट के अलावा यहां और कष्ट नहीं है। जहाज की सफाई-सुघड़ाई, सोने-बैठने की व्यवस्था प्रशंसनीय है। हां, काले-गोरे का भेद तो यहां भी है। भारतवासियों के साथ यद्यपि व्यवहार में कोई त्रुटि नहीं है तथापि जैसी नम्रता जहाज के नौकर अंग्रेजों के प्रति दिखाते हैं, वैसी हिन्दुस्तानियों के प्रति नहीं। हम लोग भी अपनी इज्जत का खयाल नहीं रखते। कपड़े पहनने, सफाई में लापरवाही इत्यादि बातों से हमें भी बचना चाहिए। यह भी चाहिए कि हम लोग अंग्रेजों के दोषों को न सीखें—चाय, कॉफी, शराब आदि मौके-बेमौके पीना, ताश-शतरंज खेलना, पांच दफे खाना, देर से सोना, देर से उठना आदि अंग्रेजों के दुर्गुणों से बचना चाहिए। भारतवासी अधिक-से-अधिक तीन बार से ज्यादा भोजन न करें, सो भी मात्रा में कम। समय से उठें और ठीक समय से सो जायें, अधिक समय पढ़ने-लिखने में और जहाज़ पर टहलने में लगावें और नयी-नयी बातों का अन्वेषण करें, यह वांछनीय है।

जहाज में विश्राम और शुद्ध वायु की खासी बहुतायत है और इसलिए स्वास्थ्य के लिए हितकर है। अलबत्ता कब्ज की शिकायत रहती है। आज हम लोग लालसागर में चल रहे हैं। लालसागर बहुत चौड़ा नहीं है—कभी-कभी किनारे भी दिखायी देते हैं, किन्तु समुद्र के भीतर बहुत-सी चट्टानें स्टीमर के दोनों ओर दिखायी देती हैं। बड़े-बड़े पहाड़ भी हैं, किन्तु सूखे पहाड़ों में न कोई जानवर, न पक्षी। न खाने का कोई सामान, न पीने का। इसलिए सब-के-सब पहाड़ वीरान हालत में हैं। इस समुद्र का नाम लालसागर क्यों पड़ा, इसका पता कोई नहीं बता सकता। समुद्र देखने में वैसा ही है, जैसे और समुद्र। रंग बिलकुल नीला है और जल बिलकुल स्वच्छ।

जहाज पर बहुत-से परिचित यात्री हैं। कल एक पार्लमेण्ट के मेम्बर से, जो बड़ा धनिक व्यापारी है, जान-पहचान हुई। हिन्दुस्तान से लौटकर आ रहा था। भारतवर्ष वहां की स्थिति देखने गया था। बड़े स्वार्थी और पिछड़े विचार

वाला आदमी था। मुझसे कहने लगा, तुमने असेम्बली में एक शिलिंग चार पेंस के पक्ष में क्यों आन्दोलन किया ? मैंने उसको बताना शुरू किया। पर बीच में ही वह कहने लगा, सरकार ने जो कुछ किया, अच्छा किया, किन्तु मैं पूरा इतिहास नहीं जानता। मैंने कहा कि हमारा दुर्भाग्य है कि तुम अनभिज्ञ भी हो और हमसे बहस भी करना चाहते हो। मैंने उससे कहा कि मैं आपसे कुछ सवाल करता हूं, आप उनका उत्तर दीजिए। मैंने पूछा, क्या आप कोई ऐसा देश बता सकते हैं, जहां रुपये का निर्धारित मूल्य इस तरह बढ़ा दिया गया हो ? उसने कहा कि एक शिलिंग चार पेंस निर्धारित मूल्य नहीं था। मैंने कहा, यह आपका अज्ञान है, जो आप ऐसा समझते हैं। उसने कहा कि जब विनियम की दर एक शिलिंग छह पेंस थी तो फिर एक शिलिंग चार पेंस क्यों की जा सकती थी ? मैंने पूछा, क्या विलायत में डालर-स्टर्लिंग एक्सचेन्ज जब नीची हो गयी थी तब किसी ने नीची दर बांधने के पक्ष में राय दी थी ? मैंने फिर पूछा, क्या आपको पता है कि एक शिलिंग छह पेंस कैसे बनायी गयी ? भारत-मंत्री और भारत-सरकार में कैसे-कैसे तार आपस में भुगते ? उसने कहा कि मैं कुछ नहीं जानता ? मैंने फिर पूछा, क्या आपको पता है कि शिलिंग छह पेंस को टिकाने में कितना सोना बेच डाला गया है ? उसने कहा कि मैं इन बातों को नहीं जानता। उसने बात को टालकर राज-नीति पर बहस करना शुरू किया। उसने कहा, हम भारतवर्ष से काफी परेशान हो चुके हैं। मैं जाकर विलायत में सरकार को सलाह देनेवाला हूं कि चार साल के भीतर हिन्दुस्तान को खाली कर दो और फिर हिन्दू-मुसलमानों को आपस में झगड़ने दो। मैंने कहा कि आपके विचार बड़े विचित्र मालूम होते हैं। मुझे तो अंग्रेज ऐसे मूर्ख नहीं मालूम होते कि भारतवर्ष को इतना जल्दी खाली कर दें। उसने कहा कि हम अवश्य खाली कर देंगे और एक भी अंग्रेज सिपाही भारतवर्ष में नहीं रहने देंगे, क्योंकि अंग्रेज सिपाही हिन्दुस्तानियों के पास रहना पसन्द नहीं करते। मैंने उससे कहा कि मुझसे जान लीजिए, मेरे यहां दस अंग्रेज काम करते हैं और यदि मैं चाहूं तो एक सौ सत्तर और रहने को तैयार हैं। उसने पूछा कि अगर हम हिन्दुस्तान छोड़ दें तो हिन्दू-मुस्लिम दंगों का क्या हाल होगा ? मैंने कहा, दंगे भी तो आप ही कराते हैं। आपके जाने के बाद कोई दंगा भी नहीं होगा। मैंने फिर कहा, देशी रियासतों में दंगे क्यों नहीं होते ? उसने कहा, देशी रियासतें या तो हिन्दू राज है या मुस्लिम राज, इसलिए दंगे नहीं होते। मैंने कहा, अच्छी बात है। हम भी तुम्हारे जाने के बाद पंजाब और बंगाल में मुस्लिम राज और बाकी भारतवर्ष में हिन्दू राज स्थापित कर देंगे। उसने कहा, तुमने बड़ी अक्लमन्दी की बात कही। बहुत देर तक बातें होती रहीं। आदमी धनी है और प्रभावशाली भी मालूम होता है। मुझे यह दिखाना चाहता था कि अंग्रेज भारत-वर्ष में हमारी भलाई के लिए ही रहते हैं।

जयपुर के पुराने रेजिडेन्ट कर्नल् बेन भी इसी स्टीमर पर हैं। उनसे भी बहुत देर तक बातें हुई। महाराजा डूंगरपुर भी इसी स्टीमर में जा रहे हैं।

मई, १९२७

२. हम पराधीन क्यों हैं?

जब से जहाज पर पांव रखा है तभी से मैं इस बात का मनन कर रहा हूं कि हम इतने गिरे हुए, पिछड़े हुए, पतित और परतन्त्र क्यों हैं, और यूरोपीय लोग बढ़े-चढ़े, सुखी, सहृदय और स्वतन्त्र क्यों हैं? हालांकि पन्द्रह साल से मैं अंग्रेजों के सहवास में हूं, पर सिवाय मेरे जानकार लोगों के व्यक्तिगत गुण-दोषों के उनमें सार्वजनिक गुण-दोष क्या हैं, इनका मुझे विशेष ज्ञान अबतक नहीं है। इसका यह भी कारण है कि भारत में हमारे शासकगण अपने ऐबों को तो अत्यन्त सावधानी से छिपाते ही रहते हैं; किन्तु अपने अच्छे गुणों को भी इसलिए छिपाते हैं कि जिसमें हम उनकी नकल करना न सीख लें। उदाहरणार्थ, प्रत्येक आयरिश भारत में अपनी देशभक्ति को इसलिए छिपाता है कि हम उसकी देखा-देखी देशभक्ति करना न सीख लें। कलकत्ते में अंग्रेज लोग व्यापार में जिस प्रकार अपने इष्ट-मित्रों को सहायता देते हैं, उसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है। अंग्रेज लोग उसे छिपाकार हमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" का पाठ इसलिए पढ़ाते रहते हैं कि जिसमें हम उनकी नकल न करें और अपने इष्ट-मित्रों को ही अधिक सहायता देना अपना कर्त्तव्य न समझें। इन गुण-दोषों को छिपाने के लिए ही अंग्रेजों ने भारत में अपने जुदा क्लब, आरामघर इत्यादि बना रखे हैं। किन्तु जहाज पर पांव रखते ही यह 'गोपनीयं गोपनीयम्' की दीवार टूटने लगती है, और लन्दन पहुंचते तो पर्दाफ़ाश होकर अंग्रेजी रहन-सहन, जीवन, आचार-विचार इतना स्पष्ट दीखने लगता है कि यदि तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन किया जाये तो हममें क्या कमी-बेशी है, इन सब बातों का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हां, इसमें विवेक की तो आवश्यकता है ही। सम्भव है, जिसे मैं गुण समझूं उसे दूसरे लोग दुर्गुण समझें। अछूतपन को जहां गांधीजी पाप समझते हैं, पुराने विचार के कट्टर लोग उसे ही हिन्दू-धर्म का आभूषण मानते हैं! अतः पाठक भी अपनी विवेक-बुद्धि से निरीक्षण-विवेचन करते जायें। आख़िर मैंने सबकुछ अपनी मनोवृत्ति के अनुसार ही तो देखा है। हां, जान-बूझकर अपनी ओर से रंग नहीं चढ़ाया है।

जहाज़ में मैंने अंग्रेज महिलाओं को नंगे सिर देखा। मुझे यह तो पता था कि वाल काटने का फैशन अंग्रेज औरतों में भी आ गया है; किन्तु सभी देवियों ने अपने सिर का वोझ हलका कर लिया है, इसका मुझे पहले-पहल जहाज में परिचय हुआ। न जाने क्यों औरतों के मरदाने वाल और उनको स्वतन्त्रता से धूम्रपान करते देख मेरे चित्त को चोट लगी। यह चोट और भी दुःख देने लगी, जब मैंने कुछ भारतीय देवियों को भी कटे वाल और धुएं से आच्छादित पाया। दिन-भर शरावख़ोरी, पांच-पांच वार का भोजन, रात में नाच-रंग, पानी की जगह शराव, देर से सोना, देर से जागना, ताश खेलना और ऐशो-इशरत में डूबे हुए अंग्रेज़ स्त्री-पुरुषों को देखकर बार-बार मेरे चित्त में यही संकल्प-विकल्प होने लगे कि इस जाति का शीघ्र ही नाश होने वाला है। इनमें कौन-से गुण हैं, जिन्होंने इन्हें संसार का स्वामी बनाया? 'यतो धर्मस्ततो जयः' के चमत्कार का मैं श्रद्धालु हूं, किन्तु यहां तो जय होते हुए भी धर्म नहीं है, ऐसा मुझे विश्वास होने लगा। बार-बार मुझे यह विचार आने लगा कि या तो मैं जो देख रहा हूं वह सत्य नहीं है, या 'यतो धर्मस्ततो जयः' सत्य नहीं है, या हम दुःखी और ये सुखी नहीं, अथवा इनका पाप, पाप नहीं और हमारा धर्म, धर्म नहीं।

मैं स्टीमर पर रोज रात-दिन इसी उधेड़-बुन में लगा रहता था। महात्माजी को भी मैंने अपने संकल्प-विकल्प लिखे, अन्य मित्रों को भी लिखे। मैं हठात् इस निर्णय पर पहुंच सकता था कि यह जाति तो मर्त्यलोक में नरक ला रही है। शीघ्र ही पृथ्वी इनके पापों के बोझ से दबकर देवताओं-सहित किसी कन्दरा में जा छिपेगी और वहां आकाशवाणी द्वारा श्री विष्णु भगवान् पृथ्वी-सहित ऋषि-मुनि और देवताओं को आश्वासन देने जायेंगे कि "हे पृथ्वी! चिन्ता न कर, मैं शीघ्र ही काशी नगरी में अमुक ब्राह्मण के घर जन्म धारण करके तेरे भार को हलका करूंगा। जा, तेरा कल्याण हो! और हे देवताओ, तुम भी काशीपुरी में जाकर नाना रूप-देह धारण करो और मेरे सहवास में रहकर धर्मस्थापन करने में सहायक बनकर कल्याण को प्राप्त होओ।" किन्तु मैं इस निर्णय पर कैसे पहुंचता? जर्मन-युद्ध में इन्हीं शिखा-विहीन महिलाओं ने अपने ऐहिक सुखों को लात मारकर किस शौर्य और अदम्य उत्साह के साथ अपने देशी सैनिकों की सेवा करके उन्हें सुख पहुंचाया था, इस घटना को क्या कोई भूल सकता है? इतना ऐशो-आराम होते हुए भी आंग्ल-जाति मौक़ा पड़ने पर देश और जाति की मर्यादा के लिए किस प्रकार अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकती है, इससे मैं भली-भांति परिचित था। अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए अमीर-गरीब सब किस प्रकार मर-मिटने को तैयार हैं, इसका मुझे पूरा ज्ञान था। जहां भोग की लालसा और विषय-सुख की तृष्णा की इनमें अधिकता थी, वहां शौर्य, उत्साह, धैर्य, सचाई हम लोगों से कहीं अधिक इनमें देखने में आयी। इसके विपरीत हम तो आज पूरे कायर बन गये हैं। बलवान की

चापलूसी करते हैं, गरीब पर जुल्म करते हैं। अपनी स्त्रियों की रक्षा और देश, जाति-धर्म के प्रति अत्याचारों का सामना करने की असमर्थता को हम 'क्षमा' का सुंदर नाम देकर फूले नहीं समाते। अपनी अकर्मण्यता एवं आलस्य का परिचय 'जो प्रभु कीन्हों सो भला कर मान्यो, यह सुमति साधु से पाई' नानकजी का यह सुंदर पद गाकर देते हैं। जब अपनी कायरता को ढकना चाहते हैं तो 'नहिं कोई बैरी नहिं बेगाना, सकल संग हमरी बन आई' यह कहकर संसार को धोखा देते हैं। हमारा अपरिग्रह 'वृद्धा नारी पतिव्रता' की तरह रह गया है। इस हालत में मैं कैसे निर्णय कर लेता कि हम धर्म की वृद्धि कर रहे हैं और श्वेतांग लोग पाप की?

परन्तु ये तो मेरी जिज्ञासा की शान्ति की बातें नहीं हुईं। इस प्रश्न को मैं जहाज से उतरने के बाद भी रटता रहा कि हम क्यों गिर गये हैं, ये क्यों चढ़ गये हैं? हमारी गीता के होते हुए, हम ऋषि-मुनियों की सन्तान होते हुए, हम आर्य हिन्दू होते हुए, हम राम-कृष्ण के उपासक होते हुए, परतन्त्र क्यों हैं, दरिद्र क्यों हैं; और ये स्वतंत्र क्यों हैं, सुखी क्यों हैं? जब मैं इसी उधेड़-बुन में लगा हुआ था, मेरे एक परम सम्मानित बुजुर्ग नेता ने मुझे पत्र लिखा। पत्र बहुत लम्बा था; किन्तु सारांश यह था कि "भारत के धर्म ने भारत का सत्यानाश कर दिया; फलस्वरूप आज हमारे पांवों में परतन्त्रता की बेड़ियां पड़ी हैं, लोग दुःखी हैं, दरिद्र हैं। जहां तृष्णा नहीं, लोभ नहीं, उच्चाभिलाषा नहीं, वहां लोग क्या काम करेंगे, क्या साहस करेंगे? गांधीजी ने भी लंगोटी और त्याग सामने रखकर जनता को कर्मण्य बनाने में सहारा नहीं लगाया। मेरे चित्त में तो यही आता है कि मैं देश की सामयिक स्थिति में विप्लव पैदा कर दूं। लोगों के सामने त्याग का ही आदर्श न रखकर कुछ भोग का भी आदर्श रखूं।"

जहां मैं पहले ही से उलझन में फंसा था, वहां इस पत्र ने मेरे सामने एक और नयी पहेली रख दी। किन्तु मैं इस निर्णय पर नहीं पहुंच सका कि अहिंसा, वैराग्य, सन्तोष, क्षमा, अपरिग्रह इत्यादि उच्च आदर्शों के कारण ही हमारा देश गिर गया है, क्योंकि तब तो हमें एकबारगी ही इन आदर्शों का मूलोच्छेदन करके हिंसा, भोग, लोभ, क्रोध इत्यादि विरुद्ध धर्मों को इनके स्थान में प्रतिष्ठित कर देना चाहिए! किन्तु कौन-सा ऐसा प्रमाण है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भारत की दुर्गति इन आदर्शों के कारण हुई? बहुत-से मित्र गांधीजी की समालोचना में कहा करते हैं कि वैराग्य ने हमारे देश को तबाह कर दिया। किन्तु महाभारत-काल से यदि हम भारत के अधःपतन काल की शुरुआत समझें तो क्या कोई कह सकता है कि उस समय अहिंसा, वैराग्य, क्षमा का दौर-दौरा था? लोग शराबी और ऐयाश बिलकुल न थे? यदि पृथ्वीराज के समय से भी भारतवर्ष का विशेष अधःपतन मानें, तो कोई यह नहीं बता सकता कि पृथ्वीराज ने

कब त्याग, वैराग्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपनाया था ? उसके पीछे अब तक कब हमने वैराग्य, अहिंसा, सत्य, सन्तोष की उपासना की ? हां, यह सत्य है कि भारतवर्ष के इस उच्च आदर्श के कारण हमारे यहां बड़े-बड़े अवतार, ऋषि-मुनि, वीर-धीर, विद्वान्, भक्त, ज्ञानी, सन्तोषी, ब्रह्मचारी हो गये हैं, जिन्होंने भारत का मुख उज्ज्वल किया है। आज भी गांधीजी-जैसे महात्मा और मालवीयजी-जैसे क्षमाशील महापुरुष हमारे बीच में बैठे हैं, किन्तु इतिहास-पुराणों का कोई भी पन्ना उलटकर देखें तो कोई ऐसा समय नहीं मिलेगा कि जब भारत के सारे-के-सारे राष्ट्र ने अहिंसा या सन्तोष को राष्ट्र-धर्म माना या अपनाया हो। इस हालत में इन उच्चादर्शों को कोसना, और हमारे अधःपतन का कारण मानना, गलत निदान है। असल बात तो यह है कि हम लोग भ्रम में पड़े हैं। हम अपनी अकर्मण्यता को सन्तोष, कायरता को अहिंसा, दरिद्रता को अपरिग्रह, भय को क्षमा, वाह्योपचारी रूढ़ियों को धर्म, अज्ञान को शान्ति, आलस्य को धृति मान बैठे हैं और इसी में अपना गौरव समझते हैं। वास्तव में हम तमोगुण में डूबे पड़े हैं और पाश्चात्य लोग रजोगुण में गोते खाते हैं। सतोगुण को न हम पा सके हैं, न पाश्चात्य लोग। भेद इतना ही है कि हमारे पूर्वज ऐसी सम्पत्ति छोड़ गये हैं कि उसके बल पर आज सत्त्व का गुणगान करते हैं। उसकी उपासना को श्रेष्ठ मानते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य लोग कहते हैं कि सतोगुण किसी देश या जाति ने सामूहिक तौर पर नहीं अपनाया, न अपना सकती है, इसलिए उसे आदर्श मानने से कोई लाभ नहीं। सतोगुण की भूल-भुलैयां में पड़कर कहीं हमारे लोग तमोगुण में न डूब जायें, इसलिए अच्छा यही है कि सार्वजनिक आदर्श 'युद्ध' ही रहे। हां, जो लोग व्यक्तिगत रूप से चढ़ना चाहें वे 'मामनुस्मर युद्ध्य च' इस मंत्र को मानें, किन्तु 'युद्ध्य' इस मंत्र को कोई न भूलें।

आदर्श हमारा ऊंचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं—पर साथ ही यह भी असन्दिग्ध है कि हममें आज सत्त्व और रज दोनों का अभाव है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

ये तमोजन्य सारे रोग हममें पाये जाते हैं और 'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा-संगसमुद्भवम्' और 'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा' ये रजोजन्य संस्कार अंग्रेजों में पाये जाते हैं। जिस तरह गांधीजी कहते हैं कि यदि अपने धर्म की, मंदिरों की, बाल-बच्चों की, देवियों की रक्षा हम अहिंसा से नहीं कर सकते तो कायरता से तो हिंसा अच्छी, उसी तरह यह भी क्यों न सिखाया जाये कि यदि सतोगुण प्राप्त करके 'सुखं संगेन बध्नाति' का अमृतपान नहीं कर सकते तो तमोगुण से तो 'कर्म संगेन बध्नाति' ही अच्छा है ? तमोगुण का नाश यदि

वांछनीय है तो उसका नाश तो हो, खाने को रोटी तो मिले, क्योंकि

'भूखे भगति न होहि गोपाला।'

हमारी यह दुर्दशा क्यों है? इसका साधारण उत्तर तो इस तुलनात्मक विचार में मिल गया, किन्तु हम पराधीन कैसे हुए और पाश्चात्य लोग स्वाधीन क्यों हैं, इसका उत्तर तो हमारी और उनकी मनोवृत्तियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। राजा मां-बाप है, प्रजा सन्तान है, यह कहानी हमें हजारों पीढ़ियों पहले से पढ़ाई गयी। फल यह हुआ कि जो राजा वही मां-बाप। देशी-विदेशी का भेद हमारे यहां कभी न रहा। पाश्चात्य लोगों को सभ्यता मिली स्वतंत्रता के लिए मर-मिटनेवाले एथेन्स से या रोम से। नतीजा यह हुआ कि जहां National (राष्ट्रीयता), Patriotism (देशभक्ति), Democracy (प्रजातंत्र), Public spirit (सेवाभावना), Citizenship (नागरिकता), Public duty (सार्वजनिक कर्त्तव्य) इन शब्दों का तात्पर्य वहां का बच्चा-बच्चा जानता है, वहां हमारे यहां इन शब्दों के अर्थ से आज भी लोग अनभिज्ञ हैं। जिन राणा प्रताप और शिवाजी की हम जयन्ती मनाते हैं, उन्होंने भी धर्म के लिए तो जिहाद की (शायद अपनी राज-रक्षा की स्वार्थ-वृत्ति से प्रेरित होकर ही उन्होंने युद्ध किया हो), किन्तु देश के लिए किसी ने लड़ाई नहीं लड़ी। इसी तरह धर्म के नाम पर मर-मिटनेवाले तो भारत के इतिहास में हजारों मिलेंगे, किन्तु असुरों से मुक्ति पाने के लिए हड्डी देनेवाला दधीचि तो एक-आध ही मिलेगा। नतीजा वही हुआ जो होना था। पश्चिम से विजेता आते गये, और जो नया विजेता आया, हमने उसका सोने के थाल से स्वागत किया। इस तरह से हमने बहुत-से विजेताओं को पचा भी डाला, किन्तु अन्त में मन्दाग्नि से पीड़ित होकर स्वयं भी रोगी बन गये। आज भी देश में स्वराज्य की उत्कट चाह नहीं है। जब यह चाह उठेगी तब किसकी मजाल जो हमें परतंत्र रखें?

बस, हम परतंत्र क्यों है, इसका उत्तर यही है कि हममें स्वतंत्रता की उत्कट चाह नहीं है। हाल में सहकारी भारत सचिव अर्ल विन्टर्टन ने अपने व्याख्यान में कहा था कि भारतवर्ष बहुत-सी बातों में पिछड़ा है, इसका यह भी कारण है कि भारतीय सांसारिक द्रव्यों से विरक्त हैं। यह कथन असत्य नहीं है। हां, इतना जरूर है कि हमारा वैराग्य **"कायक्लेशभयात्यजेत्"** की बुनियाद पर रचा हुआ तामस त्याग है।

"जिन खोजा तिन पाइयां"—चाह उठने पर हम भी स्वतंत्रता के लिए मर मिटेंगे।

मई, १९२७

३. मार्सेल्स से जिनेवा

हम लोग २० जून को सवेरे मार्सेल्स पहुंचे। जकातवालों ने पेटियां खुलवायीं, पासपोर्ट देखे गये। अन्त में छुट्टी मिली। मार्सेल्स यों तो पुराना नगर है, पर साफ-सुथरा नहीं है। करीब नौ लाख की आबादी है। सड़क-मुहल्ले या तो कलकत्ता के चित्तरंजन एवेन्यू जैसे या बम्बई के सैण्डहर्स्ट रोड जैसे हैं। मनुष्य, यद्यपि मार्सेल्स में पैर रखते ही यूरोपियन-ही-यूरोपियन दिखायी देते हैं, किन्तु साफ कपड़े वाले कम नजर आते हैं। ज्यादातर कुली मैले कपड़े वाले हैं। शरीर मजबूत है—वैसे भले आदमी शौकीन तबीयत के हैं। फ्रांसीसियों की दाढ़ी प्रख्यात है। उसे ये लोग बड़ी सावधानी से रखते हैं। प्रायः लोग बरामदों में बैठकर खाना खाते हैं। खाते समय हल्ला काफी मचाते हैं।

मार्सेल्स में देखने लायक स्थान केवल नातरे दाम (Notre Dame) का मन्दिर है। यह मन्दिर प्रायः चार सौ साल पुराना है। पहाड़ी के करीब २५० फुट ऊंची एक चट्टान है। उस पर पहुंचने के लिए लिफ्ट लगी हुई है। इतनी ऊंची लिफ्ट मैंने पहले-पहल देखी। चट्टान पर मन्दिर बना है। मन्दिर का गुम्बद भी शायद २५० फुट ऊंचा बताते हैं। मन्दिर के सभा-मण्डप के भीतर मेरी की मूर्ति है—गोद में बालक ईसा है। अपने मन्दिरों की तरह अंधेरा भी गहरा था। मोमबत्तियों के प्रकाश से मूर्ति के दर्शन होते थे। अपने यहां दर्शनार्थी घी के दीपक जलाते हैं, वैसे ही यहां के भक्त लोग एक-एक गज लम्बी मोमबत्ती खरीदकर मूर्ति के सामने उसका दीपक जलाते हैं। अपने यहां जैसे छत्र चढ़ाते हैं, वैसे ही यहां भी भक्त लोग टाल पर अपना नाम लिखकर दीवार पर लटका देते हैं। हजारों टालें लटक रही थीं। अपने मन्दिरों में और इस मन्दिर में मुझे कोई फर्क नजर नहीं आया। मेरे लिए मेरी की गोद में बालक ईसा मानों यशोदा मैया की गोद में कृष्ण के समान था। 'तुलसी मस्तक तव नवै, धनुषबाण लो हाथ', यदि तुलसीदास यहां आते और यह दोहा पढ़ते तो अवश्य ही ईसा की यह मूर्ति माता कौशल्या की गोद में राम के आकार में परिणत हो जाती। किन्तु यहां तुलसीदास कहां ? खैर, मैंने तो अपनी भावना की सृष्टि में ईसा को कृष्ण के रूप में परिणत करके शांति का अनुभव कर लिया। साथ ही अपने प्राचीन मन्दिरों की स्मृति भी हुई। लन्दन में हमारा भी एक विशाल मन्दिर २५० फुट ऊंचा क्यों न हो, इसकी कल्पना में मैं गोते खाने लगा तो याद आया कि अच्छा मन्दिर दस लाख बिना नहीं बन सकता। परिस्थिति को समझकर लम्बी सांस ली। पर फिर सोचा, मन्दिर में भगवान् कहां ?

"पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर मांहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरंतर घट ही खोजो भाई ॥"

भगवान् तो भीतर है, उसकी अवहेलना क्यों करें?

हमारे देश में मन्दिरों पर तो लाखों रुपये खर्च होते हैं, किन्तु मूर्ति पर ध्यान कम दिया जाता है। जगन्नाथजी और द्वारका की मूर्तियां तो अपनी कला-विहीनता के लिए प्रख्यात हैं। बम्बई में लक्ष्मीनारायणजी की मूर्ति यद्यपि बड़ी मनोहर है, किन्तु जैसी यहां है वैसी मूर्तियां बहुत कम मन्दिरों में हैं। यहां की मूर्ति में तो कारीगर ने अपनी तमाम कला खर्च कर डाली है। पास में ईसा की दो मूर्तियां और थीं। एक सूली पर लटकते समय की, एक सूली से उतारे जाने के बाद की। दोनों में सजीवता मानो मृत शरीर की निर्जीवता कूट-कूटकर भरी थी। सूली से उतारे जाने के बाद की मूर्ति को देखकर तो रोना आ सकता था। बाल बिखरे हुए, हाथ-पांवों में कीलें लगी हुईं, सारा शरीर लहू-लुहान; आंखें बाहर निकली हुईं। दृश्य हूबहू था। नातरे दाम के मन्दिर की ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञान के लिए फ्रेंच विप्लव की कहानियां बहुत-कुछ प्रकाश डालती हैं।

मार्सेल्स से हम लोग जेनेवा रेल से चले। रेल के थर्ड क्लास के डिब्बे हमारे देश के सेकण्ड क्लास के डिब्बे से बुरे नहीं थे। किराया यहां के थर्ड का हमारे यहां के थर्ड से कम है। यहां का फर्स्ट क्लास हमारे यहां के फर्स्ट की तुलना में बिल्कुल रद्दी है। जेनेवा पहुंचने में हमें दस घंटे लगे, किन्तु थकान नहीं आयी। दोनों तरफ हरियाली थी। खेती का तो क्या पूछना! भारत में तो ऐसी खेती हमने कहीं नहीं देखी। सीधी लाइन में व्यवस्थित रूप से बराबर फासले पर पौधे बोये जाते हैं। खेत क्या हैं, बगीचे हैं। खेत के बीच में किसानों के रहने के लिए कोठियां हैं। ग्राम देखने के लिए तो हम शुरू से उत्सुक थे। रेल में बैठने के बाद बहुत-से ग्राम नजर आये। किन्तु क्या हम उन्हें ग्राम कह सकते हैं? हमारे देश में ऐसे ग्राम कहां? इन ग्रामों की तुलना भारतवर्ष के अंधेरी, सान्ताक्रूज, बांदरा इत्यादि बम्बई के निकटस्थ उपनगरों से की जा सकती है। भेद केवल इतना ही है कि भारत के इन उपनगरों में धनी विराजते हैं, यहां के ग्राम गरीबों के हैं। साफ सड़कें, साफ छोटे-छोटे ठीक बम्बई के फैशन के बंगले, मोटी-मोटी गायें, मोटे-मोटे घोड़ों के हल, जगह-जगह सिंचाई के लिए नदियों पर लगे हुए पम्प देख-देखकर अपने देश के दुर्भाग्य पर रोना आता था।

हम लोग देश की दुर्दशा पर विवेचना करने लगे। अपने दुर्गुणों पर विचार किया और इस निर्णय पर आये कि हम में स्वार्थ-त्याग की कमी है। लालाजी (लाला लाजपतराय) ने प्रेम के आवेश में हाथ उठाकर कहा कि हमारे देश में केवल दो मनुष्य हैं—"गांधी और मालवीय।" मुझे जो रुचता था उसी की वैद्य

ने सिफारिश कर दी। गांधी और मालवीय का गुणगान करते-करते मैं कभी नहीं थकता। लालाजी की निरभिमानता और सरलता ने मुझे मोहित कर लिया। मैंने कहा, "लालाजी, इसके बाद नम्बर आपका है।" लालाजी ने कहा, "मुझे चाहे तीसरे नम्बर पर रखो 'चाहे पांचवें पर, मनुष्य देश में दो ही हैं—नम्बर एक गांधी और नम्बर दो मालवीय।" गरीब बेचारे लालाजी ! आजकल उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, यहां की हवा गत वर्ष उनके अनुकूल आयी तो इस साल फिर दो महीने के लिए यहां आये। लालाजी का सारा जीवन देश-सेवा में बीता। घर छोड़ा, ऐश-आराम छोड़ा, शरीर का सुख छोड़ा, कमाई को स्वाहा किया, जेल भुगती, स्त्री के धन का भी हाल में ट्रस्ट बनाकर अन्तिम कौड़ी प्रसन्नतापूर्वक दान करके अब पूरे भिखारी बन गये। रात-दिन देश-सेवा के अतिरिक्त करते क्या हैं ? यहां भी वही धुन है। स्वास्थ्य के लिए विदेश चले आये तो मानो गजब कर दिया। नेता लोग क्या ठहरे, मानों लोहे के चर्खे। चलाया जा सके इतना चला लो, टूटे तो चाहे टूटे। गांधी काम करते-करते गिर जायें, मालवीय मर जायें, किन्तु मरने के पहले कोई मत रोओ। पीछे तो स्मारक भी बने, सभा भी हो, वर्षी भी मनायी जाये, किन्तु जीतों की सुधि न लो। हाल में गांधीजी का, मालवीयजी का स्वास्थ्य बिगड़ा तो किसी अखबारवाले ने यह नहीं लिखा कि इन थोड़े-से हड्डी-मांसवाले शरीरों को कुछ विश्राम लेने दो। लालाजी ने विश्राम लिया तो ऊपर से डांट मिली। इंग्लैण्ड के मजदूर दल के नेता रैमजे मैक्डानल्ड का स्वास्थ्य थोड़ा बिगड़ा तो हवा खाने बाहर भेजे गये। अब वापस आये हैं। ट्रेड-यूनियन बिल के कारण मजदूर दल में घोर अशांति है, किन्तु मजदूर दल वालों ने अपने नेता से यह कह दिया कि आप अभी आराम कीजिए, आपका स्वास्थ्य ढीला है। यह भी देखिए और वह भी देखिए—आकाश-पाताल का अन्तर है। हमारे लोग जरा समझ लें कि गांधी, मालवीय और लालाजी को भी हमारी ही तरह मनुष्य-शरीर मिला है, जो एक हद तक ही काम कर सकता है। ये मरेंगे तो सारा देश रोवेगा, धाड़ मार-मारकर, आज जरा इन बेचारों के स्वास्थ्य की चिन्ता तो कर लो। हम लोगों में से न्याय-बुद्धि चली गयी है। देश के प्रति अन्याय, धर्म के प्रति अन्याय, जाति के प्रति अन्याय, नेताओं के प्रति अन्याय। जो न्याय नहीं देते, उन्हें न्याय नहीं मिलता। हमारी भी यही गति है।

कुछ जेनेवा की बातें लिख देता हूं। यह स्थान अत्यन्त सुन्दर है, लेकिन काश्मीर से अधिक सुन्दर न होगा, यह मेरी धारणा है। हालांकि मैंने कभी काश्मीर देखा नहीं। केवल प्रशंसा ही सुनी है। हां, दार्जिलिंग गया हूं। दार्जिलिंग से यह स्थान कुछ अधिक सुन्दर है। दार्जिलिंग केवल पहाड़ी स्थान है, यह पहाड़ों के बीच समतल भूमि पर जेनेवा झील के दोनों किनारों पर बसा हुआ है। और भी ऐसी कई झीलें हैं। इस प्रदेश में व्यापार अधिकतर घड़ियों का, दूध का,

होटलों का है। हवा खाने की जगह ठहरी। और अन्तर्राष्ट्रीय स्थान ठहरा, इसलिए दूर-दूर के लोग आते हैं। शहर में बड़े-बड़े होटलों की भरमार है। सामने हिमाच्छादित आल्प्स पहाड़ दिखायी देते हैं। झील का पानी इतना स्वच्छ है कि जाड़े में पानी में तेतीस फुट गहरी पड़ी हुई चीज दिखायी देती है। डाक्टरों की परीक्षा में जेनेवा झील का पानी सर्वोत्तम ठहरा। भूख यहां पर खूब लगती है। दूध अत्यन्त शुद्ध और सुस्वादु है। घृत की कोई कमी नहीं है। भूख का कारण आबहवा और व्यायाम दोनों हैं। सर्दी साधारण है, किन्तु व्यायाम में रुचि पैदा करती है। व्यायाम का एक जबरदस्त साधन यह भी है कि यद्यपि सूर्योदय साढ़े चार बजे होकर सूर्यास्त आठ बजे होता है, तथापि सवेरे चार बजे से रात को नौ बजे तक सीधी रोशनी रहती है। अधिक उत्तर जाने से दिन बड़े और रात छोटी होती जायेगी। सुनता हूं कि स्काटलैण्ड में आजकल एक बजे रात तक रोशनी रहती है और तीन बजे फिर रोशनी शुरू हो जाती है, यद्यपि सूर्योदय तो शायद चार बजे होकर सूर्यास्त नौ बजे होता होगा। अधिक रात तक रोशनी टिकने का कारण उत्तरी प्रदेश है।

जेनेवा में एक फव्वारा है, जो एंजिन-पम्प से चलता है। ढाई फुट मोटे पाइप में आता है, जो तीन सौ फुट पानी छोड़ता है। दृश्य देखने लायक है।

जून, १९२७

४. भीषणकाय लंदन

जेनेवा से लन्दन की यात्रा हमने वायुयान द्वारा की। यह नया अनुभव था। नये-नये दृश्य देखने की लालसा थी, इसलिए हमारी मंडली में अदम्य उत्साह था। किन्तु यह उत्साह अधिक देर तक न ठहर पाया। आकाश में बीस मिनट भी न रहने पाये थे कि सबको चक्कर आने लगे। हमारे एक-दो साथियों ने कै करते-करते विमान को भी दूषित कर दिया। मुझे भी जरा-जरा चक्कर आ रहे थे, किन्तु राम-राम करते किसी तरह लन्दन पहुंचे। जेनेवा से लन्दन करीब ८०० मील है। हम आकाश में कोई आठ घंटे रहे। साथियों को परेशानी इतनी हुई कि लन्दन पहुंचने पर किसी ने भोजन तक न किया। कानों के घोंघाट ने तो बारह घंटे पीछे तक दिमाग को बेकार बनाये रखा। हवाई जहाज पर हम लोग बहुत-से शहरों पर से, उड़ते हुए निकले। पेरिस को भी आकाश से देखा, किन्तु लन्दन

के सामने तो सब छोटे हैं।...

नब्वे लाख मनुष्यों से गुंजरित इस घोंसले को क्या उपमा दें ? पृथ्वी फिरती है, इस पर लोगों ने सन्देह किया। किन्तु लन्दन फिरता है या नहीं, इसको लोग स्वयं आकर देख लें। चर्खी के घोड़े पर चढ़ने वाले लड़के की तरह जिसने लन्दन में पांव रखा नहीं कि लगा उड़ने। राह चलते मनुष्य तो मानो दौड़ते हैं। रास्तों में मोटरों का और मनुष्यों का इस तरह का तांता-सा लगा रहता है, मानो रात-दिन सड़कों से कोई जुलूस गुजर रहा हो। भीड़ पहले मैंने इतनी कहीं नहीं देखी। इस पर भी हरएक चौरस्ते पर केवल एक पुलिस का जवान भीड़ को संभालता है। संसार की दौड़ की बाजी में हम लोग कितने पिछड़ गये हैं, यह यहां आने पर प्रत्यक्ष होता है। ऊपर से हवाई जहाज, सड़कों पर मोटर और ट्राम, सड़कों के नीचे बुगदे में रेल—एक साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए दो-तीन रास्ते, शहर के बीच में बड़े-बड़े बगीचे, आलीशान इमारतें, साफ-सुथरी सड़कें, धन, वृद्धि, विद्या-बल और यह सबकुछ लन्दन में है, किन्तु तब भी लन्दन ने मुझे मोहित नहीं किया।

मैं किसी समय नित्य-नियम से दुर्गा सप्तशती का पाठ किया करता था। किसी मित्र ने मुझे बताया कि दुर्गा सप्तशती का पाठ जितना ही मंगलकारी है, उतना अमंगलकारी भी है। शुद्ध पाठ किया तो ठीक, नहीं तो लेने-के-देने पड़ जाते हैं। उदाहरणस्वरूप यह भी बताया कि "भार्या रक्षतु भैरवी" के स्थान पर "भार्यां भक्षने भैरवी" ऐसा अशुद्ध पाठ करके एक भक्त को अपनी स्त्री के प्राण से भी हाथ धोना पड़ा था। मैंने सोचा कि ऐसा देव मुझको फलप्रद नहीं होगा। जिस देव को पाठ की अशुद्धि पर इतना क्रोध, उसके कानों तक "प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो" की पुकार कैसे पहुंचे ? लन्दन का भी यही हाल है। यहां 'निर्बल के बलराम' की कोई सुनाई नहीं है। "यो मां जयति संग्रामे स मे भर्ता भविष्यति", देवी की इस उक्ति को लन्दन बार-बार डंके की चोट दोहरा रहा है। लन्दन लन्दनवासियों को चाहे मंगलकारी हो, किन्तु दूसरों के लिए मंगल कहां ? संसार-भर का धन चूस-चूसकर लन्दन दिन-दिन मोटा होता जा रहा है। यदि भारतवर्ष अपना पाट लन्दन की मार्फत जर्मनी को बेचता है तो अमरीका भी अपनी चांदी इसीकी मार्फत चीन को भेजता है, मानो व्यापार का ठेका लन्दन ने ही ले रखा हो, किन्तु इतना होने पर भी लन्दन खूबसूरत शहर नहीं है।

ऐसे कई महल, मकान या गिरजाघर हैं, जिनकी संसार-भर में ख्याति है—जो साहित्य या इतिहास में अमरत्व प्राप्त कर चुके हैं—पर जो वास्तव में 'दूर के ढोल सुहावने' इस उक्ति को चरितार्थ करते हैं। धुआं और धूप से आच्छादित ९० लाख मनुष्यों की वस्ती का अन्धकारमय लन्दन अपनी बदसूरती से लोगों के चित्त में भय-सा पैदा करता है। बड़ों-बड़ों के दांत खट्टे करने वाला, फ्रांस को

समय-समय पर खिलौने की तरह खिलाने वाला, अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने वाला, दिग्विजयी, एशियाई देशों का भाग्य-विधाता, संसार-भर में अपना सिक्का जमाने वाला, भयावना, भीषण लन्दन किसीके चित्त को मोहित नहीं कर सकता।

आजकल यहां रूस से खटकी हुई है, इसकी बड़ी चर्चा है; बुध को सूर्यग्रहण होगा, इसकी बड़ी चर्चा है; एक सोलह साल की लड़की ने सबको टेनिस में हरा दिया, इसकी बड़ी चर्चा है; सम्राट के यहां परसों की दावत में किस-किस देवी ने कौन-कौन से आभूषण पहने, इसकी बड़ी चर्चा है; किन्तु भारत में भूख के मारे कितने मनुष्य मरते हैं, इसकी कोई चर्चा नहीं। भारत की चर्चा कौन करे? भारत शान्त है, चुप है, हिन्दू-मुसलमान झगड़ते हैं; सिर से बला टली, अपने दिन चैन से कटते हैं—चिन्ता किस बात की? यहां की पार्लमेंट का मकान सात सौ साल पुराना है। अन्य सरकारी मकान भी सब पुराने हैं। सरकारी नौकरों को मामूली वेतन मिलता है। फिजूलखर्ची का नाम नहीं। क्यों? इसलिए कि सरकार को प्रजा के सामने कौड़ी-कौड़ी का हिसाब देना पड़ता है। किन्तु भारत की ओर भी देखिए; नयी दिल्ली के मकानों की ओर दृष्टिपात कीजिए; भारत सरकार के शाही ठाठ-बाट को देखिए। आकाश-पाताल का अन्तर है। किन्तु दस्तंदाजी कौन करे? यहां तो:

"हमें क्या बोलशेविज्म गया या रूस आता है,
यहां तो फिक्रे सरमाई कि माहे पूस आता है।"

कोई नंगापन मिटने की ओषधि बता दे, पेट भरने का उपाय बता दे, तो दिमाग में सूझ पैदा हो, अन्यथा जहां रोने से फुरसत नहीं, वहां संगीत कैसा? रोम जलने लगा तो नीरो ने सारंगी की तान छेड़ी। आज चाहे लोग नीरो को धिक्कारें; किन्तु आज भी रोम जलता है और नीरो अपनी सारंगी में मस्त है। किन्तु हम तो ऐसे सहम गए हैं कि भूखे हैं, इसकी भी सुध हमें नहीं है। लोग कहते हैं कि तुम भूखे हो, इसलिए हम भी कहते हैं कि हम भूखे हैं। हमें क्या पता कि हम वास्तव में भूखे हैं!

जुलाई, १९२७

५. जर्मनी में

मैंने यूरोप के बड़े शहरों में लन्दन देखा, पेरिस देखा और बर्लिन देखा। मुझे कहने में कोई संकोच नहीं होता कि बर्लिन सबमें श्रेष्ठ है। लन्दन तो खूबसूरत शहरों में नहीं गिना जा सकता, किन्तु लंदन की खूबी लन्दन की चहल-पहल में है। पेरिस में तीन-चार सड़कें अत्यन्त सुन्दर हैं, बाकी भद्दी। वहां के नाटक, खेल-तमाशे मशहूर हैं, इसलिए मालूम होता है, पेरिस का नाम बहुत ज्यादा हो गया, किन्तु बर्लिन सबमें निराला है। सुन्दरता तो कूट-कूटकर भरी है। सड़कों पर अधिक भीड़ नहीं है, क्योंकि रास्ते अत्यंत चौड़े और सीधे हैं। शहर में इधर-उधर घूमने के लिए नीचे जमीन के भीतर की रेल, जमीन के ऊपर पुल बांधकर पुल पर चलनेवाली रेल, मोटर, बस, ट्राम इत्यादि तो हैं ही, रास्ते के दोनों तरफ गाड़ियां चलती हैं, बीच में सड़क के किनारों पर राहगीरों के लिए फुटपाथ बने हैं। बीच का फुटपाथ भी एक अलग सड़क समझिए, जिसके दोनों ओर वृक्ष लगे हैं। मकान सब सुन्दर हैं। रास्ते इतने साफ हैं कि कलकत्ते के चौरंगी से बढ़कर नहीं तो समान जरूर हैं। चौराहों पर भीड़ को संभालने के लिए पुलिस नहीं खड़ी होती, लाल-हरी बत्ती दिखाकर भीड़ को संभालते हैं।

कैसर के महल देखे। भीतर सजावट अच्छी है, किन्तु इन महलों की अपेक्षा किसी-किसी होटल में सजावट अच्छी होती है। लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि हमारे राजा-महाराजाओं की अपेक्षा इन सम्राटों के महल अधिक मनमोहक क्यों नहीं होते। लोग भूल जाते हैं कि हमारे राजा-महाराजा निरंकुश हैं, उनके काम की खबर लेने वाला कौन है? पर यहां तो पार्लामेण्ट रुपया मंजूर करती है तब कहीं खर्च कर पाते हैं, और सम्राट् लोग भी वहां ऐशो-आराम में ही अपनी शान समझते हैं। नतीजा यह हुआ कि कैसर और पंचम जार्ज के जो महल हैं, वे सब पुराने हैं, उनकी सजावट पुरानी है—करोड़ों रुपया यहां बात-बात में खर्च होता है, किन्तु शाही महलों पर नहीं। हमारे राजा-महाराजाओं के यहां लाखों उनके स्नान-घरों पर खर्च हो जाते हैं, किन्तु लोकोपयोगी कार्यों के लिए कुछ भी नहीं। उनके कुरूप महल इनकी शोभा हैं, हमारे सुन्दर महल हमारी शर्म हैं। मैंने कैसर के पुराने-नये सब महल, कोई भीतर से कोई बाहर से देखे। प्रायः साधारण हैं। कोई विशेषता नहीं, सो भी पचास-साठ वर्ष पहले के बने हुए हैं।

बर्लिन का शाही पुस्तकालय देखा। पुस्तकालय का मकान १५ बीघे में बना है। १३ तल्ले का मकान है। कुल तीस लाख पुस्तकों का संग्रह है। सारा मकान पुस्तकों से भरा है। संस्कृत और पाली की तमाम पुस्तकें हैं। हस्तलिखित अनेक

पुस्तकें भारत से ला-लाकर रखी गयी हैं। पुस्तकाध्यक्ष ने कहा, "हमारे पास गांधीजी के अंग्रेजी ग्रन्थ और उनके गुजराती ग्रन्थों के अनुवाद तो हैं, मूल गुजराती ग्रन्थ नहीं हैं।" मैंने कहा, "मैं भिजवा दूंगा।" भारत में अलवर, बीकानेर इत्यादि तमाम राज्यों की पुस्तकों का सूचीपत्र इनके पास है। पुस्तकालय देखकर हम लोगों को अत्यन्त हर्ष हुआ।

हैम्बर्ग भी अत्यन्त सुन्दर है। यहां नयी बात यह है कि एक सड़क नदी की तह के नीचे है, जो पुल का काम देती है। शहर भी अत्यन्त सुन्दर है। मैंने जर्मनी के गांव देखे, कस्बे देखे, शहर देखे। विद्या में, परिश्रम में, व्यवहार में, कला-कौशल में ये जर्मन सर्वश्रेष्ठ हैं। धूर्तता में, धन कमाने में, राजनीति में अंग्रेज सर्वश्रेष्ठ हैं। वीरता में, भलमनसाहत में, सौन्दर्योपासना में फ्रेंच सर्वश्रेष्ठ हैं।

फरवरी, १९२८

६. पच्छिम-पूरब

इंग्लैण्ड से अमरीका जाता हूं तो मालूम होता है कि किसी दरिद्र स्थान से इन्द्रालय को जा रहा हूं। इतना ऐशो-आराम, इतनी भोग की भूख तभी तक निभ सकती है जबतक कि खानेवाले थोड़े हों, खिलानेवाले असंख्य। इन मुल्कों में यन्त्र का आविष्कार भी इसी सिद्धान्त पर हुआ है। हाथ की मेहनत से कहां तक पैदा किया जा सकता है? भूख की कोई सीमा नहीं है। हम दो सौ मुसाफिरों के लिए इस जहाज में कितना आयोजन है, कितनी जूठन रोज जाती है, कितनी सामग्रियों की नित्य बरबादी होती है! मनुष्य इतना कहां तक पैदा करता! अक्लमन्दों ने कहा—चलो, यन्त्र निकालो। यन्त्र भी चलने लगे, तो भी भूख न भगी। नतीजा यह है कि लाखों प्राणी यहां बेकार हैं, करोड़ों एशिया में तबाह हो गये, किन्तु कुछ हजार की भूख ज्यों-की-त्यों जारी है। लोगों के सामने आदर्श भी उन्हीं का है। लोग उनको गिराकर खुद वहां पहुंचना चाहते हैं। कुछ लोग संसार को सुखी देखना चाहते हैं, किन्तु जबतक यह राक्षसी भूख है, तबतक संसार के लिए सुख मृगतृष्णा है। किसी दन्त-कथा में यों कहा गया है कि जब रावण न मरा तो रामजी को विभीषण ने बताया कि रावण की नाभि में अमृत-कुण्ड है, उसका शोषण कर लेने से उसकी मृत्यु हो सकती है। उसी प्रकार जबतक इन गोरों की भोग-पिपासा पर कुठाराघात नहीं होगा, तबतक संसार का दुःख बना ही रहेगा।

सुनिए यहां की दिनचर्या :

सुबह ९ बजे उठे कि नाश्ता किया; दौड़े आफिस में; वहां काम नहीं करना है, केवल हिसाब लगाना है कि आज कितने रुपये आ गये। एक बजे लंच, फिर वही आफिस। सात बजे भोजन, ८।। बजे नाटक, ११।। बजे ब्यालू, फिर नाच, २ बजे शयन। यह साधारण दिन और रात्रि-चर्या है। शराब, धुआं, चाकलेट, चाय इसका जिक्र फिजूल है। लोगों में दिमाग है, मगर रात-दिन उससे यही काम लिया जाता है कि कैसे किसी को खा जायें? दया है, सहृदयता है, किन्तु वातावरण से दूषित है। लोग निरे राक्षस नहीं हैं, किन्तु वातावरण के कारण उन्होंने सिद्धान्तों में और जीवन में अन्तर बना रखा है। लोग सर्वनाश की ओर जा रहे हैं, ऐसा इन्हें पता भी नहीं है। यदि इनकी यह भोग-पिपासा मिट जाये तो बाकी साधना रह जाती है। एक अजीब मिश्रण है, जो मनन करने योग्य है।

मैंने भर-पेट निन्दा की है, वह केवल उनके बुरे पहलू की बुराई है। अच्छाई भी खूब है। शौर्य है, दक्षता है, व्यावहारिकता है, फुर्ती है, दया, सचाई है।

यहां से मेरा मन पिलानी की ओर दौड़ता है। कोई नादान दोस्त मिलान करे तो कहेगा कि पिलानी तामस निद्रा में सोयी है, लोग अज्ञान हैं, मूर्ख हैं, कायर हैं, गंदे हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। बात यह है कि आप खुर्दबीन लेकर ढूंढ़ेंगे, तो वहां आपको काफी मसाला मिलेगा। दरअसल पिलानी ऊजड़ होती जाती है। न हीरा है, न डेडा है, न सुल्तान नीलगर है, न करीमखां है। और भी अनेक नाम गिना सकता हूं, जो चले गये। उनकी जगह नयी रोशनी के लोगों ने ले ली है। बड़वाली पिलानी की जगह कालेजवाली पिलानी या बिड़लों की पिलानी बन गयी है। जोहड़ों की जगह तालाब ने ले ली। हमारे कई ऐतिहासिक ऊंट मर गये, कुम्मैत घोड़ी भी बूढ़ी हो चली। इनको तो हम याद करेंगे, किन्तु कितनी मोटरें टूटी हैं, इनका हिसाब भी नहीं है। माली बारा लेते थे तो मधुर गान गाते थे, अब अमृत सागर कुंए के पंप ने खुमाणिए माली की अक्ल पर काफी आक्रमण किया है। अजब परिवर्तन हुआ है। रात को तिल के तेल की बत्ती में पढ़ने का एक अजब मजा आता था। अब वह बात नहीं रही। कलकत्ते-बम्बई से हम लोग आते थे तो गांगजी महराबखां की पूछ होती थी, अब अचानक आ धमकते हैं। पिलानी में अवांछनीय चहल-पहल और काफी अशान्ति आ गयी है। खूब धक्का लगा है। पश्चिम की रोगीली हवा ने खूब धूम मचायी है। किन्तु फिर भी कितनों के स्तम्भ अटल खड़े हैं, जिन पर कोई असर नहीं हुआ है। यदि असली पिलानी का किसी को मजा लेना है, तो उसे चाहिए कि उन्हीं विन्ध्याचलों से मिले। उनसे पुरानी बातें सुनें तब पता लगेगा कि पिलानी कितनी उजड़ गयी है। किसी जोगी को बुलाकर हीर-रांझा भी सुन ले।

श्री ठाकुरजी के सामने जब स्वामीजी गाते थे—'एक नवल नार करके सिंगार

ठाड़ी अपने द्वार, प्रिया निकस बहार एक पलक मार, मन मेरो हर लीन्हो।' (वे इतना शुद्ध कभी नहीं गाते थे। काफी अशुद्धियां होती थीं) तब मैं कलजुगी आदमी कहकहा मारकर हंस देता था, किन्तु स्वामीजी तो अपने मन में भजन ही गाते थे। ग्यारह की रात और ठाकुरजी के सामने उन्हें रिझाने को, मुझे याद है, एक बार स्वामीजी ने गाया :

उड़रे हंस तुम जाओ गगन में,
खबरा लाश्रो मेरे प्रीतम की।
प्रीतम मेरा मैं प्रीतम की
गांठा धुल गयी रेशम की।

एक सज्जन नहीं समझे कि रेशम की गांठ कैसे धुल गयी ? तो आखिर स्वामीजी से पूछ ही बैठे। मैं हंस पड़ा। पं० भोलारामजी भी हंस पड़े, किन्तु स्वामीजी ने तो वहां भी राधा-कृष्ण का मेल मिला ही दिया। वह तो 'भजन' ही गाते थे। अब भी उन्हें "ढूंडिये" और मुसलमान बीवी में कोई फर्क मालूम नहीं देता।"[1]

और दूसरे अपरिवर्तनशील हैं डाक्टरजी। हैं पुराने पापी। चाहे वह अपने मन से चालाक हों, किन्तु हम सभ्य लोगों के सामने खिलौना हैं। मैं उन्हें जाट डाक्टर कहा करता हूं, क्योंकि ईश्वर की दया से उनमें सभ्यता नहीं आयी है। गाय खुद दुहते हैं, छानी काटते हैं और रसोई भी बना लेते हैं। कभी-कभी नश्तर की कमी में चाकू ही से काम ले बैठते हैं। हरदेवजी वैद्य के पिताजी को जब मेरे दादोजी बैल की उपमा देते थे तो वह प्रसन्नतासूचक उद्गार किया करते थे। सागरमलजी वैद्य के पिता लगातार तीस दिन एक सेर घी हजम कर सकते थे। सरूपा खाती तो शायद जीवित है। हमारा सीता दर्जी है, जिसकी भैंस की कथा रोचक है। न मालूम उसने मेरे कितने कपड़े बिगाड़े ! उलहना देने पर कहता था कि बम्बई जैसा तो बना ही देता हूं। हां, कलकत्ते जैसा नहीं बना सकता। सम्सिया धोबी भी ऐसी ही कुछ दिल दहला देनेवाली अद्भुत बात कर बैठता था कि फिर उलहना देना 'असम्भव-सा' हो जाता था। कितनी ओछी निगाह से ये आपकी सभ्यता को देखते थे। तभी तो हम राक्षसी सभ्यता से बाल-बाल बचे।

जेसा नाई मुण्डन ही जानता था। 'आगिया' निकालना उसे नहीं आता

१. "ढूंडिये" या ढुंडिया राजपूताना में जैन साधुओं को कहते हैं। ये सफेद वस्त्र पहनते हैं और मुंह पर भी एक सफेद पट्टी बांध लेते हैं। जिन स्वामीजी का जिक्र है वह एक मरतबा दिल्ली आये तो उन्होंने एक मुसलमान औरत को बुरका पहने देखा। बुरका सफेद था। स्वामीजी समझे कि यह कोई "ढूंडिया" जैन साधु है। मैंने उन्हें कहा कि स्वामीजी यह कोई मुसलमान बीवी है, पर स्वामीजी अपने हठ से नहीं डिगे। उन्होंने कहा, मुसलमान बीवियां क्या मैंने पिलानी में नहीं देखीं ? यह तो "ढूंडिया" ही है !

था। बंगला वाल तो चले भी नहीं थे। किसी नयी रोशनीवाले ने (उस जमाने के) आगिया बनवाना चाहा, तो जेसा ने कोयला लेकर पहले उसकी रूपरेखा हजामत बनवानेवाले के सिर पर खींची। ऐसे-ऐसे महारथी थे, जो अब नहीं रहे और चले जा रहे हैं।

मैं पूछता हूं, उन्होंने किसका क्या बिगाड़ा था? किन मुल्कों को तबाह किया था? कहां बेकारी फैलायी थी? फिर उन्हें क्यों गालियां देते हो? आप उन वृद्धों से मिलें, जिन्हें सभ्यता की हवा न लगी हो। पिलानी उजड़ चली है। पाण्डेयजी का आक्रमण जारी है; किन्तु जो बची-खुची पुरानी सभ्यता है, उससे कोई लाभ उठा ले। मैं पुरानी बातों की याद करता हूं तो हृदय में गुदगुदी होने लगती है। स्पीच देता हूं, सेंट जेम्स तक की हवा खा चुका, किन्तु मन अब भी वहीं जाता है। पिलानी से जब पुरानी पिलानी विदा ले लेगी, तब कुछ नहीं रहेगा।

आपके भाग्य में बदा हो और देखने को मिले तो लड़की की विदाई का पुराना दृश्य देखियेगा। याद आता है, एक प्रहर का तड़का था और गर्मी का मौसम। निस्तब्ध रात में कोई लड़की विदा की जा रही थी। एक तरफ लड़की का रुदन, दूसरी ओर स्त्रियों का गीत—'ओलंगडी लगायकै कोठे चाल्याजी।' तीसरी ओर ऊंटों का उगाल लेना एक अजब संमिश्रण था, जो मोहक भी था। बचपन में मुझे यह दृश्य इतना मजेदार लगा कि बड़े चाव से मैं इसी साध में कई वर्ष मग्न रहा कि कभी मेरे ससुराल वाले भी मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी को इसी तरह विदा करेंगे। पर वह तो न हुआ।

पिलानी उन मीठे दिनों की याद दिलाती है, जब लालसाएं, आशाएं सारी सामने थीं। ऐसा मन में आता है, पिलानी पहुंच जाऊं! पर यह तो असम्भव है। आप ईंट, पत्थर, वृक्ष, मनुष्य सबसे मिलें और पढ़ाने के साथ-साथ पढ़ें भी उन्हीं से। कभी बारिये के पास बैठें तो कभी बूढ़े नाई से हजामत बनवायें; सीता से कुर्त्ता सिलवायें और रूपा से पढ़ें।

आपने कहा था कुछ लिखना, तो उमंग आ गयी। न्यूयार्क पहुंचते ही मेरी भावुकता का खातमा हुआ ही समझिएगा। इतना लिखा तो सुख मिला।[1]

दिसम्बर, १९३१

१. यह किसी अध्यापक मित्र को लिखा हुआ पत्र था, जो उन्होंने दिलचस्प समझकर एक पत्रिका में छाप दिया था।

७. गंगोत्तरी

केदारजी की महिमा तो मैं मुद्दत से सुनता आ रहा था और यह भी सुना था कि यह यात्रा कठिन है, क्योंकि एक तो तेरह मील पैदल चलना पड़ता है और दूसरे साढ़े बारह हजार फुट की ऊंचाई लांघनी होती है, इसलिए यह यात्रा दुष्कर मानी जाती है। पर सन् १९७१ के सितम्बर में जब मैं केदारजी की यात्रा सफलतापूर्वक करके लौट आया तब एक नयी हिम्मत आ गयी और गंगोत्तरी की यात्रा करने की भी एक उमंग पैदा हुई।

केदारजी की यात्रा के मुकाबले गंगोत्तरी की यात्रा सहल मानी जाती है, इसलिए वहां जाने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। यह यात्रा भी १९७२ के अक्तूबर में मैं कर आया।

गंगोत्तरी के प्रशान्त वातावरण, वहां के अनुपम दृश्य और यात्रियों की गहरी श्रद्धा देखकर मुझ पर जो छाप पड़ी, तो सोचा कुछ लिख ही डालूं। इसी संकल्प का यह परिणाम है।

सही नाम 'गंगोत्री' है या 'गंगोत्तरी', इस पर वाद-विवाद हो सकता है। प्रचलित प्रयोग में तो लोग 'गंगोत्री' कहते हैं, पर इस शब्द के कुछ माने नहीं होते। यदि सही नाम 'गंगोत्तरी' है तो इसका अर्थ पूरा जम जाता है—'गंगा-उत्तरी', अर्थात्, उत्तरीय गंगा। यही शब्द सही है, ऐसा मैं मानता हूं।

प्राचीन लोगों ने जिस-जिस स्थान का नामकरण किया है, उसके पीछे उनका हेतु रहा है और कुछ अर्थ भी रहा है। नामकरण निरर्थक ही नहीं किया गया है, इन नामकरणों के पीछे गहरा सोचने से कुछ इतिहास भी मिल जाता है।

इसी दृष्टांत को सामने रखकर हम गुप्तकाशी, उत्तरकाशी के नामकरण के विषय में भी नतीजे पर पहुंच सकते हैं। उत्तरकाशी तो उत्तर की काशी स्पष्ट है। गुप्तकाशी के बारे में किम्वदंती यह है कि शंकर भगवान् तप करने के लिए कोई एकांत स्थान ढूंढ़ना चाहते थे, क्योंकि वाराणसी-काशी में उन्हें धूम-धड़क्का ज्यादा लगा, इसलिए एकांत की दृष्टि से उन्होंने गुप्तकाशी का चुनाव किया। काशी में तो धूम-धड़क्का आज भी वैसा ही जारी है। गुप्तकाशी आज भी तपस्या के लायक एकांत और उपयुक्त स्थान है। शंकर भगवान् का यह निर्णय संगत था।

इसी तरह रुद्रप्रयाग, विष्णुप्रयाग, सोनप्रयाग, देवप्रयाग इत्यादि के नामों के पीछे भी आशय है। जहां-जहां नदियों का संगम हुआ है, पूर्वजों ने उस स्थान का नाम प्रयाग रख दिया, ऐसा बोध होता है। इलाहाबादी प्रयाग भी गंगा-यमुना के संगम पर स्थित है।

प्रयाग नाम के पीछे भी कुछ तात्पर्य था। असल में तो प्रयाग उस स्थान को कहा गया है, जहां पर कोई बड़ा यज्ञ हुआ हो, पर इस मान्यता में भी झमेला पड़ जाता है, क्योंकि 'यज्ञ' शब्द का अर्थ भी व्यापक है।

गीता में भगवान् ने यज्ञों का जिक्र करते समय अर्जुन को बताया :

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

संसार के उत्पन्न करने के समय ईश्वर ने मनुष्यों के साथ-साथ ही यज्ञों की भी उत्पत्ति की और संसारियों से यह कहा कि यज्ञों से तुम फलोगे। यह यज्ञ तुम्हारी कामधुक अर्थात् कामनाओं को पूर्ण करने वाली गाय होगी, और फिर कहा कि तमाम कर्म ब्रह्म से पैदा होते हैं और ब्रह्म अविनाशी है, यज्ञ कर्मों से पैदा होते हैं, इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म सदा यज्ञ में स्थित है।

यज्ञों का महत्त्व बताते हुए यह भी कहा कि जो यज्ञ से बचा भोजन खाता है, अर्थात् जो सेवा करता हुआ पेट भरता है, वह सब पापों से मुक्त होता है। पर जो स्वार्थी होकर खाते हैं, अर्थात् अपने लिए ही जीते हैं, उन्हें न तो यह लोक है और न परलोक।

यज्ञ की व्यापक व्याख्या करते हुए भगवान् ने फिर बताया कि यज्ञ करने वाले कुछ 'द्रव्य-यज्ञ', कुछ 'तप-यज्ञ', कुछ 'योग-यज्ञ', कुछ 'स्वाध्याय-यज्ञ' और कुछ 'ज्ञान-यज्ञ' करते हैं।

इस तरह यज्ञ का अर्थ श्रीकृष्ण भगवान् ने जान-बूझकर व्यापक और विस्तृत कर दिया है। उनका आशय था कि लोग समझ लें कि घी और अन्य सामग्रियों को अग्नि में होमने-मात्र का नाम यज्ञ नहीं है। असल में तो जो कार्य अनासक्त भाव से 'सर्वभूतहिते रताः', अर्थात् परार्थ किया जाता है—वह सब यज्ञ है।

सूर्य अनासक्त भाव से हमें तेज देता है, वायु अनासक्त भाव से हमें प्राण देती है—नदियां भी अनासक्त भाव से हमारी भिन्न क्षेत्रों में सेवा करती हैं, वृक्ष फल देकर, छाया देकर, इंधन और आक्सीजन देकर प्राणिमात्र की सेवा करते हैं—ये सभी कार्य यज्ञ की व्याख्या में आ जाते हैं। इस माने में सूर्य, वायु, नदियां और वृक्ष सब निरंतर यज्ञ करते रहते हैं।

तरुवर सरवर संत जन चौथो बरसण मेह।
परमारथ के कारणे इनने धार्‌यो देह ॥

इस व्यापक और बृहत् व्याख्या को जान लेने पर हमें यह ज्ञात होगा कि प्रयाग का क्या तात्पर्य है। सब प्रकार के अनासक्त भाव से किये गए सेवा-कर्म यज्ञ हैं। जहां ऐसे यज्ञ होते हैं, चाहे वे यज्ञ मनुष्य करते हैं या नदियों के संगम, वे सभी प्रयाग हैं।

मेरा ख्याल है कि इन प्रयागों की यात्रा और पूजा में यात्री को शांति मिलती है, शुभ-कर्म की प्रेरणा होती है और वहां के वातावरण में धर्म की भावना जाग्रत होती है, इसलिए इन संगमों को पावन मानकर, इन्हें यज्ञ का प्रतीक समझकर इन पर बसे स्थानों का नाम आचार्यों ने प्रयाग रख दिया, ऐसा मानना चाहिए।

खैर, मैं जान-बूझकर इस विचारधारा के चक्र पर चढ़ बैठा हूं, क्योंकि इससे कुछ इतिहास की कल्पना होती है—विचार करने का मसाला मिलता है, पूर्वजों की बुद्धि और उनकी कल्पना के प्रति हमारा आदर बढ़ता है और यदि इस छानबीन में हमें कोई कुंजी मिल जाय तो आत्म-संतोष भी होता है। यह चर्चा पाठकों की कल्पना और विचार-शक्ति को भी यदि उत्तेजित करेगी तो उनका भी भला होगा।

गंगा की महिमा अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है। नदियां अनेक हैं, पर जो महिमा गंगा की है और जो भक्ति और श्रद्धा गंगा के प्रति हजारों साल से चली आ रही है वह और किसी नद और नदी को उपलब्ध नहीं है। जब से आर्यावर्त्त का इतिहास शुरू होता है, तभी से गंगा की कथा भी आरम्भ होती है। यमुना और गंगा के बीच के प्रदेश को ही आर्यावर्त्त कहा है, इसी से गंगा का महत्त्व समझ में आ सकता है।

श्रद्धालु भक्त काशी में गंगा-स्नान करते हैं, फिर लालसा बाकी रह जाती है, तो प्रयाग जाते हैं, फिर हरिद्वार और हृषीकेश स्नान करते हैं, पर इस पर भी भूख बनी ही रहती है, इसलिए इन सबके बाद गंगोत्तरी में गंगा-स्नान और माई का दर्शन कष्ट सहकर भी भक्त लोग करने जाते हैं।

गंगोत्तरी गंगा का मूल स्रोत माना जाता है, इसलिए और तीर्थों के बाद भी गंगोत्तरी का स्नान और माई के दर्शन का माहात्म्य यात्रियों को खींच ले जाते हैं। इसी आकर्षण से प्रेरित होकर लाखों यात्री गंगोत्तरी की यात्रा के लिए जाते हैं।

ग्रीष्म में तो बड़ी भीड़ रहती है, पर हम अक्तूबर में गये थे, उस शीतकाल में भी यात्रियों की कमी नहीं थी। प्रायः ठिठुरने वाली सर्दी इस मौसम में पड़ती है, जो काफी कष्टप्रद है, पर श्रद्धा के सामने यात्री यह कष्ट भूल जाते हैं।

एक वृद्धा को हमने देखा, जो दमे से पीड़ित थी, पर लाठी के बल गिरती-पड़ती गंगा माई का दर्शन तो कर ही आयी।

किन्तु, गंगोत्तरी का स्नान और गंगा माई के दर्शन के बाद भी एक और अभिलाषा बाकी रह जाती है। उसको पूरा करने के लिए यात्री और ऊपर जाते हैं, वे गोमुख की चढ़ाई करते हैं।

गोमुख गंगोत्तरी से दस मील आगे है। ऊंचाई बारह हजार फुट है। असल

में गंगा का मूल स्रोत तो गोमुख से निकलता है। इसलिए यहां का माहात्म्य और भी वढ़ा-चढ़ा माना गया है।

एक ग्लेशियर—तुषारनद—है, जिसमें से पानी का स्रोत निकलता है। चूंकि वह हिमाच्छादित और बिलकुल धवल है, इसलिए गाय के मुख-जैसा दीखता है, इसलिए इस तुषारनद को गोमुख की उपमा मिल गयी।

पूर्वजों का जीवन काव्यमय था और जब वे सौंदर्य-मुग्ध होकर भावना में समाधिस्थ होते थे, तब उनकी कल्पना वेग से उत्तेजित हो जाती थी। इसी कल्पना की उड़ान में जैसे वाल्मीकि को अनायास अनुष्टुप मिल गया, वैसे ही इन आचार्यों की जिह्वा से भी उपयुक्त शब्द अपने-आप निकल पड़ते थे। इसका प्रमाण तो हमें भारतवर्ष के हर कोने-कोने में मिलता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में जाइए।

शंकराचार्य की गद्दी भारतवर्ष के चार खूंटों पर स्थापित हुई, उनके स्थान और नामकरण भी सुन्दर हैं। जहां सौन्दर्य देखा, वहां पूर्वजों ने मंदिर या मठ-स्थापन कर दिया। पूर्वजों ने मूल स्रोत का नाम गोमुख इसी काव्यमयी भावना से प्रेरित होकर रखा। यह स्थान सौन्दर्य और शांति का अनुपम निकेत है।

पर जब हम गंगा के मूल स्रोत का दर्शन करके वहां स्नान करके मग्न होते हैं और शांति अनुभव करते हैं, तब हमारी मुमुक्षु-वृत्ति जाग्रत होकर यह प्रश्न करती है कि आखिर गंगा की महिमा इतनी क्यों ? इसका इतिहास क्या है ? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? स्नान-मात्र से पाप क्यों कट जाते हैं ? गंगाजल पीने का इतना माहात्म्य क्यों ? इसके उत्तर के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ गहरे उतरें।

हमें यह तो निश्चय समझ लेना चाहिए कि हमारे पूर्वज वहमी और अन्ध-श्रद्धा के शिकार नहीं थे, जो महज बिना सिर-पैर की कथा सुनकर भूलभुलैया में पड़ जाते। जब विचक्षण लोग कहते थे कि गंगा-स्नान और गंगाजल पीने मात्र से पाप कट जाते हैं, तब उसके पीछे उनका ऐसा तात्पर्य होता था जो तर्क की कसौटी पर कसा जा सकता था और प्रमाणित भी किया जा सकता था।

'नेति नेति' कहने वाले और 'बुद्धं शरणम्' वाक्य के वक्ता और श्रोता शंका-समाधान होने पर ही परिणाम को स्वीकार करते थे। जिस देश में 'स्वतः प्रमाणम्. परतः प्रमाणम्' शास्त्रार्थ चलता ही रहता था और किम्वदंती यह भी है कि मंडन मिश्र के घर पर पिंजरे में बैठे तोता और मैना भी शास्त्र पर वाद-विवाद करते थे, उस देश के लोग बिना प्रश्नोत्तर और शंका-समाधान के बड़ों की व्यवस्था मूक होकर स्वीकार कर लेते, ऐसा नहीं माना जा सकता।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता सुनायी, तो भगवान् के अवतार होते हुए भी अर्जुन ने बिना प्रश्न पूछे सभी उपदेशों को स्वीकार नहीं कर लिया। उसने बार-

बार प्रश्न किया और उत्तर मांगा और उत्तर मिला तब संतोष हुआ।

इसलिए गंगा-स्नान की महिमा सुनते समय हमें यह जान लेना है कि संस्कृत में स्नान शब्द को अवगाहन भी कहते हैं। अवगाहन का अर्थ स्नान तो होता ही है, पर इसका दूसरा अर्थ है गहरा उतरना, डुबकी मारना। गंगा-स्नान की जब हम महिमा सुनें, तब यह समझना चाहिए कि यह महिमा केवल जल-स्नान की नहीं है, महिमा अवगाहन की है। गंगा के स्नान के माने हैं गंगा में गहरा उतरना, अर्थात्, उसके चरित्र को समझना और हृदयंगम करना।

गंगा के जीवन और चरित्र में गहरे उतरकर और डुबकी मारकर अपने-आपको गंगा में शराबोर कर देना है, अर्थात् गंगा के चरित्र को अपने-आप में अवतीर्ण करना है। उसी से पाप कटते हैं। गंगा के अवगाहन में पापों से मुक्ति है, नरक से मुक्ति मिलती है और भगवान् का साक्षात्कार होता है। केवल जल-स्नान निष्फल है। अवगाहन ज्ञान और विवेक से होता है।

आखिर पशु-पक्षी भी गंगा-स्नान तो करते हैं, और गंगाजल-पान भी करते हैं, पर वे अवगाहन नहीं करते, क्योंकि उनमें विवेक-बुद्धि नहीं है। माहात्म्य अवगाहन का है, न कि जल-स्नान का। गंगाजल-पान का भी यही आशय है कि गंगा का जीवनामृत पीकर गंगा का अनुसरण करना।

गंगा की उत्पत्ति का क्या इतिहास है ? शास्त्रों में जब हम गंगा की उत्पत्ति और माहात्म्य पढ़ें, तब हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि प्राचीन शास्त्र और पुराण केवल इतिहास नहीं हैं। इतिहास नहीं हैं, ऐसी बात भी नहीं है। इतिहास भी है, पर इतिहास और शिक्षा का समन्वय है, इतिहास लिखते समय शिक्षा का मिश्रण करने के लिए व्यास को कल्पना का घोड़ा दौड़ाने की पूरी स्वतन्त्रता रही है। शिक्षा-प्रधान रखकर जब कोई वाक्य कहा जाता है, तब फिर इतिहास का जामा शिक्षा को प्राधान्य देने के लिए स्वेच्छापूर्वक बदल दिया जाता है। आचार्यों को यह जामा बदलने का पूर्ण अधिकार रहा है। इस अधिकार के विषय में किसी ने आपत्ति नहीं की। यह प्राचीन रूढ़ि अन्य देशों में भी प्रचलित रही है।

इस लक्ष्य को सामने रखकर हम शास्त्रों को पढ़ें, तो शब्द की अवहेलना करके तत्त्व की खोज में उतर जायंगे। गंगा में अवगाहन, अर्थात् डुबकी लगाने—सराबोर होकर गहरे उतरने के लिए हमें शब्दों को छोड़कर तत्त्व में घुसना पड़ेगा। इसलिए गंगा की उत्पत्ति और माहात्म्य को भी तात्त्विक दृष्टि से जानना होगा।

तुलसीदासजी ने गंगा की महिमा गाते समय उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा था :

> जिहि चरनन से निकसी सुरसरि संकर-जटा समायी।
> जटासंकरी नाम पर्‌यो है, त्रिभुवन तारन आयी॥

भगवान् के चरणों से उद्‌भव होने की यह कथा पुराणों से ही संकलित हुई

है। श्रीमद्भागवत में यह कथा इस प्रकार है: "यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णु ने त्रिलोकी को नापने के लिए जब अपना पैर फैलाया, तब उसके बायें पैर के अंगूठे के नख से ब्रह्मांडकटाह का ऊपर का भाग फट गया। उस छिद्र में होकर ब्रह्मांड से जल की जो धारा गिरी, उसी निर्मल धारा को 'भगवत्पदी' कहते हैं, जो गंगाजी का ही नाम है। वहां से गंगाजी करोड़ों विमानों से घिरे हुए आकाश में होकर उतरती हैं और चन्द्रमंडल को आप्लावित करती हुई मेरु शिखर पर ब्रह्मपुरी में गिरती हैं। सीता, अलकनंदा, चक्षु और भद्रा नाम से चार धाराओं में विभक्त होकर यह गंगाजी अन्त में नद-नदियों के अधीश्वर समुद्र में गिर जाती हैं।"

तुलसीदासजी और भागवत के इन दोनों वचनों अर्थात् भगवान् के चरणों से उद्भव होने के विषय में पूरा मेल है और अर्थ भी स्पष्ट है। समुद्र की वाष्प ऊपर उठकर करोड़ों विमानों (मेघों) से घिरे हुए आकाश (विष्णु-चरण) से निकलकर हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों (शंकर-जटा) में समाकर अन्त में 'त्रिभुवनतारण' करती हुई, लोकों का कल्याण करती हुई, समुद्र में गिरती हैं।

भागवतकार ने गंगा को भगवत्पदी कहा है और सीता, अलकनंदा, चक्षु और भद्रा—इन चार धाराओं में विभक्त माना है। कोश में गंगा को भागीरथी, भागवती, जाह्नवी, त्रिजटेश्वरी नामों से भी पुकारा है और उसे त्रिपथगामिनी कहा है। इन सबका अर्थ प्रायः स्पष्ट है, पर भागवतकार ने चार धाराओं में गंगा को विभक्त किया है, तो कोशकार ने इसे त्रिपथगामिनी कहा है। गंगा की धाराएं प्राचीन काल में तीन थीं या चार, यह पुराण-भूगोल के पंडित ही बता सकते हैं। यह विषय अन्वेषण के योग्य है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, गंगा का एक नाम भागीरथी भी है। इसके पीछे भी एक कथा है, जो इस प्रकार है:

सगर नाम का एक यशस्वी राजा था। उसके पुत्रों ने पृथ्वी खोदकर उसे समुद्र बना दिया था। सगर ने तालजंघ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जाति के लोगों का वध नहीं किया, पर उन्हें विरूप बना दिया। उनमें से कुछ के सिर मुंड़वा दिये, कुछ के मूंछ-दाढ़ी रखवा दी, कुछ को खुले बालों वाला बना दिया तो कुछ का आधा सिर मुंड़वा दिया। कुछ लोगों को सगर ने केवल वस्त्र ओढ़ने की ही आज्ञा दी, पहनने की नहीं। कुछ को केवल लंगोटी पहनने दी, ओढ़ने की इजाजत नहीं दी।

सगर ने अश्वमेध-यज्ञ के द्वारा भगवान् की आराधना की, पर यज्ञ में जो घोड़ा छोड़ा गया, उसे इंद्र ने चुरा लिया। सगर के पुत्रों ने अपने पिता की आज्ञा मानकर सारी पृथ्वी छान डाली, पर घोड़ा उन्हें नहीं मिला।

खोजते-खोजते उन्हें पूर्व और उत्तर के कोने पर कपिल मुनि के आश्रम में अपना घोड़ा दिखाई दिया। घोड़े को देखकर साठ हजार राजकुमार चिल्ला उठे

और कहने लगे कि यही हमारे घोड़े का चोर है। इंद्र ने राजकुमारों की बुद्धि हर ली थी, इसी से उन्होंने कपिल मुनि-जैसे महापुरुष का तिरस्कार किया। इस तिरस्कार के फलस्वरूप उनके शरीर में ही आग जल उठी, जिससे क्षण-भर में वे सब-के-सब जलकर खाक हो गये। साठ हजार राजकुमारों का शरीर राख के ढेर में परिणत हो गया।

सगर की एक दूसरी पत्नी का नाम था केशिनी। उसके गर्भ से उन्हें असमंजस नाम का पुत्र हुआ था और उसका पुत्र था अंशुमान। वह अपने दादा सगर की सेवा में लगा रहता था। सगर की आज्ञा से उसका पौत्र अंशुमान घोड़े को ढूंढ़ने के लिए निकला। उसने अपने चाचाओं के द्वारा खोदे हुए समुद्र के किनारे-किनारे चलकर उनके शरीर की भस्म के पास ही घोड़े को देखा।

अंशुमान ने जब भगवान् कपिल मुनि की स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया, तब मुनि ने अंशुमान पर अनुग्रह करके कहा, "बेटा! यह घोड़ा तुम्हारे पितामह का यज्ञपशु है, इसे ले जाओ, पर तुम्हारे जले हुए चाचाओं का उद्धार तो केवल गंगाजी से ही होगा।"

यह सुनकर अंशुमान ने गंगाजी को लाने की इच्छा से बहुत वर्षों तक घोर तपस्या की, पर असफल रहा। अंशुमान के पुत्र दिलीप ने भी वैसी ही तपस्यां की, परंतु वह भी असफल रहा। समय पर उसकी मृत्यु हो गयी।

दिलीप का पुत्र था भगीरथ। उसने बहुत बड़ी तपस्या की। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवती गंगा ने उसे दर्शन देकर कहा, "मैं तुम्हें वर देने के लिए आयी हूं।" गंगा के ऐसा कहने पर राजा भगीरथ ने बड़ी नम्रता से अपना अभिप्राय प्रकट किया और कहा कि आप मर्त्यलोक में चलिए। परिश्रम और तप करते-करते जब तीन पीढ़ियां बीत गयीं, तब गंगा ने अवतरण स्वीकार किया। पर गंगाजी ने कहा, "जिस समय मैं स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरूं, उस समय मेरे वेग को कोई धारण करने वाला होना चाहिए। ऐसा न होने पर मैं पृथ्वी को फोड़कर रसातल में चली जाऊंगी।"

भगीरथ ने उत्तर दिया, "माता! मैं भगवान् शंकर से प्रार्थना करूंगा कि वह आपको झेल लें।" भगीरथ ने तपस्या के द्वारा भगवान् शंकर को भी प्रसन्न कर लिया।

थोड़े ही दिनों में महादेवजी उन पर प्रसन्न हो गये। भगवान शंकर ने राजा को 'तथास्तु' कहकर गंगा को झेलना स्वीकार कर लिया और सावधान होकर गंगाजी को अपने सिर पर धारण किया। तुलसीदासजी की 'जटाशंकरी' और भागवत की 'जटाशंकरी' दोनों में यहां मेल मिल जाता है। यदि गंगा हिमालय में न पड़कर पृथ्वी-तल पर पड़ती, तो एक भयंकर बाढ़ आ सकती थी। इसलिए गंगा का वचन सही था।

इसके बाद भगीरथ त्रिभुवनपावनी गंगाजी को वहां ले गये, जहां उनके

पितरों के शरीर राख के ढेर बने पड़े थे। वे वायु के समान वेग से चलने वाले रथ पर सवार होकर आगे-आगे चले और उनके पीछे-पीछे मार्ग में पड़ने वाले देशों को पवित्र करती हुई गंगाजी दौड़ीं। इस प्रकार गंगासागर संगम पर पहुंचकर उन्होंने सगर के जले हुए पुत्रों को अपने जल में डुबो दिया।

यह अत्यंत ही दिलचस्प कथा है। इसके अर्थ का अक्षरशः निष्कर्ष तो कठिन है,पर तात्पर्य निकाल सकते हैं। वह यह है कि हिमालय से नीचे उतारकर गंगा को समतल में संचालन करने का श्रेय भगीरथ को है। भगीरथ जैसे-जैसे रास्ता बनाता गया या नहर खोदता गया, अर्थात टेढ़े-मेढ़े स्रोतों को एक-दूसरे में मिलाकर एकीकरण करके मार्ग दिखाता गया, वैसे-वैसे गंगा उसके पीछे चलती गयी।

यह एक वृहत् योजना थी—एक प्लान था—जो धीरज और तीन पीढ़ियों के अथक परिश्रम के बाद सफल हुआ। यह यश भगीरथ को मिला। इसलिए गंगा का नाम भागीरथी पड़ा।

सगर ने यवन, बर्बर, शक और अन्य बाहरी जातियों के लोगों की दाढ़ी-मूंछें मुंड़वा दीं या पूरा वस्त्र नहीं पहनने दिया, और किसी को केवल लंगोटी ही दी, यह प्रसंग गंगा की कथा में अप्रासंगिक मालूम होता है, पर दिलचस्प भी है। इसमें इतिहास कितना है, यह कहना तो कठिन है, पर किम्वदंती के आधार पर लिखी हुई कथा में कुछ तो तथ्य होगा ही। इतना तो स्पष्ट है कि यवन, शक आदि बाहरी जातियां सगर की प्रिय पात्र नहीं थीं।

पर, एक और कथा है जो और भी उलझन पैदा करती है। गंगा ने शांतनु से विवाह किया।

भगवान् के चरणों से निकली गंगा नदी, वह मनुष्य शांतनु से असम्भव विवाह कैसे करती, यह प्रकृति के विरुद्ध अनहोनी कथा है। नदी और मनुष्य का यह विवाह रूपक हैं—यह मानना होगा। पर रूपक है, तो भी उसका भी कुछ अर्थ तो है ही।

रूपक में कल्पना की उड़ान तो है, पर उसमें भी अर्थ होता है, यह दूसरी बात है कि उस अर्थ को हम खोज पाते हैं कि नहीं। गंगा का अत्यंत वेगमय और मनमाना स्वभाव तो था ही, शांतनु से विवाह करके भी गंगा पूरी शांत नहीं हुई। सात पुत्रों को तो उसने बहा ही दिया, पर आठवें पुत्र को बहा देने से जब शांतनु ने रोका, तब क्रुद्ध होकर गंगा अंतर्धान हो गयी। यही आठवां पुत्र भीष्म था।

कौरवों के पितामह भीष्म तो ऐतिहासिक हैं, ऐसा मानना ही चाहिए। शांतनु भी ऐतिहासिक ही होगा। पर, रूपक और इतिहास का यह मिश्रण हमारेआचार्यों ने जान-बूझकर किया है, इसलिए सात पुत्र बहा देने की गंगा की कथा को रूपक मानकर क्या हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि गंगा ने सात धाराएं सिमेटकर

उसकी केवल एक ही धारा भीष्मकर्मा रखी, जो आज भी देश का भीष्म कल्याण करती है ? कौन जाने ?

भीष्म ब्रह्मचारी था, इसलिए उसे कोई संतान नहीं हुई। गंगा की एक भीष्मकर्मा धारा नयी संतान से वंचित होकर एक ही धारा में प्रवाहित चली आ रही है। हालांकि पिछले सौ वर्षों से सरकार ने नयी-नयी नहरें निकालकर एक महत् धारा की कई संतानें वना दी हैं। वे सव प्रजा का कल्याण भी करती हैं।

क्राइस्ट का जन्म कहां हुआ और वह कहां-कहां रहा, उसका जीवन कैसा था, उसके साथी कौन-कौन थे, वह भारतवर्ष की यात्रा भी कर गया था क्या ? इन ब्रातों पर यूरोप के वैज्ञानिकों ने काफी शोध और अनुसंधान किया है और कर रहे हैं। नयी खोजें हुई हैं। 'डेड सी-स्क्रोल' के कागज उपलब्ध हुए हैं, जिनसे क्राइस्ट पर नया प्रकाश पड़ा है।

पर खेद है कि हमारे पुरातत्त्वविशारदों ने यह खोज नहीं की कि गंगा हिमालय से उतरकर कितनी धाराओं में प्रवाहित हुई—तीन-चार या सात ? कितनी धाराएं सिमट गयीं, कौन-सी बाकी रही और भगीरथ ने किस तरह गंगा का एकीकरण करके उसका एक ही धार में संचालन किया, यह खोज इतनी कठिन नहीं है, क्योंकि पुरानी धाराओं के अवशेष-चिह्न खोज-पड़ताल से आज भी मिल तो सकते हैं।

पर, देखें कौन माई का लाल हमें यह नया ज्ञान देगा !

जो हो, ये सारी-की-सारी कथाएं इतिहास, किम्वदन्ती, रूपक, कल्पना और भगोल से इतनी घुली-मिली पड़ी हैं कि विशारद लोग जब अनुसंधान करेंगे तव हमें काफी नया मसाला मिलेगा, जो भूले हुए इतिहास पर नया प्रकाश डालेगा।

गंगाजी के दर्शन से पाप कटते हैं, स्नान से नरक कटते हैं, गंगाजल के पान से यम-त्रास मिटता है, यह सब सही है; पर गंगोत्तरी या काशी किसी भी स्थान पर गंगा का सम्यक् दर्शन असम्भव है।

गंगोत्तरी में गंगाजी की धारा के एक छोटे-से हिस्से का दर्शन होता है—हृषीकेश और प्रयाग में भी धारा का एक हिस्सा ही दिखाई दे सकता है। भौतिक चक्षुओं से, हमारे पास दूरवीन भी हो, तो भी थोड़ा-सा ही हिस्सा हमें दीख पड़ेगा। भौतिक चक्षुओं की तो आखिर मर्यादा है। वे इससे आगे जा ही नहीं सकते।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जव विराट् स्वरूप का दर्शन कराया, तव उसको कहा कि तुम अपनी इन भौतिक आंखों से मेरे इस विराट स्वरूप का दर्शन नहीं कर सकते, इसलिए मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूं, उनसे तुम मेरा विश्वरूप देख सकोगे। जव उसे यह दिव्य चक्षु मिला, तव उसने देखा कि यह विश्वरूप अनंत था, न इसका आदि था, न मध्य, न अंत। सारे विश्व में वह व्याप्त था।

ऐसे रूप को कोई भौतिक चक्षुओं से क्या देखे और क्या भौतिक वाणी से उसका वर्णन करे ! तो भी कुछ मूर्ख लोग विराट् स्वरूप का चित्र बनाकर उसकी पूजा करते हैं । चित्र का तो आदि, मध्य, अंत सब-कुछ होता है और वह केवल एक कागज के टुकड़े में ही सीमित है । वह विराट् स्वरूप तो सारे विश्व में व्याप्त था, इसलिए कागज पर उसका चित्र असम्भव है । वह तो दिव्य चक्षु अर्थात् विवेक और बौद्धिक चक्षुओं से ही देखा जा सकता है ।

जब हम किसी मकान में प्रवेश करते हैं, तब हम ईंट, चूना, पत्थर सबमें मिट्टी देख सकते हैं, केवल बुद्धि के बल पर । पर जब केवल मिट्टी देखते हैं तब उसमें मिट्टी की बनी सारी सामग्रियों को देखना कल्पनातीत हो जाता है, क्योंकि मिट्टी की बनी सारी सामग्रियों का हमें ज्ञान भी कहां है ? उस मिट्टी में मकान, महल, कुटिया, हंडिया, सुराही, खनिज पदार्थ, सोना, चांदी, तांबा इत्यादि न जाने और कितनी सामग्रियां समायी हैं, जिनकी हमें पूरी जानकारी भी नहीं है, इसलिए उसके भीतर सारी सामग्रियों को देखने के लिए दिव्य चक्षु चाहिए ।

इसी तरह गंगा माई के सम्यक् दर्शन करने के लिए भी दिव्य चक्षु चाहिए । यह दर्शन भौतिक चक्षुओं की सीमा के बाहर है और वर्णनातीत भी है, केवल बुद्धिगम्य है ।

समुद्र से, नदियों से, गंदे नाले से, सरोवर से, हमारे श्वास-प्रश्वास से और हमारे पसीने से जो भाप निकलती है, वह सब आकाश में बादल बनकर ऊपर जाती है और वहां वह विष्णुपद (बादलों) से निकलकर शंकर-जटा (हिमालय की चोटियों) पर गिरकर, नीचे आकर सारे भारतवर्ष को लांघकर समुद्र में लीन हो जाती है और फिर वहां से पुनर्जन्म लेकर उसी चाल से फिर प्रलय की ओर जाती है ।

गंगा का जन्म है और प्रलय भी है । फिर जन्म है और फिर प्रलय है । यह सारी लीला हम दिव्य चक्षु अर्थात विवेकचक्षु से ही देख सकते हैं ।

मनुष्य-जीवन का भी यही क्रम है—जन्म और प्रलय :

पुनरपि जननं पुनरपि मरणम् ।
पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।।

गंगाजी का सम्यक् दर्शन हम दिव्यचक्षु से देखकर उसको हृदयंगम करके अपने आचरण में काट-छांट करें, तो हम पापों से मुक्त हो जाते हैं ।

संसार-चक्र एक अद्‌भुत रहस्य है । गीताकार ने कहा है "इस रहस्य को कुछ लोग आश्चर्यवत् देखते हैं, कुछ आश्चर्यपूर्वक कहते हैं, कुछ आश्चर्यवत् सुनते हैं और अन्य सुनकर भी इसे नहीं समझते ।"

जीवन का लक्ष्य है जन्म के बाद गंगाजी की तरह सेवा करते-करते प्रलय होना और इसी बुनियाद पर हमारे आचरणों को एक नया मोड़ देकर जीवन

को यज्ञमय बना देना। इसी से तमाम पाप कटते हैं। भगवान ने गीता में कहा है :

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

अर्थात्, "जो इस संसार-चक्र का अनुसरण नहीं करता और इंद्रियों के भोगों में ही लिप्त है, वह वृथा जीता है।"

गंगा ने इस संसार-चक्र का अनुसरण किया। हमें भी शास्त्र कहते हैं : इस संसार-चक्र का अनुसरण करो।

यदि गंगा के इस जन्म और प्रलय और जीवन-चरित्र को हम नहीं समझें और अपने जीवन को इसी ढांचे में नहीं ढालें तो जीवन वृथा है।

गंगा जब शंकर-जटा में पड़ती है, तब छोटी-छोटी बूंदें बनकर। इसके अनंतर गोमुख से एक छोटा-सा स्रोत निकलता है। गंगोत्तरी में यह कुछ और विस्तृत बन जाती है। जैसे-जैसे आगे चलती है, गंगा का शरीर बढ़ता जाता है, उसका विस्तार होता जाता है। पास के नदी-नाले मिल जाते हैं। हिमालय के नीचे पहुंचते-पहुंचते यह विशद हो जाती है, फिर हृषीकेश हरिद्वार होकर प्रयाग पहुंचती है, तो यमुना को भी मिला लेती है—विस्तार और भी फैल जाता है। अंत में काशी होती हुई समुद्र में लीन होकर अपना व्यक्तित्व उसी बृहत् सागर में प्रसन्नतापूर्वक विलीन कर देती है, जहां से पहले उसका उद्‌गम हुआ था। यह सम्यक् दर्शन हम दिव्य चक्षु से ही कर सकते हैं। यह दर्शन अवश्य ही रोमांचकारी है।

इस जीवन-काल में गंगा ने हजारों मील की यात्रा की, कभी मुड़कर नहीं देखा। हृदय विशाल रखा, कभी कृपणता नहीं की। सारी यात्रा में तटवर्ती वृक्षों को पोषण देती आयी। नगर और ग्राम सबकी पिपासा बुझायी, उनको पोषण दिया, यातायात का साधन दिया। इसके जल में रहने वाले जीव-जन्तुओं का सहारा रही। बहती हुई गंगा मेघों को भी पानी देती गयी। सबको दिया, सबका उपकार किया, किसी का बुरा नहीं किया, सबकी भलाई की, पर किसी से कुछ मांगा नहीं।

संक्षेप में, जब से गंगा का उद्‌भव हुआ, तब से लगाकर इसके प्रलयकाल तक वह सेवा ही करती रही। जन्मकाल में आह्लादित नहीं हुई। प्रलय में शोकार्त्त नहीं हुई। प्रलय में भी उसी तेज से, उसी प्रसन्नता से, सागर में मिल गयी। सारा जीवन पुण्य और यज्ञ करते-करते बीता।

ब्रह्म से उद्‌भव होकर हम सभी ब्रह्म में विलीन होते हैं, पर इस त्रिभुवनतारिणी गंगा के जीवन को हम अपने सामने आदर्श रखकर अपने-आपमें उसे प्रविष्ट करावें तभी हमारे पाप कटते हैं। इसी को अवगाहन—स्नान—कहते हैं, इसी को गंगाजल का पान कहते हैं। इस मर्म को समझते ही हम नरक से छूटते

हैं, यम की यातना से मुक्त होते हैं, पाप कटते हैं, भगवान् का दर्शन करते हैं। गंगोत्तरी की यात्रा का यही माहात्म्य है।

जय गंगा माई की !

८. जमुनोत्तरी

गंगोत्तरी की यात्रा समाप्त करने के बाद मैंने 'हिन्दुस्तान' में गंगोत्तरी पर एक लेख लिखा था। गंगा की उत्पत्ति की पृष्ठभूमि और उसकी महिमा के सम्बन्ध में अपने ढंग से मैंने कुछ विवेचना भी की थी।

अब मैं जमुनोत्तरी की यात्रा भी कर आया तो जमुना के सम्बन्ध में भी कुछ लिखने का संकल्प हुआ। उसी का परिणाम यह लेख है।

पर जमुना की कहानी गंगा से सर्वथा भिन्न है। गंगा का एक स्वतंत्र माहात्म्य बन गया है। इसका इतिहास, इसका जीवन, सबकुछ निराला है। भगवान् के चरणों से इसका निकास हुआ और शंकर की जटा ने इसको झेला। फिर आगे चली तो सबको कुछ देती ही गई। इसलिए यद्यपि नदियां भारतवर्ष में सैकड़ों हैं, तथापि गंगा की महिमा इन सबसे बढ़ी-चढ़ी है। गंगा की महिमा न तो गंगोत्तरी के कारण है, न हरिद्वार और प्रयाग पर अवलम्बित है, बल्कि हरिद्वार और प्रयाग की ख्याति गंगा के कारण है। गंगा की महिमा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि इसका जन्म और जीवन दोनों परार्थ हुए। जहां से गंगा का प्रवाह निकला और जहां से यह प्रयाण करती हुई, जिन-जिन स्थानों के समीप से आगे बढ़ी, उन-उन सभी स्थानों को यह पवित्र करती गई और उनका उपकार करती हुई समुद्र में जा गिरी। यही इसके उत्कृष्ट माहात्म्य का कारण है।

जमुना की महिमा भी है, पर वह विशेषतया इसलिए कि वह श्रीकृष्ण भगवान् का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गई थी। श्रीकृष्ण के जन्म के बाद जब वसुदेवजी बाल-कृष्ण को सिर पर टोकरी में रखकर नन्दबाबा के यहां गोकुल छोड़ने गए, तभी से भगवान् का और जमुना का सम्पर्क शुरू होता है और यह सम्पर्क जब-तक श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारिका नहीं चले गए तबतक जारी रहा और दृढ़ बनता चला गया। प्राचीन और अर्वाचीन कवियों ने जब-जब श्रीकृष्ण का स्मरण किया, तब-तब उनके स्मृति-पट पर जमुना भी अपना पद-चिह्न छोड़ती चली गई। दिल्ली की जमुना या आगरे की जमुना का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व

नहीं है, क्योंकि वहां श्रीकृष्ण नहीं थे। महिमा है मथुरा या व्रज की जमुना की, जहां श्रीकृष्ण ने अपने बाल-पराक्रम से असुर-सृष्टि में तहलका मचा दिया और सन्त-सृष्टि में आनन्द की लहर जगा दी।

शास्त्रों और पुराणों के अनुसार जमुना के तट पर कई महान् यज्ञ हुए। ध्रुव ने जमुना के तटवर्ती मधुवन में जाकर तप किया और ईश्वर का साक्षात्कार किया। मनु ने भी पुत्र-कामना से जमुना के तट पर तप करके दस पुत्रों की प्राप्ति की। अम्बरीष ने जमुना-तट पर तप और व्रतों का साधन करके भगवान् की कृपा-संपादन की। इस तरह जमुना के तट पर यज्ञ और व्रतों के अनुष्ठानों की कोई कमी नहीं रही है। भारतवर्ष में छोटे-मोटे सभी तीर्थों की गाथा इसीलिए गाई गई है कि उन सभी पर व्रत और यज्ञों का अनुष्ठान होता रहा है। पुष्करराज की तो बात ही क्या ! काशी की ज्ञानवापी का भी माहात्म्य है। जमुना का भी काफी माहात्म्य है, फिर भी हम इसी निर्णय पर पहुंचेंगे कि जमुना का विशेष माहात्म्य तो इसीलिए है कि उसकी एक-एक बूंद श्रीकृष्ण की क्रीड़ाओं से सुवासित है। श्रीकृष्ण को उसने साक्षात् देखा, जमुना पर भगवान् की छाया पड़ी और वह छाया अमिट रही।

जयदेव कवि ने 'धीर समीरे यमुना तीरे, बसति बने बनमाली' गाकर जब बनमाली को याद किया, तब साथ-साथ उसे जमुना का भी स्मरण हो आया। 'भरन जो गई जल, जमुना-तट, पनघट नटनागर को प्रगट दरस भयो', यहां भी नटनागर का प्रगट दरस जमुना के पनघट पर ही होता है। वंशीवट भी जमुना के तट पर था। जमुना और श्रीकृष्ण के इस घनिष्ठ सम्बन्ध की घटनाओं से सारा 'भागवत' भरा पड़ा है। जमुना के माहात्म्य का इस तरह श्रीकृष्ण के माहात्म्य से अनुबन्ध है, इसलिए जमुना ने भी अपनी सीमित मर्यादा का अनुभव करके अन्त में प्रयाग जाकर गंगा को आत्म-समर्पण कर दिया।

इस गंगा-जमुना के संगम की अत्यन्त महिमा है। संगम के कारण प्रयाग की ख्याति बढ़ गई, पर इस संगम में जमुना सम्पूर्णतया विलीन हो गई। आखिर गंगा-जमुना का संगम होने के बाद यह क्या जरूरी था कि गंगा ही रह जाय और जमुना विलीन हो जाय, पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गंगा के महत्त्व के सामने जमुना का अस्तित्व ठहरना मुश्किल था। इसलिए जमुना का निर्णय सही था। दोनों का संगम होकर जमुना-गंगा में से केवल एक गंगा ही रह गई, जो गंगासागर तक गंगा ही रही।

जमुना की अपनी स्वतन्त्र महिमा न सही, पर श्रीकृष्ण का यह निकट सम्पर्क जमुना के लिए कोई कम लाभ नहीं था। यह एक दुर्लभ आशीर्वाद था। महापुरुषों का सम्पर्क उत्कृष्ट पुण्य का ही प्रताप होता है। राम के सम्पर्क से ही हनुमान की पूजा हुई। हनुमान की बड़ाई यह है कि वह राम का पायक था, इसलिए राम

की महत्ता का अंश हनुमान के हिस्से में भी आ गया।

अर्जुन की ख्याति भी यह है कि वह श्रीकृष्ण का सखा था। नर और नारायण ने वदरिकाश्रम में साथ-साथ तप किया था। नर तो अर्जुन के रूप में प्रकट हुआ और नारायण ने श्रीकृष्ण भगवान् का शरीर धारण किया। यदि अर्जुन न होता तो गीता न होती। गीता के जन्म का श्रेय श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों को है। महापुरुषों की संगत भी जीवन की एक अपूर्व घटना होती है। उसका फल भी महान् होता है। श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्बन्ध ने एक महान् ग्रन्थ का उदय किया। 'दोग्धा गोपाल नन्दनः। पार्थो वत्सः' यह यथार्थ वाक्य है।

इसलिए भगवान् का और जमुना का सम्पर्क यह जमुना के लिए एक दुर्लभ संग्रह हुआ। इसके कारण जमुना का माहात्म्य वढ़ा, इसलिए जमुनोत्तरी की यात्रा का माहात्म्य इतना ही माना जाना चाहिए, जितना कि गंगोत्तरी का। यात्री उसी भक्ति-भाव और श्रद्धा से जमुनोत्तरी जाते हैं, जितने भक्ति-भाव से वे गंगोत्तरी जाते हैं। जमुना के स्रोत में स्नान करते हैं, फिर तप्तकुण्ड में स्नान करते हैं। जमुना मैया का दर्शन करते हैं और अपने को कृत-कृत्य मानते हैं। इस सारे भक्ति-भाव को महज भावुकता मानना असंगत होगा। वर्तमान काल में जब प्रजा अनेक संशयों से व्याकुल है, तब यह श्रद्धा-बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करती है। यह श्रद्धा आत्म-शुद्धि के लिए, लोक-संग्रह के लिए वांछनीय है, शुभ है, मंगल है।

भक्ति-भावना और अंधश्रद्धा एक नहीं है। बुद्धि की एक सीमा होती है, उनके आगे जाने से बुद्धि इन्कार करती है। जहां बुद्धि कुण्ठित होती है, वहां श्रद्धा का विकास शुरू होता है। उसे अंधश्रद्धा नहीं, पर विवेक कहना चाहिए। ईश्वर को हमने देखा नहीं, हम केवल अनुभव और श्रद्धा से ही उसका अनुभव करते हैं। इतिहास बताता है कि अच्छे का फल अच्छा होता है, बुरे का बुरा। यह क्यों होता है? इसे हम तर्क से सिद्ध नहीं कर सकते। केवल श्रद्धा के बल पर जानते हैं कि यह तथ्य सही है। इसी श्रद्धा के बल पर हम उपासना और प्रार्थना करते हैं और शान्ति का अनुभव करते हैं। श्रद्धा एक दैवी सम्पदा है। ईश्वर की कोई प्रतिमा नहीं है। ईश्वर का न तो आरम्भ है और न अन्त है। उस विश्वरूप की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अनन्त की कल्पना कैसी? पर ज्ञान और श्रद्धा से हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। उपनिषद् बताता है:

'ईशावास्य इदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।'

अर्थात्, यह सारा संसार ईश्वर से व्याप्त है। इस आधार पर जमुना या गंगा, या सारे तीर्थ ही क्या, सारा जगत् ईश्वर से आच्छादित है, इसलिए सारा जगत् ईश्वरस्वरूप है। जब हम तीर्थ-यात्रा करते हैं, तब वहां के शान्त वातावरण में तीर्थों का दर्शन करके प्रकारान्तर से हम ईश्वर का ही दर्शन करते हैं, जो अशान्त वातावरण में सम्भव नहीं। इसे भावना कहो या श्रद्धा कहो, इससे सत्व-

संशुद्धि होती है। बुद्धि को स्थिति मिलती है और अन्तरात्मा को शान्ति मिलती है। इसलिए जिसे हम भावुकता मानते हैं, वह बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरणा देनेवाली एक शक्ति है, जो उपासनीय और कल्याणप्रद है। यह वेदान्त और साइंस दोनों को मान्य है। साइंस कहता है कि वेदान्त और साइंस के दोनों मार्ग आगे चलकर एक होकर आपस में मिल जाते हैं। यह सर्वथा सत्य है।

जमुनोत्तरी का विकास और प्रवाह हिमालय से शुरू होता है, इसलिए हिमालय का विवेचन भी आवश्यक हो जाता है। हिमालय पर्वत संसार में सबसे अधिक ऊंचा, सबसे अधिक चौड़ा और सबसे अधिक लम्बा है। यह एक अद्वितीय पर्वत है। इसकी तुलना में इस भू-मण्डल का कोई पर्वत ठहर नहीं सकता, इसलिए इस पर्वत को 'पर्वतराज' कहना अनुपयुक्त नहीं होगा।

इस विशाल पर्वत में से अनेक नद और नदियों का उद्गम हुआ है। इसके द्वारा हिमवान पर्वत ने भारत को एक विशाल जलराशि देकर इस देश का और विशेष कर उत्तर और पूर्वी भारत का काफी उपकार किया है। कई नदियां तो पाकिस्तान में होती हुई समुद्र में गिरती हैं और वाकी कुछ वांगला देश और भारत में विचरती हुई समुद्र में गिरती हैं।

जो-जो नदियां भारत में से गुजरी हैं, उन्होंने देश की अनेक प्रकार से सेवा की है। हिमालय ने जल तो दिया ही, फसल के लिए, पीने के लिए, दोनों के लिए। वायु को भी स्वच्छता दी। यातायात के लिए जलमार्ग की सृष्टि की। वर्षा और मेघों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई। इस विशाल जीवन-घूंटी का सही मूल्यांकन कठिन है। हिमगिरि का यह प्रचण्ड जल-प्रवाह यदि भारत को नहीं मिलता, तो यह देश रेगिस्तान बन जाता। भीषण अकाल, महामारियों और अनेक तरह की यंत्रणाओं से रोग-ग्रस्त होकर विनाश की ओर चला जाता। यह स्थिति कल्पनातीत नहीं है।

जैसे भारतवर्ष को हिमालय ने जीवन-दान दिया, उसी तरह हिमालय के उस पार की नदियों ने, जिन्होंने उत्तर की ओर यात्रा की, चीन की भी उतनी ही सेवा की है, जितनी कि इस ओरकी नदियों ने हमारे देश की सेवा की है। चीन की 'यांगटि-सिक्यांग' और 'पीली नदी' का उद्गम भी हिमालय से है। 'मेकांग' हिमालय से निकलकर स्याम जाती है, तो 'सालविन' वर्मा से गुजरती है। हिमालय की महिमा इससे भी जानी जाती है कि स्याम के राजा का राज्याभिषेक जिस मन्दिर में होता है, उसका नाम है कैलाशगिरि। इस तरह हम इस निर्णय पर आते हैं कि हिमालय के इस विशाल उपकार से सारी-की-सारी पृथ्वी ऋण-ग्रस्त है।

इन बातों पर अधिक विचार करें और यदि इसके मूल इतिहास में गोता मारने का प्रयास करें, तो अतीत का एक अद्भुत चित्र हमारी आंखों के सामने

खड़ा हो जाता है। यह चित्र विलक्षण है। प्रज्ञा-चक्षुओं के सहारे हम इसकी अनुभूति कर सकते हैं।

महज कुतूहल के लिए यह जानना दिलचस्प होगा कि करोड़ों साल पहले ब्रह्मपुत्र बंगाल की खाड़ी में न गिरकर पश्चिम की ओर जाकर समुद्र में गिरता था। एक झोंका आया और पृथ्वी का नक्शा बदल गया। यह झोंका कहां से आया, क्यों आया, यह कोई नहीं बता सकता। जिस युग में यह झोंका आया, उस युग में न तो गंगा थी, न जमुना थी। इस झोंके ने ब्रह्मपुत्र का मार्ग बदल दिया और गंगा-जमुना की भी पैदाइश कर दी। यह प्रकृति की एक विलक्षण लीला है, जो विचार करने पर हमारे सामने ईश्वर के महान् प्रभुत्व का प्रमाण प्रस्तुत करती है। 'केसव कहि न जाइ का कहिए, देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मन हि मन रहिए।'

खैर, हमने आरम्भ तो हिमालय की महिमा से किया था, यह समझाने के लिए कि हिमालय ने पृथ्वी का कितना उपकार किया है और प्रकृति की अनन्त शक्ति कैसे एक पल में भारी परिवर्तन कर डालती है। पर इसके साथ-साथ यह भी प्रश्न उठता है कि हिमालय किसको कहें?

पुराणों और प्राचीन संस्कृत काव्यों में हिमालय का काफी वर्णन आता है। ऋषियों ने हिमालय की जी भरकर गाथा गाई है, पर जो कुछ मसाला पुराणों से या काव्यों से उपलब्ध है, उसके आधार पर हम हिमालय का सही मानचित्र नहीं खींच सकते, क्योंकि हमें कई उलझनों का सामना करना पड़ता है। पहला प्रश्न तो जैसा ऊपर कहा है, वह यह उठता है कि हिमालय कहां से शुरू होता है और इसका कहां अन्त होता है? हिमालय का जो हिस्सा पाकिस्तान में चला गया, उसका आज से पचास साल के बाद क्या नामकरण होगा? हिन्दुकुश, पामीर, गिलगित आदि चोटियां हिमालय की ही शाखाएं समझनी चाहिए, पर वहां के देशवासी इसे हिमालय नहीं मानते। चीनवालों के लिए भी उनकी दक्षिण दिशा के पर्वत, जो हमारे उत्तर में हिमालय नाम से प्रख्यात हैं, उनके लिए ये ही पर्वत किसी दूसरे ही नाम से प्रख्यात हैं। हमारे उत्तर के जो पर्वत हिमालय के अन्तर्गत हैं, वही उनकी दक्षिण दिशा में हैं, पर उनकी बोली में वह हिमालय नहीं है। हर देश का नामकरण बिलकुल भिन्न है। उनका भी भिन्न है। इसलिए हिमालय कौन-सा है, कहां से चला, कहां समाप्त हुआ, यह झमेला जारी रहता है।

ब्रह्मपुत्र का उद्गम भी भारत में नहीं, चीन या तिब्बत में होता है। उसका नाम उनके यहां मेघांग सांगपो है, पर जहां यह नद भारतीय सीमा में घुसा कि वह ब्रह्मपुत्र बन गया। ये सब उलझनें सही भूगोल बनाने में बनी ही रहेंगी।

हिमालय का सीधा-सादा अर्थ है, 'हिम या बर्फ का घर', पर उसकी निश्चित सीमा अभी तक सर्व सम्मति से निर्धारित नहीं हुई। हर देश अपनी सहूलियत के

साथ अपने पर्वतों और नद-नदियों का नामकरण करता है और सीमा भी अलग ही मानता है। इसका एकीकरण असम्भव है।

इसलिए हमारे लिए तो हिमालय वही पर्वत है, जो भारत के सारे-के-सारे उत्तर में एक विशाल दृढ़ दीवार की तरह खड़ा है, जिसने इस देश को पानी देकर जीवन-दान दिया, जिसकी ख्याति प्राचीन पुराणों और काव्यों में भरी पड़ी है, जो भू-मण्डल पर सवसे बड़ा पर्वत और जिसे कृष्ण भगवान् ने 'स्थावराणां हिमालयः' कहकर उसे अपनी ही प्रतिमा कहा।

जिस हिमालय का पुराणों में वर्णन है, उसका अध्ययन हमारी सारी-की-सारी ज्ञान-पिपासा को तो शांत नहीं करेगा। अतीत की तह में वास्तविकता इतनी गहरी छिपी पड़ी है कि लाख अनुसंधान करें तो भी सत्य छिपा ही रहेगा, क्योंकि भूगोल भी बदलता रहा है। हिमालय की भी लाखों वर्षों में अदल-वदल हुई है, इसलिए कौन से मानचित्र को हम स्थाई मानकर स्वीकार करें? तो भी पुराणों का हिमालय वर्णन पढ़ना और समझना रुचिकर और मनोरंजक है।

कालिदास के अनुसार कैलास की तराई में एक 'अलका' नाम की नगरी थी। यह कुवेर की राजधानी थी। कैलास शिवजी का मुख्य स्थान था। उसी की तराई में अलका नाम की यक्षों की एक वस्ती थी। वहां के एक यक्ष ने बदतमीजी की, इस पर उसके स्वामी ने खफा होकर उसे देशनिकाला दे दिया। उसने नागपुर के पास रामगिरि पर एक कुटी वना ली। वहां वृक्षों की सघन छाया में कई आश्रम थे। उसने भी वहां अपनी कुटी वनाई। सघन छाया के वावजूद शीत में रहनेवाला पर्वतीय यक्ष रामगिरि की गर्मी से संतप्त हो उठा। दूसरी ओर अपनी पत्नी के वियोग से भी वह व्याकुल था, इसलिए इतना कृश हो गया कि उसके हाथ का कंगन भी बांह से निकलकर नीचे गिरने लगा।

अव आषाढ़ का महीना आया। आकाश में मेघ घिर आया और उस मेघ की यात्रा शुरू हुई। यह मेघ उत्तर की ओर जाता था। बेचारे यक्ष ने सोचा कि उस मेघ द्वारा ही सही, अपने घर और अपनी पत्नी को जो 'अलका' में रहती है, कुशल संवाद तो भेजूं। इसलिए उसने मेघ को अपना दूत वनाकर अपनी पत्नी के नाम संदेश भेजना शुरू किया। साथ-साथ मेघ को यह भी बताना जरूरी था कि वह कौन-से रास्ते से अलका सही-सलामत पहुंच जायगा। यह कालिदास के 'मेघदूत' की कहानी है। मेघ यक्ष के बताये मार्ग से अलका की ओर चल पड़ा। यक्ष के बताये मार्ग से वह रामगिरि से चलकर क्रमशः माल क्षेत्र, आम्रकूट, नर्मदा, दशार्ण, वेत्रवती, विदिशा, उज्जैन होता हुआ चर्मण्वती से आगे बढ़कर कुरुक्षेत्र होता हुआ कनखल पहुंच गया।

यहां तक तो मेघ के पद-चिह्नों के पीछे-पीछे चलकर हमें कनखल तक अर्वाचीन भूगोल से मेल मिलाने में कोई कठिनाई नहीं होती, पर कनखल पहुंचते

ही मेघ अचानक एक ही छलांग में जब कैलास पहुंच जाता है, जिसकी तराई में 'अलकापुरी' थी, तब उलझन शुरू होती है, क्योंकि आज जिसे हम कैलास मानते हैं और जो तिब्बत में है, वहां पहुंचने में सारे हिमालय को लांघना पड़ता है। रास्ते में कई प्रसिद्ध स्थान आते हैं। उनका मेघ ने कोई जिक्र नहीं किया। कैलास में मंदाकिनी बताई है, जो आज के कैलास में है ही नहीं। इसलिए हमें मेघदूत के वर्णन से कुछ भ्रम पैदा हो जाता है।

मेघ ने तो आकाश-मार्ग से हिमालय के सौन्दर्य की सारी झलक देखी होगी। यह वर्णन यदि वह सांगोपांग करता, तो अवश्य ही हमारे ज्ञान की वृद्धि होती और नक्शा खींचने में भी हमें सहायता मिलती, पर मेघ ने इस क्षेत्र में मौन रहकर अदृश्य हो हमें इस दिलचस्प वर्णन से वंचित रखा है।

पर अन्वीक्षकों ने कैलास की बृहद् व्याख्या की है, जो हमारी उलझनों को सुलझा देती है। कैलास का एक नाम 'हेमकूट' भी था। नन्दलाल दे की राय में हेमकूट नाम से हिमालय की वह बन्दर पूंछ श्रेणी भी जानी जाती थी, जिसमें अलकनन्दा, गंगा और यमुना का उद्गम है। कैलास और बंदर पूंछ की श्रेणियां भी कैलास के अन्तर्गत ही थीं। प्राचीन भूगोलविदों के अनुसार गन्धमादन भी कैलास-शृंखला का ही एक भाग है। 'कालिकापुराण' ने इसे कैलास पर्वत के दक्षिण में रखा है। महाभारत और वाराहपुराण इसी पर्वत पर बदरिकाश्रम की स्थिति मानते हैं। मार्कण्डेय और स्कन्दपुराणों के अनुसार वह पर्वत, जिससे अलकनन्दा निकलती है, गन्धमादन है। गन्धमादन को स्पष्टतः कैलास-शृंखला के भीतर या उसके पास ही रखा जाता है। कालिदास के अनुसार मन्दाकिनी और जाह्नवी गन्धमादन के भीतर होकर बहती हैं। इस तरह यह सारी-की-सारी शिखर-श्रेणी कैलास के अन्तर्गत आ जाती है। इसे स्वीकार करने पर हमारी बहुत-सी उलझनें सुलझ जाती हैं।

कैलास शिवजी का स्थान था। आज भी केदारजी का मन्दिर मन्दाकिनी के तट पर है, वहां शिवजी का स्थान रहा होगा। यक्ष की अलकापुरी भी, चूंकि बन्दर पूंछ, हेमकूट, गन्धमादन—ये सभी पर्वत-श्रेणियां कैलास की संज्ञा में समाविष्ट होती हैं, इसलिए इन्हीं पर्वतों में कहीं रही होंगी।

महाभारत और अन्य पुराणों में भी हिमालय का काफी रसमय वर्णन मिलता है। पाण्डव जब युद्ध की तैयारी में लगे हुए थे और जब द्रौपदी और भीम काफ़ी क्रुद्ध होकर युधिष्ठिर को शीघ्र ही युद्ध में उतरने के लिए उकसा रहे थे, उसी समय व्यासजी वन में युधिष्ठिर से मिलने आ गए। व्यासजी ने यह विवाद सुनकर द्रौपदी और भीम को शांत करते हुए कहा, "तुम लोग वृथा जल्दबाजी करना चाहते हो। बिना पूरी तैयारी के युद्ध नहीं जीते जाते। अपने विरोधियों के बलाबल का अनुमान करके ही युद्ध आरम्भ करना चाहिए।"

उन्होंने कहा, "विजय के लिए यह आवश्यक है कि अर्जुन इन्द्र के पास जाकर उनसे अमोघ शस्त्रों की याचना करे और पूर्ण वलसम्पादन करे।" व्यासजी ने यह भी कहा कि इन्द्र ने अर्जुन से वादा किया था कि यदि शंकर भगवान् अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान कर देंगे, तो इन्द्र भी अर्जुन को अपने शास्त्रास्त्रों से सहायता करेगा, इसलिए अर्जुन हिमालय में जाकर पहले शंकर से पाशुपत लाये और फिर इन्द्र से उन शास्त्रास्त्रों की याचना करे। यह राय सवको पसन्द आई और अर्जुन उत्तर की ओर चला गया। पहले तो उसने हिमालय में तप करके शिव भगवान् से पाशुपत लिया और फिर इन्द्र से अन्य हथियार मांगे।

अर्जुन इन्द्र का अत्यन्त प्रिय पात्र था, इसलिए इन्द्र ने अर्जुन की याचना स्वीकार की और कहा कि वत्स, मेरे साथ अव चलकर कुछ समय इन्द्रलोक में बिताओ और उसके वाद शस्त्र लेकर घर जाना। अर्जुन ने यह आज्ञा मानकर इन्द्र के साथ कुछ समय के लिए इन्द्रलोक में रहना स्वीकार किया।

जव बहुत समय बीत जाने पर भी अर्जुन वापस नहीं लौटा तो युधिष्ठिर और अन्य भाइयों की चिन्ता बढ़ गई। वे लोग चिन्ता कर ही रहे थे कि इस बीच में नारदजी पहुंच गए। नारदजी ने इन भाइयों से कहा कि "तुम सब लोग चिन्ता से विमुक्त होकर तीर्थयात्रा कर आओ।" इसी बीच लोमश ऋषि भी इन्द्रलोक से संवाद लेकर आ पहुंचे कि अर्जुन सकुशल हैं, पर तीर्थयात्रा का जो निश्चय किया, वह स्थायी रहा।

इसके वाद युधिष्ठिर की तीर्थयात्रा शुरू होती है। पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के तीर्थों का पर्यटन करते हुए चारों भाई और द्रौपदी अन्त में उत्तर को गए और फिर हिमालय में प्रविष्ट हुए।

यहां से हिमालय का वर्णन शुरू होता है, जो काफी मनोरंजक और ज्ञानवर्धक है। ऋषि ने हिमालय का जो वर्णन उस समय किया, वह आज भी उसी से मेल खाता है। इसमें मंदराचल, गंधमादन, वदरि, मैनाक, गंगा का स्रोत बिंदुसार इत्यादि का विस्तृत वर्णन है। वदरि में नर-नारायण ने तप किया, उसका भी वर्णन है। 'फूलों की घाटी' का भी जिक्र है। आज भी यह 'फूलों की घाटी' सारे संसार में प्रसिद्ध है। दूर-दूर के विदेशी यात्री इस घाटी को देखने के लिए आते हैं। इन सब स्थानों में ऋषियों के आश्रम थे, इसका काफी विस्तार के साथ महाभारत में वर्णन आता है।

इन तीर्थों का पर्यटन करते-करते अर्जुन भी आ पहुंचा और सब भाई अत्यन्त विह्वल होकर अर्जुन से मिले।

हिमालय का यह महाभारत का वर्णन इतना प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही है कि पढ़ने पर उमंग उठती है कि हम भी वहां क्यों न थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस महान् पर्वत से सैकड़ों नद-नदियां निकली

हैं, पर जिस क्षेत्र में गंगा-जमुना का उद्गम हुआ है और हजारों यात्री हर साल वहां जाते हैं, उस क्षेत्र में चार ही मुख्य स्थान हैं, जिन्हें चार घाटियां भी कह सकते हैं। इन सब घाटियों के पूर्व में तो बदरि है, जहां से अलकनन्दा निकलती है, उसके पश्चिम में केदार है, जिसे हम शिव का स्थान भी कह सकते हैं। यह भी किम्वदन्ती है कि इसी रास्ते से पाण्डवों ने स्वर्गारोहण किया था। वहां से मंदाकिनी का निकास होता है। उसके पश्चिम में गंगोत्तरी शुरू होती है और अन्त में सबके पश्चिम में है जमुनोत्तरी। गंगोत्तरी के यात्री कुछ ऊपर गोमुख तक भी जाते हैं, पर जमुनोत्तरी का स्रोत बन्दर पूंछ पर्वत के एक भाग कालन्दगिरि से निकलता है, जिस कारण जमुना का नाम कालिन्दी या कलिन्दकन्या भी पड़ा है। पर कलिन्दगिरि तक कोई यात्री जाता है, ऐसा हमने सुना नहीं।

इस तरह इस क्षेत्र को सुभीते के लिए चार दर्रों या चार घाटियों में विभाजित किया जा सकता है, अर्थात् जमुना घाटी, गंगा घाटी, मन्दाकिनी घाटी और अलकनन्दा घाटी। यद्यपि छोटी-छोटी घाटियां, जैसी कि पर्वतों में होती हैं, और भी अनेक हैं, पर मुख्यतया ये चार ही दर्रे हैं। अलकनन्दा घाटी में विशेष सौन्दर्य नहीं है। बाकी जमुना, गंगा और मन्दाकिनी घाटियां तो सौन्दर्य से छलाछल उमड़ी पड़ी हैं। ये घाटियां अत्यन्त मनमोहक और शांतिप्रिय हैं। इसका अनुभव वहां जाने से ही होता है।

मंदाकिनी और अलकनन्दा तो गंगा में मिलकर, गंगारूप होकर ही प्रवाह करने लगीं। जमुना प्रयाग में गंगा से मिलकर विलीन हुई। प्रयाग के आगे के मार्ग में वैसे तो गंगा एक-चौथाई हिस्सा ही है। जमुना, मंदाकिनी, अलकनन्दा का तीन-चौथाई। पर तो भी गंगा का ही आधिपत्य सर्वोपरि रहा। और भी कई नदी-नाले गंगा में मिलते गए, पर गंगा ही स्थायी रही।

> एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भर्‌यो
> जब मिलकर वे एक वरन भए, सुरसरि नाम पर्‌यो।

सुरसरि का प्रभुत्व अन्त तक अखण्ड रहा।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, गंगा, जमुना, अलकनन्दा और मन्दाकिनी इन सबका उद्गम हेमकूट की बन्दर पूंछ श्रेणी से हुआ है और यह हेमकूट और बन्दर पूंछ उसी कैलास के अन्तर्गत हैं, जिनका पुराणों में वर्णन है। इस तरह ये सभी पवित्र स्रोत एक ही पर्वत की सन्तानें हैं। ये सभी धाराएं सौन्दर्य से प्लावित हैं, सभी शान्त वातावरण पैदा करती हैं। इन सबका संगीत-नाद निरंतर यात्रियों के कर्णगोचर होता रहता है। यह संगीत सब का इकसार है। यदि किसी मनुष्य को उसकी आंखों पर पट्टी बांधकर एक घाटी में ले जाकर उसकी पट्टी खोल दी जाय, तो वह यह नहीं बता सकता कि वह जमुनोत्तरी जल-प्रवाह देख रहा है या गंगोत्तरी के जल की धारा। यह सब उनका सादृश्य बताता है। घाटियों का और

आसपास की पर्वत श्रेणियों का सौन्दर्य भी एक ही जैसा है। सबके जल का जनक है समुद्र, जिसने मेघों को जल देकर पर्वतों पर भेजा और जलदान दिया। अन्त में सभी का जल समुद्र में जाकर लीन होता है।

आकाशात्पतिते तोये, यथा गच्छति सागरम्

इस तरह इन सबकी अंतिम गति भी इकसार है।

पर नाम-भेद के कारण इन सब तीर्थों का माहात्म्य भिन्न-भिन्न है और इन सबमें गंगा के माहात्म्य का आधिपत्य है। यह क्यों? भगवान् श्रीकृष्ण की वय का अधिक हिस्सा द्वारका में बीता, पर द्वारका को उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया, जमुना की कीर्ति बढ़ाई, पर तो भी ऐन मौके पर यह कह डाला, **'स्रोतसा-मस्मि जाह्नवी'** गंगा में हूं। गंगा को यह आधिपत्य क्यों दिया? 'उज्ज्वल पंख दिए बगुला को, कोयल किहि विध कारी?' क्यों इस जगत् में सभी प्रश्नों का उत्तर उपलब्ध नहीं होता?

हमारी इन्द्रियां, मन और बुद्धि सभी की शक्ति अत्यन्त परिमित है। हमारी आंखों की दृष्टि एक विस्तार के बाद निरर्थक हो जाती है। कानों और अन्य इन्द्रियों की शक्ति का भी यही हाल है। इसी तरह हमारी बुद्धि की भी सीमा है। अपने अज्ञान और अहंकार के कारण इस सीमा को स्वीकार करने में हम हठधर्मी करते हैं और एक सर्वविद् की ओढ़नी ओढ़कर, प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद में फंस जाते हैं।

गांधीजी से एक मरतबा पूर्वजन्म के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए मैंने पूछा कि पूर्वजन्म की कल्पना क्या सही है? उन्होंने कहा, "इस विवाद में न पड़ो, जो कर्त्तव्य-कर्म है, उसे करो, बाकी पचड़े को छोड़ो।" रामायण के संबंध में एक मरतबा राजाजी से बात करते समय मैंने रामायण के कुछ पात्रों का विश्लेषण शुरू किया तो राजाजी ने कहा, "रामायण पढ़ना हो तो भक्ति-भाव से पढ़ो, तर्क से नहीं।" यह सत्य है।

ईश्वर की रचना का या प्रकृति के व्यापार का कितना भी विश्लेषण करो, मनुष्य की सीमित बुद्धि कोई सही निर्णय नहीं दे सकती। इसलिए इन जटिल समस्याओं के लिए मौन ही धर्म है—'नेति नेति।' निरापद मार्ग यही है, जो हमारा कर्त्तव्य-कर्म है, उस पर लगन के साथ लगे रहें, बाकी भगवान् पर छोड़ें।

सुरसरि में सब जलों का समावेश है और समावेश है उसी महान् शक्ति का, जिसने सारे विश्व को ढक रखा है। सारा विश्व उस महान् सत् का एक अणु से भी छोटा हिस्सा है। अन्त में उसी महान् में गंगा भी लीन हो जाती है। 'सर्व भूतेषु येनै कं भावम् अव्यम् ईक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।' सब भूतों में जो एक ईश्वर को देखता है, विभक्तों में जो अविभक्त को देखता है, वह सात्विक बुद्धिवाला है। यह वेदान्त कहता है। साइंस इसका समर्थक है।

यहां वेदान्त और साइंस का संगम हो जाता है।

पायस की महिमा न तो दूध की है, न शक्कर की और न चावल की। सबके मेल ने ही पायस को यह महिमा दी। सुरसरि की महिमा भी यह उसी अविभक्त ईश्वर की ही महिमा है, जो सबमें व्याप्त है। जमुना, गंगा, अलकनन्दा, मंदाकिनी सभी की उपासना द्वारा हम केवल उस पर-पुरुषोत्तम की ही उपासना करते हैं।

इसलिए उस पुरुषोत्तम भगवान् को हमारे अनेक नमस्कार !

डायरी
के
पन्ने
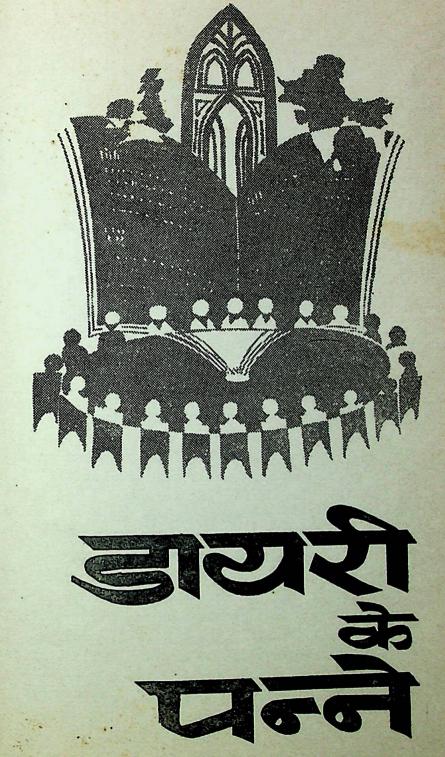
दूसरी गोलमेज-परिषद् में गांधीजी के साथ

एक

२६ अगस्त, '३१
'राजपूताना' जहाज

बंबई में आज सबेरे से ही चहल-पहल थी। महात्माजी कुछ काल के लिए भारतवर्ष में न रहेंगे, सबके चेहरे से यही भाव झलक रहा था। मुझे तो सद्भाग्य से ही यह संयोग मिल गया है कि जिस बोट से गांधीजी और मालवीयजी जाते हैं, उसी से मैं भी जा रहा हूं। जब जहाज में जगह ली थी, तब तो यह निश्चित था कि महात्माजी आर० टी० सी० में न जायंगे, किन्तु विधि ने तो पहले से ही निश्चित कर रखा था कि गांधीजी को विलायत जाना है और 'विधि का रचा को मेटनहारा !

बंगले से चलकर बंदर पर पहुंचा तो फोटो लेने वाले पागल दर्जनों की तादाद में मुझ पर टूट पड़े। न मालूम कितने प्लेट उन्होंने मुझ पर बर्बाद किये। पच्चीस से कम तो न थे। स्वदेशी धन को विदेश इस तरह भेजा जाता है ! आखिर मेरे फोटो की कीमत ?

जहाज पर सवार होने के थोड़ी ही देर बाद महात्मा गांधी की जयध्वनि से आकाश गूंज उठा। बस, सब लोग समझ गये कि गाँधीजी आ रहे हैं। सारे जहाज में चहल-पहल मच गई। क्या हिंदुस्तानी, क्या अंगरेज स्त्री-पुरुष दौड़-दौड़कर मौके के स्थान पर कब्जा जमाने लगे। बंदर से आधी मील की दूरी तक के सभी मकानों की छतें खचाखच भरी थीं। चारों ओर से जय-जय ! जहाज के ऊपर पहुंचने में महात्माजी को काफी कष्ट हुआ। मगर अंगरेज मल्लाहों ने किसी तरह हाथों की बाड़ बनाकर ऊपर तक पहुंचाया और सुरक्षित स्थान में खड़ा कर दिया। वहीं से किनारे के लोगों को महात्माजी दर्शन देते रहे। क्या विचित्र दृश्य था ! आर०

टी० सी० में जो लोग पहले गये थे वे जनता के प्रतिनिधि हैं, या एक मन वजन का दुबले-पतले शरीरवाला गांधी प्रतिनिधि है, इस बात की गवाही लोगों का भाव दे रहा था। इतने में ही थोड़ी-थोड़ी वर्षा भी होने लगी, मानो इंद्र भी विदाई के आँसू बहा रहा था। किन्तु लोग अपनी जगह से न हटे। जहाज से न हटे। जहाज का घंटा हुआ। फिर दूसरा घंटा हुआ। तीसरा घंटा हो जाने पर लोगों को स्मरण हुआ कि आखिर हमें जहाज से उतरना है। वे किनारे उतरे, मगर आंखें सबकी गांधीजी की ओर लगी थीं। वल्लभभाई के चेहरे पर विषाद था। जवाहरलालजी के चेहरे पर मुस्कराहट। पंडितजी अभी पहुंचे भी न थे। सब लोग पूछते थे—"मालवीयजी अभी नहीं आये ?" आखिर ऐन मौके पर पहुंचे।

जहाज ने लंगर उठाया और धीरे-धीरे सरका, तब कहीं पता लगा कि हम लोग जानेवाले हैं। रामेश्वर,[1] ब्रजमोहन[2] रूमाल हिला-हिलाकर संकेत कर रहे थे। पर मैं तो विचित्र दशा में गोते खा रहा था ! एक छोटे-से दुबले-पतले आदमी ने लोगों को कैसा मोहित कर लिया है, इसी पर विचार कर रहा था। किंतु जहाज चलने लगा तो याद पड़ा कि जा रहा हूं। ज्यों-ज्यों जहाज और किनारे के बीच का अंतराल बढ़ता गया, त्यों-त्यों मन तेजी के साथ किनारे की ओर दौड़ लगाने लगा। शायद किनारे के लोगों की भी यही हालत थी। आखिर आंखों ने काम देना बंद कर दिया और लोगों को पहचानना भी मुश्किल हो गया। तब कानों से जयनाद सुनते रहे। अंत में तो समुद्र का खूं-खूं रह गया। हिंदुस्तान का तो अब नामोनिशान भी नहीं। चारों तरफ पानी-ही-पानी है और उसके बीच हमारी छोटी-सी दुनिया—'राजपूताना' जहाज !

हिंदुस्तान के हृदय-सम्राट् की ऐतिहासिक यात्रा का दृश्य सचमुच हृदय पिघलानेवाला है।

दो

३० अगस्त, '३१
'राजपूताना' जहाज

जहाज पर मर्यादा प्रायः भंग हो गई है। १९२७ में मैं आया था तो कपड़ों का स्वांग रचना पड़ता था। रात के कपड़े, दिन के कपड़े, पूरा झमेला था। घंटा-भर तो प्रायः कपड़े बदलने में ही लगता था। धोती-कुर्त्ता पहनना तो मानो गुनाह

१. रामेश्वर—श्री रामेश्वरदास बिड़ला, लेखक के बड़े भाई
२. ब्रजमोहन—श्री ब्रजमोहन बिड़ला, लेखक के छोटे भाई

था। अबकी बेर यह हाल है कि धोती-कुर्तेवाले जहाज पर बेखटके फिरते हैं। न तो कोई पूछनेवाला है, न किसीको संकोच है। मुझे अब मालूम होने लगा है कि अपने धोती-कुर्ते छोड़ आया, यह गलती हुई। जहाज़ के मुसाफिर, कप्तान वगैरहा भी धोती-कुर्तों को बर्दाश्त कर लेते हैं। यों तो उन्हें बुरा ही लगता होगा, पर शिमले का आदेश है कि गांधी के आराम का ध्यान रखो, इसलिए सबकुछ वर्दाश्त कर लेते हैं।

पंडितजी के लिए चूल्हा अलग बन गया है। गंगाजल भी साथ है। मिट्टी का कनस्तर, स्वदेशी साबुन, दातौनों का बड़ा-सा बंडल। उधर गांधीजी का चर्खा, पींजन, बड़ी-बड़ी विचित्र चीजें साथ चल रही हैं। जहाजवाले भी देखते हैं कि यह शिवजी की बरात अच्छी आई। आते-जाते तिरछी नजर डाल जाते हैं, पर ऊपर से पूरा अदब दिखाते हैं।

जहाज चलते ही गांधीजी ने अपना असबाब संभालना शुरू किया। इस ट्रंक में में क्या है ? उसमें क्या है ? यह पूछताछ शुरू हुई। बेचारी मीराबेन तो झट समझ गई कि तूफान आनेवाला है। महादेव[1] और देवदास[2] तो बंबई गांधीजी के साथ ही पहुंचे थे। इसलिए सारे प्रबंध का भार मीराबेन के ऊपर ही था। और जहां गांधीजी ने हिसाब पूछना शुरू किया, मीरा समझ गई कि खैर नहीं है। पहले-"पहल तो गांधीजी ने पूछा, इस ट्रंक में क्या है ? मीरा ने कहा, "बापू, इसमें आपके कपड़े हैं।" गांधीजी ने कहा, "मेरे कपड़े हैं ? इतने बड़े ट्रंक में ?" मीरा ने कहा, "लेकिन यह भरा हुआ नहीं है।" गांधीजी—"हां, तो तुम इसे भर देना चाहती थीं, यह नहीं सोचा कि हिंदुस्तान में तो मेरे कपड़े बिना ट्रंक के ही चलते थे ?"

मीरा ने ट्रंक खोलकर सामग्रियां सामने रखीं तो गांधीजी का चेहरा लाल हो गया। सामान ज्यादा न था, किन्तु एक भी पैसा अधिक खर्च हो, यह गांधीजी को असह्य था। पेटियां सारी मंगनी में लाई गई थीं, किन्तु गांधीजी को संतोष न हुआ। पूरा घंटा तो उन्हें अपनी मंडली को धमकाने में ही लगा। अंत में तय यह हुआ कि थोड़ा-सा सामान छोड़कर बाकी अदन से वापस कर दिया जाय। गांधीजी बोले, "आज तो मैं इस सामान को देखकर घबरा गया हूं। कागज रखने के लिए भी यह लोग पेटी लाये हैं, मानो मैं अब पुरानी आदतों को छोड़ने वाला हूं।"

पांच बजे अपने बैठने का स्थान चुनने के लिए गांधीजी छत पर आये। मैंने कहा, "जहाज़ का अंतिम हिस्सा तो बहुत हिलता है, इसलिए काफी कष्टप्रद है। एक मिनिट भी मुझसे तो यहां खड़ा नहीं रहा जाता, इसलिए इसे देखना ही फिजूल है। जहाज के बीच का हिस्सा ही देख लें।" गांधीजी कहने लगे कि इसको

१. महादेव—स्व० श्री महादेव देसाई
२. देवदास गांधी—महात्मा गांधी के कनिष्ठ पुत्र

भी तो देख लें और मेरे लाख विरोध करने पर भी जहाज के अंतिम हिस्से का एक खतरनाक कोना पसंद किया। मैं तो हक्का-वक्का-सा रह गया। क्या कोई समझदार मनुष्य ऐसी तकलीफ से भरी हुई निकम्मी जगह पसंद कर सकता है ? किंतु—"यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।"

गांधीजी की विचार-श्रृंखला यह थी कि जो स्थान अच्छा है, वहां हमारे वैठने से किसी को कष्ट हो सकता है, अच्छे स्थान में एकांत भी संभव नहीं—इसलिए यह बुरा स्थान ही हमारे लिए अच्छा है। मैंने कप्तान तक दौड़-धूप की, उनका विचार वदले, इसकी काफी कोशिश की। पर "हजरते दाग़ जहां वैठ गये, वैठ गये !" गांधीजी तो टस-से-मस भी न हुए। आखिर पंडितजी ने अपना जोर आजमाना शुरू किया। उन्होंने आग्रह किया कि गांधीजी फर्स्ट का टिकट वदलावा लें। संध्या-समय घूमते-घूमते मैंने भी थोड़ा आग्रह किया। गांधीजी ने पूछा, "तुम क्यों आग्रह करने लगे ?" मैंने कहा, "आपने टिकिट तो सेकंड का लिया है। किंतु आपकी प्रतिष्ठा के कारण फर्स्ट के तमाम हक आपको स्वतः मिल जायंगे। फर्स्ट की छत पर कनात लगाकर आपके लिए प्रार्थना-घर वनवा दिया है, क्या यह उचित नहीं कि आप फर्स्ट के पैसे ही दे दें ?" गांधीजी ने कहा, "नहीं, इस दलील से तो यह सार निकलता है कि हम फर्स्ट के तमाम हकों को स्वयं त्याग दें।" नतीजा यह हुआ कि गांधीजी ने फर्स्ट की छत पर घूमना उसी समय वंद कर दिया। प्रार्थना की कनात तो एक ही दिन काम आई। आज तो उन्होंने प्रार्थना अपने निकम्मे स्थान पर ही की।

प्रार्थना करते समय जहां गांधीजी ध्यान करते थे, वहां मैं यह सोचता था कि भगवन्, प्रार्थना समाप्त हो तो यहां से उठूं। वैठनेवाले दो मिनिट में ही आधे वीमार हो जाते हैं। वमन नहीं हुआ, यह खैरियत है। कहते हैं, जहां चांद-सूरज की गति नहीं है, वहां भगवान् विराजते हैं। हमारे जहाज के बारे में यह कुछ अंश में कहा जा सकता है कि जहां भले आदमियों की होश-हवास के साथ गति नहीं है, वहां गांधीजी विराजते हैं। कोई मिलनेवाला जाता है, तो एक मिनिट से ज्यादा रुकना भी पसंद नहीं करता। वंबई से चलते ही समूद्र तूफानी हो गया। इसलिए गांधीजी का स्थान ऐसा रहता है, जैसे हिंदुस्तान का डोलर-हिंडा।

तीन

३१ अगस्त, '३१
'राजपूताना' जहाज

पंडितजी की भी वात सुनिए। आज तीसरा दिन है, पर पंडितजी की प्रायः

एकादशी ही चलती है ! बात यह है कि पंडितजी का रसोइया बीमार है और आटे-सीधे के बक्स का कहीं पता नहीं। पंडितजी से लाख प्रार्थना की कि महाराज, बोट का चावल-आटा लेना बुरी बात नहीं है, किंतु पंडितजी कहते हैं कि भूख लगेगी तब ले लेंगे, अभी भूख नहीं लगी है, तबीयत सुधर रही है। परसों और कल तो थोड़ा-थोड़ा दूध ही लिया। सामान की पेटी के लिए सारा जहाज छान डाला, किंतु वह भी ऐसी गायब हुई कि न पूछिए। पंडितजी खुद तो खाते नहीं, अपने रसोइये से कहते हैं, "वैजनाथ ! थोड़ा खा लो।" वैजनाथ क्या खाये ? पेटी तो ब्रह्मलोक चली गई, जहाज का सामान अभी तक पंडितजी ने लेना स्वीकार नहीं किया। पर आज पंडितजी को मना लिया है और जहाज के सामान से रसोई बनेगी। पंडितजी कुछ कमजोर हो गये हैं, लेकिन वैसे प्रसन्न हैं। समुद्र के तूफान के कारण दो दिन कुछ व्यथित रहे। समुद्र कुछ शांत हो रहा है। शाम को रसोई भी बनेगी।

पंडितजी ने आने में काफी कष्ट उठाया है। पंडितजी की प्रकृति के मनुष्य को ऐसे सफर में बहुत कष्ट है, किंतु देश के लिए पंडितजी सबकुछ सहन कर लेते हैं। सच पूछिए तो पंडितजी की दृष्टि में यह जहाज नरक है, इंग्लिस्तान रौरव है। आज कहते थे, "तुमने अच्छी-सी केबिन मेरे लिए सुरक्षित की, किंतु वह है तो केबिन (कोठरी) ही।" यदि स्वदेश का काम न हो, तो पंडितजी ऐसा सफर करने की स्वप्न में भी इच्छा न करें। पंडितजी में प्रेम और आशावाद की कमी नहीं। पेटी गायब हो गई, सारा जहाज छान डाला, किंतु पंडितजी अब भी कहते हैं कि पेटी जरूर मिलेगी, गायब कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर मैं क्या दूं ?

गोविंदजी[1] ने कल और आज पेड़ों से ही काम चलाया है। रामेश्वरजी ने तो कहा था कि पेड़े ज्यादा ले लो, मगर मुझे क्या खबर थी कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने वाली है !

चार

१ सितंबर, '३१

'राजपूताना' जहाज

समुद्र आज बुधवार को शांत हुआ है। सूरजिया तो अब भी बीमार है। पारसनाथजी[2] ने आज होश संभाला है। मैंने एक बेला भोजन नहीं किया। गांधीजी मजे से हैं। पंडितजी की रसोई बनने लगी है—जहाज के सामान से ही। गोविंदजी

१. गोविंदजी—श्री गोविंद मालवीय (पं० मदनमोहन मालवीय के कनिष्ठ पुत्र)
२. पारसनाथजी—श्री पारसनाथ सिंह (लेखक के सेक्रेटरी)

को पेड़ों से कुछ तकलीफ-सी हुई। महात्माजी की प्रार्थना रोज सुबह-शाम होती है। हिंदुस्तानी आते हैं। अंगरेज दूर से ही नजर बचाकर देखते रहते हैं। आज रात को अदन पहुंच जायंगे। पंडितजी कहते थे कि "जहाज कैदखाना है। देखो, कैसी लीला है! हम पैसे भी देते हैं और कैद में भी रहते हैं।" कल बेचैन होकर कहने लगे :

सीतापति रघुनाथजी, तुम लगि मेरी दौर;
जैसे काग जहाज को सूझत और न ठौर।

और ठौर यहां कहां सूझे!

पांच

३ सितंबर, '३१
'राजपूताना' जहाज

अदन अभी छोड़ा है। अदन में महात्माजी का खूब स्वागत-सत्कार हुआ। सम्मानपत्र दिया गया, उन्होंने जवाब दिया। स्पीच हिंदुस्तान के अखबारों में छपी होगी। महात्माजी को ३२५ गिन्नी भेंट की गईं। सत्कार में अरब, यहूदी, हिंदुस्तानी सभी शामिल थे। हजारों आदमियों की कतार रास्ते में खड़ी हो गई, जो अपनी अरबी भाषा में सत्कार-सूचक नारे लगा रही थी। जिस गाड़ी में महात्माजी थे, उसमें सरोजिनी नायडू, सर प्रभाशंकर पट्टणी और मैं था। कोई-कोई अरबी तो पट्टणीजी को ही गांधीजी समझ बैठते थे, क्योंकि पट्टणीजी की सफेद दाढ़ी, सफेद अंगरखा, सफेद साफा सचमुच महात्मापन-सा ला देता है। मीटिंग में भी एक हजार मनुष्य थे। अधिकतर हिंदुस्तानी ही थे।

पंडितजी के लिए यहां से आटा-सीधा और दो घड़े पानी के ले लिये गये हैं। हम लोगों ने मजाक किया कि पंडितजी के गंगाजल के घड़े अब अरब के पानी से भरे जायंगे, और अरब का पानी पीकर पंडितजी को शौकतअली का साथ देना होगा। किंतु पंडितजी कहते हैं कि पानी का विष सुबह-शाम की संध्या से धो डालूंगा!

× × ×

महात्माजी लंदन पहुंचते ही क्या करेंगे, यह जानने की सबको उत्सुकता है। आर० टी० सी० में करीब १०० मेंबर हो गये। ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे, सभी इसमें शामिल हैं। यह हिंदुस्तान के प्रतिनिधियों की कांफ्रेंस तो है नहीं, गांधीजी को छोड़ प्रतिनिधि कहे जाने वाले सज्जन सारे-के-सारे मनोनीत हैं, चुने हुए नहीं। कुछ अच्छे हैं, तो बहुत-से रद्दी हैं। असल में तो ये सब-के-सब सरकार के प्रतिनिधि

हैं। ऐसी हालत में अकेले गांधीजी क्या कर सकेंगे ? और वहस में भी सरकारी हां-में-हां मिलाने वाले खैरख्वाहोंकी आर० टी० सी० में कहां कमी है ? ऐसी अवस्था में वहां के लोग सहज ही कह सकते हैं, "गांधीजी, आप ठीक कहते हैं, मगर आपके मुल्क के लोग सहमत नहीं हैं, इसलिए आपकी बात कैसे मान ली जाय ?"

ऐसी स्थिति अवश्य ही समय की बरबादी करनेवाली होगी। न कुछ काम ही बनेगा। इसलिए निश्चय ही गांधीजी ऐसे झमेले में न पड़ेंगे। "गढ़ां राजा मढ़ां जोगी !" जबतक गांधीजी भी अपनी मढ़ी में बात न करेंगे तबतक कोई सुनने वाला नहीं। इसलिए विचार इस तरह से है कि आर० टी० सी० तो हाथी के दांत की तरह शोभा बढ़ाती रहे और गांधीजी खाने के दांत की तरह मंत्रिमंडल एवं वहां के नेताओं से अलग मंत्रणा करें, उन्हें यहां की हालत समझावें, वहां की जनता को उकसावें और इस तरह किसी निर्णय पर पहुंचे। यदि वहां का मंत्रिमंडल अलग बात करने की इच्छा प्रकट न करे, तो गांधीजी फेडरल कमेटी में अपना वक्तव्य सुना देंगे और कहेंगे, मुझसे वहस करनी हो तो करो। इतने पर भी यदि गांधीजी को सब धान बाईस पसेरी बनाने की चाल रही तो गांधीजी तुरंत वापस चले आयंगे।

मेरा अपना मत है कि जाते ही गांधीजी वापस आने का निर्णय सुना देंगे। मंत्रिमंडल गांधीजी से अलग मंत्रणा करेगा और शेष में गांधीजी ही आर० टी० सी० बन जायेंगे।

× × ×

फेडरेशन की ओर से सरकार सर पुरुषोत्तमदास को और मुझको मनोनीत करना चाहती है, ऐसा गांधीजी से शिमले में कहा गया। मैंने सर पुरुषोत्तमदास से बंबई में ही कह दिया था कि या तो तीनों जायंगे या बिलकुल नहीं जायेंगे। गांधीजी ने बंबई पहुंचते ही वाइसराय को एक जोरदार चिट्ठी लिखी है। मेरा खयाल है कि गांधीजी के पैर जम गये तो तीनों बुला लिये जायंगे, वरना एक भी नहीं।

छह

४ सितम्बर, '३१
'राजपूताना' जहाज

कल गांधीजी ने फिर आर० टी० सी० के काम के संबंध में चर्चा छेड़ी। मैंने आश्चर्य प्रकट किया, "सरकार आपको क्या समझकर बुला रही है ? आप क्या मांगनेवाले हैं, यह तो सरकार जानती है। कराची का प्रस्ताव भी सामने है। फिर भी आपको बुलाती है, इसके यह माने हैं कि आपकी मांग पूरी होने वाली

है।" गांधीजी ने कहा, "मैंने तो कोई बात छिपाकर नहीं रखी है। अरविन से समझौता हो चुका, उसके बाद रात आठ बजे अरविन से मैंने कहा, 'देखो, मुझसे समझौता करते ही मुझे लंदन क्यों भेजते हो ? मेरी मांग तो जानते हो। यह तुमसे पूरी होने वाली नहीं है, इसलिए मुझे भेजने से फायदा ?" अरविन ने कहा कि तुम्हारी मांग कुछ भी हो, तुम न्याय-मार्ग पर ही चलोगे, ऐसा मानकर तुमसे जाने का आग्रह करता हूं।" फिर मैंने चर्चा छेड़ी कि हां, मांग किस तरह रखी जाय। गांधीजी ने कहा, "ग्रामीण की तरह सीधी-सादी भाषा में। यदि वहां कोई लंबी-चौड़ी बातें करेगा, राजवंधारण की बारीकियों की बहस करेगा, तो मैं कह दूंगा कि मैं तो मूर्ख हूं, ये बातें नहीं समझता। किंतु मैं फलां-फलां बात चाहता हूं और मुझे ये दे दो। यदि मेरी बात कोई सुनना नहीं चाहेगा तो मैं कह दूंगा, मुझको क्यों बैठाकर रखते हो, वापस हिंदुस्तान भेज दो।" मैंने पूछा, "वापस आने के पहले आप वहां सार्वजनिक व्याख्यान तो देंगे ही ?" महात्माजी ने कहा, "वह भी मैक्डानल्ड या बाल्डविन चाहेगा तो ही, नहीं तो बंदमुंह वापस चला जाऊंगा। मेरा स्वभाव यही है कि जिसके यहां रहना, उसका गुलाम बनकर रहना। आखिर उनका मेहमान बनकर जाता हूं और जबतक वहां रहूंगा, उनको क्षोभ हो, ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता।" फौज और अंगरेज व्यापारियों के स्वत्वों के बारे में भी काफी बहस हुई। हर बात इनकी निराली है। हम लोग हर बात को सांसारिक दृष्टि से देखते हैं। यह तात्त्विक और धार्मिक दृष्टि से देखते हैं । १००-२०० साल भी लग जायं तो चिंता नहीं, किंतु स्वराज्य नहीं, रामराज्य ही चाहिए। बारीकी के साथ अध्ययन करता हूं, तो ऐसा पता चलता है कि इनकी मांग जितनी ही बड़ी हो, उतनी ही, उसमें कमी करने के लिए गुंजाइश है। समझाने के लिए यों कहना चाहिए कि १ मन मक्खन निकाले हुए दूध की अपेक्षा यह १ सेर मक्खनवाला दूध लेना पसंद करेंगे। तादाद शायद घटा देंगे, किन्तु किस्म नहीं घटायंगे। मैंने कहा कि अध्ययन कर लीजिए, नहीं तो कहीं बात बिगड़ जायगी। किंतु गांधीजी कहते हैं, "आर० टी० सी० में अबतक क्या हुआ, यह मैंने आजतक नहीं पढ़ा है, अब पढ़ लूंगा। विद्या मेरा बल नहीं है, न मुझे बहस करनी है। मुझे तो अपना दुःख रोना है, इसमें विद्वत्ता की कौन-सी बात है ?" यह है भी सच, क्योंकि रोना और हंसना स्वाभाविक होता है। रोने में विद्वत्ता नाटक वाले ही दिखाते हैं। गांधीजी तो स्वाभाविक रुदन करना चाहते हैं ।

इधर पंडितजी मुझसे कहते हैं कि अमुक विषय का अध्ययन करो, अमुक इतिहास को देख लो, अंगरेजों की करेंसी-नीति का इतिहास तैयार कर लो। मालवीयजी अनेक अस्त्र-शस्त्रों से लड़ेंगे, गांधीजी केवल एक ही बाण से। मालवीयजी कहते हैं, वहां प्रचार-कार्य करेंगे। गांधीजी कहते हैं, प्रचार भी हमारे

दुश्मनों की आज्ञा होगी, तभी करेंगे। बिलकुल नया ढंग, नया विचार, नया तरीका है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि लंदन वाले भी अचरज करेंगे कि कैसे आदमी से पाला पड़ा है !

कल लिखते-लिखते गांधीजी का दाहिना हाथ बिलकुल बेकार हो गया। अब बायें से लिखते हैं। रोज छः मील घूम लेते हैं। दूध १ सेर लेने लग गये हैं। गांधीजी कहते थे, चर्चिल से लंदन में अवश्य मिलना है, क्योंकि वह दुश्मनी रखता है, गालियां देता है। "बर्नार्ड शॉ से मिलेंगे क्या ?" यह पूछने पर कहा कि उससे क्या मिलेंगे !

सात

५ सितंबर, '३१
'राजपूताना' जहाज

भोपाल ने महात्माजी को बुलाकर कहा कि हिंदू-मुसलमान-समस्या सुलझाने के लिए आप पृथक् निर्वाचन स्वीकार कर लें। महात्माजी ने कहा कि न तो मुझे पृथक् निर्वाचन से शिकायत है, न संयुक्त निर्वाचन का मोह है, किंतु मैं अंसारी के बिना कुछ भी न करूंगा। कहते थे, नवाब को यह बुरा-सा लगा। गांधीजी ने कहा, अपने मित्रों से मैं हरगिज बेवफाई नहीं करूंगा। अंसारी के पीठ-पीछे मैं कोई निर्णय नहीं करना चाहता। भोपाल ने कहा कि अंसारी को कैसे बुलावें ? महात्माजी ने कहा कि लंदन जाकर उद्योग करो, मैं तो कर ही रहा हूं।

दो घंटे तक फिर मेरे और महात्माजी के बीच निजी व राजनैतिक बातें हुईं। मेरा यह तो अनुमान है कि महात्माजी की मांग तो पूरी होनेवाली नहीं है, किंतु इतना मिल जायगा, जिससे अन्य लोग संतुष्ट हो जायं। महात्माजी कहते हैं, यह भी अच्छा है। कहते थे, मेरी दूसरी लड़ाई जमींदारों, धनिकों व राजाओं से होगी, किन्तु वह लड़ाई मीठी होगी।

रात की प्रार्थना में अंगरेज भी आते हैं, अधिक नहीं सिर्फ पांच-सात। एक मुसलमान ने पूछा, "प्रार्थना से फायदा ?" महात्माजी ने कहा, "मुझ में कुछ अक्ल मानते हो, तो समझ लो कि लाभ के लिए ही प्रार्थना करता हूं।" महात्माजी ने बताया कि उन्हें न ईश्वर में विश्वास था, न प्रार्थना में और पीछे उनको इसका ज्ञान हुआ। अब यह हाल है कि उनके शब्दों में "मुझे रोटी न मिले तो मैं व्याकुल नहीं होता, पर प्रार्थना के बिना तो पागल हो जाऊं।" उन्होंने कहा, "मेरा सारा-का-सारा जीवन प्रार्थनामय ही है और इसका सुख इस मार्ग में जाने से ही अनुभव हो सकता है। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद तीनों ने प्रार्थना की सार्थकता स्वीकार

की है। मैं ईश्वर का दर्शन नहीं करा सकता। ईश्वर अनुभवगम्य है, इसलिए अनुभव से ही जाना जा सकता है। प्रार्थना द्वारा उसका अनुभव होता है। जो अनुभव लेना चाहता है, जिसे शांति की आवश्यकता है, वह प्रार्थना करे।"

आठ

६ सितम्वर, '३१
'राजपूताना' जहाज

आज रविवार को जहाज के गिर्जे में प्रार्थना थी। कप्तान ने महात्माजी को न्योता दिया था। पंडितजी और हम भी गये थे। भजन, ध्यान, गुणगान होता रहा। पंडितजी का हाथ में बाइविल लेकर ईसाइयों के साथ ध्यानावस्थित होना विशेषतापूर्ण था। पंडितजी को जो कोई लकीर का फकीर बताता है, वह मूर्ख है। पंडितजी अरब का पानी पी सकते हैं, गिर्जे में प्रार्थना कर सकते हैं, फिर भी परम सनातनी हैं, क्योंकि उनके हृदय में ईश्वर विराजमान है। जो हो, पंडितजी का बाइविल हाथ में लिये हुए ध्यानमग्न होना, यह दर्शन दुर्लभ है।

गांधीजी को कप्तान ऊपर ले गया और वहां जहाज का संचालक चक्कर उनके हाथ में देकर उनसे जहाज चलवाता रहा। किसी ने मजाक में कहा कि हिंदुस्तान के जहाज का गांधीजी संचालन कर रहे हैं।

स्वेज और पोर्ट सईद में अरब लोग आयगे और गांधीजी का सत्कार होगा। स्वेज में प्रवेश होते ही जाड़ा शुरू हो गया। कल तक तो बेहद गर्मी थी।

नौ

७ सितंबर, '३१
'राजपूताना' जहाज

स्वेज नहर पहुंचने पर काफी चहल-पहल मच गई। जहाज पर मुसाफिरों की डाक्टरी परीक्षा ली गई। परीक्षा का तो केवल नाम था। डाक्टर मिस्र-सरकार की ओर से आया था, वह मुसाफिरों को केवल देख लेता था और पास कर देता था। अंत में गांधीजी की पार्टी आई तो डाक्टर उठ खड़ा हुआ और हाथ मिलाकर कहने लगा कि मेरी इस किताव में आप अपने हाथ से दो शब्द लिख दें। इस तरह गांधीजी की शारीरिक परीक्षा समाप्त हुई। इसके बाद जहाज पर मिस्र के राष्ट्रीय नेता, अखवारनवीस, फोटोग्राफर पहुंचे। प्रायः लोग

गांधीजी से हाथ मिलाकर उनके हाथ चूमते जाते थे। जहाज पर बड़ी भीड़ हो गई। जहाज छूटने का समय आया, तब बड़ी मुश्किल से लोगों को किनारे उतारा। चित्र उतारने वालों ने तो ज्यादती शुरू कर दी। एक क्षण गांधीजी को आराम से नहीं बैठने दिया। जिधर मुंह फेरें, उधर ही चित्रवाले अपना चित्र-यंत्र लिये झपटने को तैयार। कम-से-कम २००-३०० चित्र लिये होंगे। लंदन के 'डेली टेलीग्राफ' का प्रतिनिधि भी आया था। उसने भी बहुत-से प्रश्न किये। अंत में जहाज चला। कुछ प्रतिनिधि तो साथ हो लिये, जो रात-भर सफर कर सुबह पोर्ट सईद में उतरे।

रात की प्रार्थना के समय मिस्र के बहुत-से प्रतिनिधि प्रार्थना में भी शरीक हुए। एक जर्मन ने अहिंसा के संबंध में महात्माजी से प्रवचन करने को कहा, जिस पर महात्माजी ने आध घंटे तक अत्यन्त सुंदर प्रवचन किया। मिस्र वाले उसे अपनी भाषा में लिखते जाते थे। जबतक महात्माजी सो न गये तबतक महात्माजी की हर बात को, हर क्रिया को मिस्र वाले नोट करते रहे। मैंने उनसे मिस्र का हाल पूछा। मालूम हुआ कि मैं पिछली बार आया था, उसके बाद उन्होंने कोई उन्नति नहीं की है। दृढ़, नि.स्वार्थ नेताओं की कमी है, तो भी नहासपाशा का काफी आदर है। नहासपाशा ने महात्माजी को प्रेम-भरा स्वागत का एक तार भी भेजा है और लौटती बेर काहिरा पधारने की प्रार्थना की है।

सुबह पोर्ट सईद में काफी लोग आये। शौकतअली पिछले जहाज से उतरकर मिस्र में और फिलस्तीन में भ्रमण कर रहे थे। वह भी हमारे जहाज में आज सवार हो गये हैं। सुना है, वह मुस्लिम मुल्कों में मुसलमानों का संगठन करने के लिए दौरा करने गये थे। गांधीजी की निंदा की और इधर के मुसलमानों के साथ ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। मिस्र वाले कहते थे कि इनका कहीं स्वागत नहीं हुआ। नहासपाशा ने तो कुछ खरी बातें भी सुना दीं। इस तरफ के मुसलमान राष्ट्रवादी हैं। मजहबी पागलपन उनमें नहीं है। इसलिए मौलाना साहब का रंग फीका ही रहा।

पंडितजी के विषय में यहां छपा है कि पंडितजी कीचड़ की एक मटकी लाये हैं और रोज कीचड़ का एक बुत बनाकर पूजा करते हैं। पीने का पानी गंगा का आता रहेगा, जिसका कुल खर्च १५,०००) बैठेगा, जो उनके एक धनी मित्र ने दिया है।

स्वेज के किनारे-किनारे कहीं-कहीं अरब लोगों की भीड़ मिलती थी, जो चिल्लाकर महात्माजी का स्वागत करती थी।

पोर्ट सईद में लोग महात्माजी के लिए फल-फूल लाये थे, जिनमें ताजा आम और खजूर भी थे। आम उतने स्वादिष्ट नहीं होते, जितने अपने यहां के, किंतु खजूर देखने में अत्यंत सुंदर थे। खाने में भी होंगे।

दस

९ सितंबर, '३१
'राजपूताना' जहाज

अभी-अभी मौलाना मुझसे बातें कर गये हैं। मैंने पूछा कि जनाब की सेहत का क्या हाल है ? कहने लगे, "जिंदा तो हूं।" मैंने कहा, "आप आ गये यह खुशनसीबी है। अब लंदन पहुंचने से पहले इस झमेले को तय कर लीजिये, वरना दोनों कौमों की बरबादी होने वाली है।" मौलाना ने कहा, "छोटा-सा मसला है, गांधीजी के हाथ में है।" मैंने कहा, "सबकुछ आपके हाथ में है। नवाब साहब भी साथ हैं, अंसारी को बुलवा लें और बैठकर तसफिया कर लें।" पर होना-जाना कुछ है नहीं।

भोपाल ने फिर गांधीजी को बुलवाया। शौकत अली भी मौजूद थे। ४ घंटे तक बातचीत हुई, पर कोई नतीजा न निकला। महात्माजी ने पूछा कि तुम जो कुछ कहते हो उसे मैं मान भी लूं, तो तुम्हारा रुख लंदन में राष्ट्रीय मांगों के प्रति क्या होगा ? शौकत अली ने कहा कि मैं तो सरकार का ही साथ दूंगा।

दूसरे दिन मालवीयजी को भी भोपाल ने बुलवाया। आर० टी० सी० में मालवीयजी का क्या रुख रहेगा, इसी की चर्चा थी। पंडितजी ने कह दिया, "जीवन-मरण का प्रश्न है, मैं लंदन इसलिए नहीं आया कि पौने सोलह आना लेकर जाऊं। गांधीजी का हर्गिज साथ न छोड़ूंगा।" भोपाल ने कहा, "फिर तो बात टूटेगी।" पंडितजी ने कहा, चाहे जो हो।

लंदन से एंड्रूज का तार आया है कि सरकार की राय है कि महात्माजी फोकस्टन (लंदन से ८० मील पर एक शहर) में उतरकर वहीं से बजाय रेल के मोटर में आवें। महात्माजी ने तार दे दिया कि मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लंदन में बहुत भीड़ होने की संभावना है। सरकार नहीं चाहती कि ऐसा स्वागत हो, इसलिए यह चाल है।

सप्रू का भी तार आया है कि रविवार १३ की रात को आपको प्रधान एवं अन्य प्रतिष्ठित आदमियों से मिलना है। महात्माजी कहते थे कि उसी रात को मैं तो अपना दांव फेंक दूंगा और फिर आवश्यकता होगी तो दूसरे स्टीमर से ही लौट आऊंगा। उनके स्वागत को रोकने के लिए उन्हें मोटर द्वारा बुलाया गया है, इससे तो मुझे नीयत साफ नहीं दीखती।

ग्यारह

११ सितंबर, '३१
ट्रेन में

आज सुबह मारसेल्स पहुंचे। वही पुरानी बात है। सैकड़ों चित्र खींचने वाले अपने यंत्र लिये और बीसों पत्र-प्रतिनिधि मौजूद थे। स्टीमर पर आने की इजाजत नहीं थी, तो भी भीड़ काफी थी। लंदन, अमरीका, जर्मनी, नारवे आदि के पत्र-प्रतिनिधि खूब आये थे। सबने भिन्न-भिन्न प्रश्न किये। लंदन वाले तो छिद्रान्वेषण करने को ही आये थे। खूब झूठी-मूठी खबरें बनाकर भेजते हैं। मिस्र से तो एक फौजी अफसर ने महात्माजी को एक चोली भेजी है और कहा है कि तुम इसे पहन लो। महात्माजी ने उसे रख लिया है।

११ बजे महात्माजी जहाज से नीचे उतरे और शहर में फ्रांस के छात्रों ने जहां मीटिंग की थी, वहां गये। बीच में जहां-जहां गाड़ी रुकती, वहां-वहां लोगों की भीड़ जमा हो जाती, और 'गांधी चिरजीवी हों' की ध्वनि होती। लोगों को गांधीजी के दर्शन का काफी कुतूहल था। मीटिंग में बहुत आदमी नहीं थे। प्रवेश-पत्र के बिना सभा-भवन में प्रवेश निषिद्ध था, किंतु बाहर खासी भीड़ थी। यहां के सार्वजनिक उत्सवों में चित्र-यंत्र वालों और पत्र-प्रतिनिधियों की बहुतायत रहती है। सो यहां भी थी। यों कहना चाहिए कि गांधीजी के रोज के चित्रों का औसत करीब २०० पड़ जाता है और १०-१५ पत्र-प्रतिनिधि वक्तव्य ले जाते हैं।

पत्र यहां व्यापार की दृष्टि से ही चलाते हैं और जो प्रतिनिधि आते हैं, वे सच्ची ही खबर नहीं भेजते। झूठ तो प्रायः सभी लिखते हैं, किंतु जो मित्र हैं, वे भी अच्छी बातें बनाकर लिखते हैं। उदाहरण के लिए एक अमरीकी पत्र-प्रतिनिधि ने हाल में लिखा कि गांधीजी इतने दयालु हैं कि पास में रहने वाली बिल्लियों को भी साथ में सुला लेते हैं। एक अंग्रेज पत्रकार ने, जो विरोधी दल का है, लिख मारा, "गांधीजी जहां जाते हैं, अंग्रेजों को गालियां देते हैं। अबतक इनका कहीं सम्मान नहीं हुआ, इसलिए इनका चेहरा उतर गया है। क्रोध में भरे रहते हैं। विलायती कपड़ों का ही उपयोग करते हैं, देशी तो केवल दिखाने के लिए हैं," इत्यादि, इत्यादि। यह पत्रकार साबरमती-आश्रम में कुछ दिन ठहरा था, वहां इसकी बीमारी में गांधीजी ने अपने हाथ से इसकी सेवा की थी। मार्सेल्स से जब चले तो दसों पत्रकार साथ में ही गाड़ी में बैठ गये। उनमें यह भी था। गांधीजी ने उसे अपने डिब्बे में बुलाया और खूब डांटा। वह भी शर्म के मारे बर्फ तो हो गया, पर अपनी आदत से शायद बाज न आयेगा।

बारह

१२ सितंबर, '३१
लंदन

पेरिस गाड़ी सुबह ६ बजे पहुंची। वहां भी वही भीड़, वही चित्र वाले, वही प्रेस-प्रतिनिधि !

११ बजे गाड़ी बूलों पहुंची। यहां से इंग्लिश चैनल पार कर हम लोग १ बजे फोकस्टन पहुंचे। वहां भी खूब भीड़ थी, किंतु पुलिस के प्रबंध के कारण कोई जहाज तक पहुंच नहीं पाता था। यहां दो सरकारी गाड़ियां आई थीं। एक में गांधीजी बैठ गये, एक में मालवीयजी और मैं। पर पुलिस ने ऐसा जाल रचा था कि दोनों गाड़ियों को शुरू से ही अलग-अलग रास्तों से लंदन को रवाना किया।

लंदन के निकट पहुंचने पर पंडितजी ने गाड़ीवान से कहा, "मुझे पेशाव करना है, पहले मुझे आर्यभवन ले चलो।" गाड़ीवान ने कहा, "महाशय, मुझे हिदायत है कि सीधे आपको सभास्थल पर ले जाऊं। (पेशाव रास्ते में ही कहीं करा सकता हूं।) मैं आर्यभवन नहीं जा सकता।" मुझे ऐसा मालूम हुआ कि हम लोग कैदी हैं। हमें कैसा स्वराज्य मिलने वाला है, इसकी कल्पना इस स्वागत से ही की जा सकती है।

हजारों आदमी विक्टोरिया स्टेशन पर, यह जानते हुए भी कि गांधीजी रेल से नहीं आयंगे, जमा थे और यद्यपि वर्षा हो रही थी, फिर भी हजारों आदमी सभा-भवन के बाहर गांधीजी की बाट जोह रहे थे।

यह जान लेना आवश्यक है कि इंग्लिस्तान भी एक नहीं है। एक इंग्लिस्तान है दीन-दुखियों का, गरीब साधारण जनता का, दरिद्र-नारायण का, जो गांधीजी का स्वागत कर रहा है, जिसे न हिंदुस्तान से द्वेष है, न जिसका यहां कोई चलन है। दूसरा इंग्लिस्तान है ठाकुरों का, जो हुकूमत करते हैं और जिनके हाथ में सत्ता है। यों कहा जा सकता है कि यदि इस श्रेणी के दस आदमी भारत को स्वराज्य देना चाहें तो दे सकते हैं। जो गांधीजी का 'हुर्रे हुर्रे' करके स्वागत करते हैं वे हजारों होने पर भी पंगु हैं। राज अब भी यहां ठाकुरों का ही है। कहने के लिए ही मजदूर-पार्टी है और मजदूर-सरकार भी। मजदूर-सरकार ने भी जब चीं-चपड़ की तो सेठों ने उधार देने से इंकार कर दिया, जिससे मैक्डानल्ड साहब को होश संभालना पड़ा, 'गांव राम' का स्वागत ठीक है, पर 'ठाकुरों' की नीयत अच्छी नहीं।

सभाभवन में १५०० के लगभग आदमी थे, जिनमें ६०० के करीब देशी थे। स्वागताध्यक्ष का व्याख्यान अच्छा था, किंतु गांधीजी का भाषण तो अपूर्व था। लोग बिलकुल मोहित हो गये। बैठे-बैठे हजारों हैट-धारियों के बीच कमली ओढ़े

गांधीजी का प्रवचन ऐसा हुआ, मानो अंगरेजों का ईसामसीह बोल रहा हो। गांधीजी ने कहा, "तुम्हारी सरकार इस समय अपने आय-व्यय का हिसाब बरावर कर रही है, इसलिए बड़ी व्यस्त है, किंतु जबतक हमारा हिसाब बरावर न करोगे तबतक तुमने कुछ नहीं किया, ऐसा समझना होगा। मैं देश-भक्त हूं, किंतु मेरी देश-भक्ति जीव-भक्ति है। मैं सबका भला चाहता हूं।" इन बातों पर तालियों की गड़गड़ाहट हुई।

स्वागत के बाद गांधीजी अपने डेरे गये, जो मजदूर-मुहल्ले में है। पंडितजी आर्य-भवन में आ गये। सभा-भवन से निकले, तो पंडितजी गद्‌गद् हो गये थे। एकांत में मुझसे कहते थे, "गांधीजी के शरीर की मुझे बड़ी चिंता है, यह कपड़े नहीं पहनते, कहीं इनको कुछ हो न जाय! मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि रोग हो तो मुझे हो, मौत आये तो मुझे आये।" मैंने कहा, "पंडितजी, आप अपनी ही चिंता करें, इनकी नहीं।" पंडितजी बंबई छोड़ने के बाद काफी दुर्बल हो गये हैं और ढीले होते जाते हैं। इनके शरीर की मुझे तो बड़ी चिंता है।

तेरह

१३ सितंबर, '३१
लंदन

गांधीजी का स्थान बहुत छोटा है, आराम भी नहीं है, किंतु लोग प्रेम से उनकी सेवा कर रहे हैं। बिना तनख्वाह के नौकर हैं। अखबार वाले बिना पैसे लिये अखबार दे जाते हैं। सैंकड़ों आदमी मकान के सामने खड़े जय-जयकार करते रहते हैं।

आज रात को प्रधान मंत्री से बातें होंगी और शायद कल तक नाड़ी का पता चल जाय।

चौदह

१५ सितंबर, '३१
लंदन

आज शाम को भोजन के बाद हम लोग किंग्सले हॉल पहुंचे। मुझे खासकर तीन बातों के संबंध में महात्माजी का विचार जानना था। पहला प्रश्न तो यह था कि यहां से हट चलने की राय अब होती है क्या? देवदास ने कल टेलीफोन

किया था कि वापू कुछ-कुछ स्थान-परिवर्तन के पक्ष में हो चले हैं और संभव है कि आर्य-भवन में धूनी रमा दें। किंग्सले हॉल आना-जाना आसान काम नहीं है। भारतवासी-मात्र चाहते हैं कि महात्माजी के और उनके बीच इतनी दूरी न हो। पर स्थान वदलने के पक्षपाती इससे भी जोरदार दलील पेश करते हैं। किंग्सले हॉल एक सार्वजनिक संस्था है। महात्माजी के वहां ठहरने से इस संस्था के कार्य में विघ्न-बाधा पड़ रही है। कार्यकर्त्ताओं की संख्या थोड़ी है, उन पर बोझ बहुत भारी आ पड़ा है। अभी उस दिन टेलीफोन पर रहने वाले की ओर से दवी जवान शिकायत हुई थी कि मुझे सांस लेने की भी फ़ुरसत नहीं मिल रही है। मैंने उस दिन संस्था की परिचालिका मिस लेस्टर[1] से वातें की थीं। अन्य कार्यकर्त्ताओं से भी कहा था कि हम लोग हाथ वंटाने को तैयार हैं। पर लेस्टर वरावर यही कहती जाती है कि हमें कोई कष्ट या असुविधा नहीं है। अगर होगी तो कह देने में हमें कुछ भी संकोच न होगा। महात्माजी के लिए इतना ही बस है। उनके सामने और दलीलें भी पेश की गईं—लेस्टर की आपमें पूरी भक्ति है, पर भारतवर्ष के राजनैतिक आंदोलन से उसकी पूरी सहानुभूति नहीं; इस संस्था के सभी ट्रस्टी आपको उस दृष्टि से नहीं देखते, जिस दृष्टि से लेस्टर देखती है, इत्यादि-इत्यादि। पर इनका महात्माजी पर कुछ भी असर न पड़ा। आज मेरे पूछने पर वह कहने लगे :

"आज फिर मेरी लेस्टर से इस संवंध में वातें हुई हैं। मैंने उससे कहा कि मेरे यहां रहने से तुम्हारी संस्था की किसी प्रकार की क्षति हो या तुम लोगों को किसी कठिनाई का सामना करना पड़े तो मुझे स्पष्ट बता देना—तुम्हारे और मेरे बीच संकोच का पर्दा नहीं रहना चाहिए। पर लेस्टर ने फिर मुझे विश्वास दिलाया कि 'आपके यहां रहने से न तो हम लोगों को कष्ट है, न हमारी संस्था के काम में वाधा पड़ रही है, वल्कि आपके रहने से इसका खासा उपकार हुआ है। कुछ ऐसे लोग, जो इससे विमुख या हमारे विरोधी हो रहे थे, अब हमारे यहां आने लगे हैं और हमारा साथ दे रहे हैं।' लेस्टर की बात का मुझे विश्वास है और मैं यहां से अन्यत्र जाने का विचार नहीं करता।"

यह गरीवों का मुहल्ला है और इसमें संदेह नहीं कि इस श्रेणी के लोगों के हृदय में गांधीजी के प्रति प्रेम का समुद्र उमड़ पड़ा है। भाव के भूखे महात्माजी इनसे अलग होने का अभी कोई कारण नहीं देखते।

मीरावेन और लेस्टर एक-दूसरी से कुछ खिंची-सी रहती हैं। इसकी चर्चा चलने पर महात्माजी ने कहा, "मैं तो मीरावेन को ही दोष दूंगा। उसके मन में यह आता है कि जिस हद तक मैंने त्याग किया है, उसी हद तक दूसरे भी क्यों न

१. मिस लेस्टर—कुमारी म्यूरियल लेस्टर (लेखिका, समाज-सेविका)

करें। पर मनुष्य को अपने त्याग या तप का कुछ भी अभिमान नहीं करना चाहिए। मुझसे जहां तक वन पड़ता है, मैं करता हूं—दूसरे अगर उस हद तक नहीं वढ़ सकते तो मैं इसका बुरा क्यों मानूं ? त्याग की राह पर कदम रखने वाले को आरंभ में अभिमान-सा हुआ करता है, मुझे भी किसी समय हुआ था, पर मैं तो शीघ्र ही संभल गया।"

महात्माजी के कानों तक लोगों की यह टिप्पणी भी पहुंच चुकी है कि लेस्टर अपनी संस्था का विज्ञापन करने के लिए ही उन्हें अपना अतिथि रखना चाहती है। इस विषय में महात्माजी ने कहा :

"अगर वह ऐसा चाहती है और उसकी संस्था का कुछ विज्ञापन होता है तो क्या हर्ज है ? आखिर उसका और उसकी संस्था का व्रत तो दीन-दुखियों की सेवा करना ही है।"

दूसरा प्रश्न शार्टहैंड टाइपिस्ट के विषय में था—उसे कव से आना होगा ? उत्तर मिला, "अभी उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। लिखने-लिखाने का समय ही कहां मिलता है ? लेख के रूप में जो कुछ सामने आता है उसको 'पास' कर देता हूं। महादेव की भाषा तो मेरे 'अनुकूल' हो गई है। उसकी लिखावट भी अच्छी होती है। पर प्यारेलाल में यह वात नहीं है। उसके अक्षर वहुत खराव होते हैं और उसकी भाषा भी पूरी संतोषजनक नहीं होती। विद्वान् तो अच्छा है, पर उसकी भाषा या रचना वरावर एक-सी नहीं होती। जव उसका ध्यान अपने विषय पर केंद्रीभूत रहता है तव तो अच्छा लिख लेता है, नहीं तो त्रुटियां रह जाती हैं।"

सुना था कि कांफ्रेंस आने-जाने के लिए मोटर की नई व्यवस्था आवश्यक है। पूछने पर मालूम हुआ कि यह खवर भी गलत है। एक हिंदुस्तानी डाक्टर ने महात्माजी को पहुंचाने का काम अपने जिम्मे ले रखा है। कल गलती से उनकी मोटर एक दरवाजे पर खड़ी रही और महात्माजी दूसरे दरवाजे से वाहर निकले। लाचार टैक्सी से आना पड़ा। जव महात्माजी को पीछे मालूम हुआ कि डाक्टर साहव की गाड़ी मौजूद थी, तव उन्हें इसका खेद हुआ। कहते थे कि मेरा मौन का दिन था, इसलिए पूरी तहकीकात न करा सका—महादेव से पता न लग सका कि गाड़ी किधर खड़ी है। व्यर्थ एक कौड़ी भी खर्च न हो, इसका महात्माजी को पूरा ध्यान रहता है। फिर भी उन्होंने कुछ पैसे बचा ही लिये। मालवीयजी के लिए भी टैक्सी करनी थी, सो उन्हें अपनी टैक्सी में ही आर्य-भवन छोड़ते आये। पर आगे के लिए उन्होंने कहा कि भाड़े की गाड़ी की कोई जरूरत नहीं है।

मैंने कहा, "तो तीनों वातों के संवंध में मुझे जो सूचना मिली थी वह गलत निकली।"

महात्माजी—विलकुल गलत !

मैं—तीनों-की-तीनों अखवारी खबरें साबित हुई ?

महात्माजी खिलखिलाकर हँस पड़े।

× × ×

आज की कांफ्रेंस में महात्माजी का जो भाषण हुआ है, उसकी चर्चा छिड़ी। सभी मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा कर रहे हैं और कहते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह अमर होगा। कांफ्रेंस में जाने से पहले महात्माजी भारत-सचिव से मिले थे। उसका रुख उन्होंने अच्छा पाया। महात्माजी ने उसे स्पष्ट-से-स्पष्ट शब्दों में यह बताया कि वह ब्रिटिश शासन-पद्धति के परम अनुरक्त भक्त से उसके कट्टर शत्रु कैसे बन गये। उन्होंने कहा "एक समय था जब मैं तुम्हारे शासन को अपने देश के लिए हितकर समझता था और उसकी भलाई मनाता था। मेरा दावा है कि संसार में शायद ही कोई दूसरा मनुष्य होगा, जिसने मेरी ही तरह पवित्र और निःस्वार्थ भाव से तुम्हारा साथ दिया होगा, तुम्हारा भला चाहा होगा। फिर क्या कारण कि मैं आज दोस्त से दुश्मन बन गया हूं और तुम्हारी जड़ सींचने के बजाय उसे खोदने में दिन-रात लगा हुआ हूं ?"

होर ने कहा, "महात्माजी, मैं तो संस्कार से ही दूसरे मत का अनुयायी हूं। मेरी शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की हुई है कि मेरी जाति ने भारतवर्ष में जो कुछ किया है, उसका मुझे गर्व है।"

महात्माजी ने उत्तर दिया, "तुम्हें गर्व होगा, पर होना नहीं चाहिए। भारतवर्ष की इस समय जो दशा है और दिन-दिन होती जा रही है, वह तुम्हारे लिए अभिमान की नहीं, लज्जा की बात है। बरसों से मेरा अपने देश की जनता से घनिष्ठ संबंध चला आ रहा है। गांवों में घूमना-फिरना, ग्रामीण लोगों के साथ उठना-बैठना, उनके सुख-दुःख में शामिल होना, उनकी कठिनाइयों की जांच-पड़ताल कर उसकी पूरी जानकारी हासिल करना—इन बातों में तुम्हारा एक भी कर्मचारी मेरी बराबरी नहीं कर सकता। मैंने अपनी आंखों देखा है कि मेरे इन देशवासियों की कल क्या हालत थी और आज क्या है, और बहुत-कुछ कटु अनुभव प्राप्त करके मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि तुम्हारे हाथों हमारी भलाई नहीं हो सकती।"

होर ने कहा कि अभी तो हमारे समझौते के प्रयास का आरंभ ही हो रहा है; अंत होने से पहले आपसे बहुत कुछ बातें करनी हैं।

महात्माजी को इसके बाद ही कांफ्रेंस में जाना और अपना वक्तव्य सुनाना था। होर ने कहा, मैं चाहता तो नहीं था कि आज आपको कुछ भी कष्ट दूं, पर साथ ही आपसे यथासंभव शीघ्र मिल लेना भी आवश्यक था। महात्माजी के ठहरने के स्थान के विषय में पूछताछ की। उन्होंने कहा कि मैं अपने गरीब भाइयों के बीच बड़े सुख से हूं। होर बोला, इंगलैंड का वास्तविक जीवन भी गरीब

लोगों का ही जीवन है। उसकी बातचीत के ढंग से महात्माजी को संतोष हुआ। कहते थे, "उसने न तो हाकिम-हुक्काम की तरह रूखे-सूखे शब्दों में बातें कीं, न कूटनीति की भाषा का ही उपयोग किया। मैंने उससे कहा कि मुझसे यह आशा मत करो कि मेरी जबान कभी भी मेरे मन की बात छिपाने की कोशिश करेगी। हां, मैं यह सर्टिफिकेट जरूर चाहता हूं कि समझौते के लिए मैंने कुछ भी उठा न रखा। उसने कहा कि मैं भी आपसे ऐसा ही सर्टिफिकेट पाने का इच्छुक रहूंगा।"

मैं—"तो यह मान लूं कि उससे आपकी जो बातचीत हुई, वह आशाप्रद थी?"

सिर हिलाते हुए महात्माजी ने कहा, "नहीं! इतना ही कहूंगा कि मैंने यह आशा नहीं की थी कि मुझसे इस हद तक दिल खोलकर बातें करेगा।"

लार्ड सैंकी से होर की तुलना होने लगी। महात्माजी ने कहा कि उस पर भी मेरी बातों का अच्छा प्रभाव पड़ा है; पर इसमें संदेह नहीं कि वह होर से कहीं अधिक चतुर और गम्भीर है, इसलिए उसके शब्दों से ही उसके हृदय की थाह मिलनी मुश्किल है। महात्माजी ने उसे एक चपत अच्छी लगाई। वह देशी नरेशों की बात करने लगा, तो महात्माजी ने कहा, "क्या असलियत तुमसे छिपी है? क्या तुम नहीं जानते कि कान्फ्रेंस सरकार की हां-में-हां मिलाने वालों से भर दी गई है? क्या यह भी बताना आवश्यक है कि जिन नरेशों की तुम बात करते हो, वे सब-के-सब सरकार के इशारे पर नाचने वाले हैं? मैं उन्हें या उनकी बातों को कुछ भी महत्त्व नहीं देता और जो सच्ची बात है, वह तुम्हें भी मालूम है।" सैंकी से इसका कुछ भी जवाब न बन पड़ा।

महात्माजी के पैर जमते जा रहे हैं। उनकी चमक से दुश्मनों को भी चकाचौंध लग गई है। लार्ड रीडिंग के पास से वह दो-तीन बार गुजरे, तो वह खड़ा हो गया और उनसे विशेष बातचीत करने की इच्छा प्रकट की।

चर्चिल अभी स्वयं नहीं मिला है, पर बेटे को भेजा था। अखबार वाले उसे ताना देने लग गये हैं। 'स्टार' ने लिखा है कि तुम तो बड़े वीर-बहादुर हो—शेरों का सामना करने वाले हो—पर जब गांधी तुमसे मिलने को तैयार है, तो दुम दबाकर क्यों भागे जाते हो? बेटे में बाप की-सी ही तेजी है और उसके विचार भी बिलकुल वैसे ही हैं। उसने पूछा कि अगर कान्फ्रेंस से कोई भी नतीजा न निकला—समझौता न हो सका—तो आप क्या करेंगे? गांधीजी ने एक शब्द में उत्तर दिया, "सत्याग्रह" और इसकी व्याख्या-सी करते हुए बोले कि पिछली बार हम लोग जो कुछ कष्ट झेल चुके हैं, उससे इस बार कहीं अधिक झेलने को तैयार रहना पड़ेगा। उन्होंने उसे मेन की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन ग्राम-संस्थाएं' (एंशियेंट विलेज कम्यूनिटीज) पढ़ने की सलाह दी, जिससे उसे पता चल जाय कि भारतवासियों में स्वराज्य की क्षमता कहां तक थी और आज भी है। उसने

कहा कि मैं पिता को सब बातें सुनाऊंगा। चर्चिल पर इनका कुछ भी प्रभाव पड़ेगा या इनसे मिलने के फलस्वरूप वह अपनी राह छोड़ देगा, यह आशा तो दुराशा-मात्र है। फिर गांधीजी का यह प्रयास क्यों ? बात यह है कि वह संसार की सहानुभूति अपने साथ कर लेने का मार्ग अच्छी तरह जान गये हैं। उनकी यह विद्या निराली है। महात्माजी ने अपनी ओर से ऐलान कर दिया कि जो मुझे गालियां देते हैं और मेरे कट्टर-से-कट्टर दुश्मन हैं, मैं उनसे भी मिलने और बातें करने को तैयार हूं। चर्चिल अभी तक चुप है। वास्तव में महात्माजी के नाम से वह असमंजस में पड़ गया है। पर वह मिले या न मिले, नैतिक रणक्षेत्र में इससे महात्माजी के पक्ष को ही सहायता पहुंचेगी।

लार्ड अरविन को महात्माजी ने आते ही तार दिया था कि मैं पहुंच गया हूं, तुम कब और कहां मिल सकते हो ? कहते थे कि उसके उत्तर में उसने बड़ा ही सुन्दर पत्र लिखा है। कहा है कि मैं जान-बूझकर आर० टी० सी० में शरीक नहीं हुआ, क्योंकि मेरा खयाल है कि मैं बाहर रहकर अधिक सहायता कर सकता हूं। वह शीघ्र ही लंदन आने वाला है।

शिमले से एमर्सन[1] ने भी महात्माजी के पत्र का बड़ा ही संतोषजनक उत्तर दिया है। महात्माजी ने उसे बड़ी फटकार बताई थी, उसे बहुत-कुछ भला-बुरा कहा था। महात्माजी कहते थे कि उसका पत्र पढ़ने ही लायक है। उसने एक तार भी दिया था, पर वह किसी कारणवश महात्माजी को न मिल सका।

मैंने कहा कि "आपने अपना वक्तव्य सुना दिया। सबको मालूम हो गया कि आप क्या चाहते हैं। अब आगे क्या होगा ? आप उनके उत्तर की प्रतीक्षा करेंगे या उत्तर मिले बिना भी कमेटी की कार्रवाई में भाग लेंगे ?"

महात्माजी ने कहा, "मैं कार्रवाई में भाग लूंगा। जहां मैं देखूंगा कि कोई ऐसा प्रश्न उपस्थित है, जो कांग्रेस के किसी मूल सिद्धांत से संबंध रखता है और उसके विषय में कांग्रेस का मत स्पष्ट कर देना आवश्यक है, वहां मैं अपनी राय जाहिर कर दूंगा। उदाहरण के लिए, वोट देने के अधिकार का प्रश्न है। अनावश्यक बातों पर बोलने का मेरा विचार नहीं है। सैंकी शायद यह नहीं चाहता था कि मैं कार्रवाई में इस प्रकार भाग लूं। पर जब वह भाग लेने वालों की लिस्ट बनाने लगा तब मैंने भी अपना नाम लिखा दिया। उसे मेरा भाग लेना पसंद नहीं था। यह मैं इसलिए कहता हूं कि मैं उसकी बगल में ही बैठता हूं और उसने मुझसे इस सम्बन्ध में कुछ भी बात नहीं की। नाम लिखाकर मैंने उससे कह दिया कि तुम चाहे मुझे सबके बाद बोलने का मौका दे सकते हो।"

मैंने पूछा कि आप जहां कुछ भी न बोलेंगे वहां "मौनं सम्मति लक्षणं" तो न

१. एमर्सन—(सर) एच० डब्ल्यू एमर्सन; उस समय होम सेक्रेटरी थे, बाद में पंजाब के गवर्नर हुए।

समझा जायगा ?

महात्माजी ने कहा, "हर्गिज नहीं। यह तो मैं स्पष्ट कर दूंगा कि प्रत्येक निर्णय को मैं स्वीकार करता हूं—यह कोई न समझे।"

मैंने कहा, "मान लीजिए कि उन्होंने इसमें वहुत ज्यादा समय लगा दिया तो आप तवतक उनके उत्तर की राह देखते रहेंगे ?"

महात्माजी—"उनका उत्तर क्या होगा, यह तो मुझे कुछ ही दिनों में मालूम हो जायगा। पर अगर उन्होंने हमें छोटी वातों में उलझाकर समय विताना चाहा, तो मैं ऐसा कवतक होने दूंगा ? मैं भी तो लगाम कसना शुरू कर दूंगा !"

आज के भाषण के सम्वन्ध में मैंने पूछा कि उसके लिए आपने कोई तैयारी की थी क्या ? बोले, "कुछ भी नहीं। चाहता तो जरूर था कि ऐसे मौके पर वोलने के लिए कुछ तैयारी कर लूं, कुछ वातें सोच लूं। पर इसके लिए समय न मिल सका। कल रात कुछ ऐसी ही वाधा पड़ गई कि इस ओर ध्यान न दे सका। आज सुवह दो सज्जन मिलने आ गये। सोचा कि होर से मिलने इंडिया आफिस जाना है, रास्ते में कुछ सोच लूंगा। पर गाड़ी में एंड्रूज का साथ हो गया और रास्ते-भर वातें होती रहीं। इंडिया आफिस में नियत समय से २० मिनट पहले पहुंचा (कल महात्माजी को कांफ्रेंस पहुंचने में कुछ देर हो गई—भीड़ ज्यादा होने के कारण गाड़ियों को रुक जाना पड़ता है, इसलिए आज समय वचाकर चले थे), पर वहां भी कुछ सोचने का समय न मिला, क्योंकि होर के दो सेक्रेटरी आ गये और उनसे बातें होती रहीं। बस, इतना ही सोच सका कि कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से मुझे वोलना है, इसलिए उसके विषय में कुछ कहना चाहिए। जो कुछ तैयारी कर सका, वह इतनी ही।"

मैंने कहा कि बिना कुछ भी तैयारी के ऐसा अद्भुत भाषण हो, इसे तो दैवी अनुप्रेरणा ही समझना चाहिए।

महात्माजी बोले, "विलकुल ठीक है। लार्ड अरविन से समझौता हो जाने पर मैंने पत्र-प्रतिनिधियों को जो वक्तव्य दिया था, यहां आने के दिन मेरा जो भाषण हुआ, अमरीका के लिए अभी उस दिन जो संदेश देना पड़ा—इनमें किसी के लिए पहले से न तो कुछ तैयारी कर सका था, न कुछ सोच ही सका था। ऐन मौके पर हृदय में जो आकाशवाणी हुई, उसे दोहरा दिया। यह सब ईश्वर की अनुकंपा का फल है।"

आगे क्या होगा, ईश्वर जाने, पर आसार बुरे नहीं हैं। प्रधान मंत्री की ओर से कोई वात अभी तक आशाप्रद नहीं हुई है, पर जैसा कि गांधीजी ने कहा—उसका प्रभाव नहीं के वरावर रह गया है। अखवारों में अभी तक 'मैंचेस्टर गार्जियन' जैसी सचाई और सहानुभूति किसी दूसरे ने नहीं दिखाई, यद्यपि उसने भी भूलकर लिख दिया है कि महात्माजी ने लंगोटी त्यागकर पाजामा पहन लिया !

महात्माजी यह सुनकर हँसने लगे। 'डेली मेल' महात्माजी को सनकी (फेनेटिकल) लिखता जाता है, पर उसने भी तार द्वारा ३००० शब्दों का एक लेख इस आशय का मांगा है कि आप क्या चाहते हैं ? साथ ही वचन दिया है कि लेख ज्यों-का-त्यों छपेगा—एक शब्द का भी हेर-फेर न होगा। महात्माजी ने उसे उत्तर दिया है कि अभी तो बहुत-सा काम है, पर समय मिलते ही मैं लेख भेज दूंगा।

पंद्रह

१७ सितंबर, '३१
लंदन

कल रात को महात्माजी से फिर मिला था। मुझसे कहा, मैंचेस्टर साथ चलो। मैंने पूछा, "बंबई से तार आया है कि फेडरेशन के प्रतिनिधित्व का क्या होगा ?" उस पर महात्माजी ने कहा, मैं प्रधान मंत्री से कहने वाला हूं, किन्तु मेरे पांव और जम जायंगे, तब कहना ठीक होगा। यदि यहां से भागना ही पड़े तो क्या लाभ है ?

महात्माजी की शरीर-रक्षा के लिए काफी खुफिया तैनात है। कल रात को खुफिया वालों ने आकर कहा, "आपको तो कोई परवाह नहीं, किन्तु इंग्लैंड में रहते यदि आपका बाल भी बांका हो जाय, तो हमारा मुंह काला हो जायगा। इसलिए कृपया आप जहां जावें हमें सूचना दे दें, जिससे हमें आपका पीछा करने में सुभीता हो।" गांधीजी कहते थे कि भारत-सचिव ने भी उनसे ऐसा ही कहा। फलतः महात्माजी जहां जाते हैं, अपने दौरे की सूचना खुफिया को दे देते हैं।

एक ग्रामोफोन कंपनी वाला अपने रेकार्ड में महात्माजी का प्रवचन चाहता था। खूब बहस हुई। सारा मसला नीति की कसौटी पर कसा गया। अंत में मांग अस्वीकार की गई। कुछ दिन पीछे बहस-मुबाहसे के बाद यह मांग स्वीकार की गई।

क्लार्क[1] कहता था, "मैंचेस्टर को रोटी फेंक दो और भारत में रहने वाले अंगरेज व्यापारियों की दिलजमई कर दो तो तुम्हारा काम शीघ्र बन जाय।" किन्तु इनकी दिलजमई की जाय तो कैसे ? इन्हें चाहिए मिश्री और हम लोग बातों से ही इन्हें मिठास का अनुभव कराना चाहते हैं !

१. क्लार्क—सर रेजीनाल्ड क्लार्क; कलकत्ते के भूतपूर्व पुलिस कमिश्नर, व्यवसायी।

सोलह

२४ सितंबर, '३१
लंदन

कल रात को हाउस ऑफ कामंस में महात्माजी का भाषण था। श्रोताओं में सभी लोग मौजूद थे। उपस्थिति २०० के करीब थी, जिसमें प्रायः १५० पार्लमिंट के मेंबर रहे होंगे। कई वारादरियों से गुजरकर हम लोग सभा के स्थान पर पहुंचे। महात्माजी ने अपने भाषण में कहा, "हम लोग क्या चाहते हैं और क्यों चाहते हैं, यह मैं एक नहीं, अनेक वार वता चुका हूं। हम 'पूर्ण स्वराज्य' से ही संतुष्ट हो सकते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकायेंगे। हम भागीदार होकर तुम्हारे साथ रहना चाहते हैं, गुलाम होकर नहीं। हमारी मर्जी की बात होनी चाहिए—जबतक अपनी भलाई देखते हैं, तुम्हारे साथ रहेंगे, दूसरी बात होते ही संवंध-विच्छेद कर लेंगे। पिछली कांफ्रेंस में संरक्षणों पर जोर दिया गया था। पर जो व्यवस्था वहां तजवीज की गई थी, वह न तो 'औपनिवेशिक स्वराज्य' (डोमीनियन स्टेटस) था, न किसी प्रकार की स्वतंत्रता। फौज और परराष्ट्र-नीति दोनों ही तुम अपने हाथ में रखना चाहते हो। आर्थिक नीति के संवंध में भी तुम संरक्षण चाहते हो। फिर जो कुछ देते हो, उसका मूल्य ही क्या ? तुम कहते हो कि सेना भारत की रक्षा के लिए रहेगी। वास्तव में उसका काम होगा भारत को पराधीन रखना, उसके हाथ-पांव हिलने-डुलने न देना ! हम अंगरेजों को हर्गिज निकालना नहीं चाहते, पर हम यह जरूर चाहते हैं कि वे हमारे नौकर होकर रहें, मालिक होकर नहीं।"

इंग्लैंड ने आखिर गोल्ड स्टैंडर्ड छोड़ दिया। भारतवर्ष सोने से तो हट गया, पर स्टर्लिंग से वह अभी तक बंधा हुआ है। शुष्टर[1] ने शिमले में कुछ कहा और होर ने फेडरल कमेटी में कुछ ! जान-बूझकर यहां वालों ने पीछे वेईमानी की है। महात्माजी ने इस संवंध में जो वक्तव्य दिया, वह मुझे बहुत पसंद न पड़ा। मेरे कहने से उसमें उन्होंने थोड़ा परिवर्तन भी किया। रात को इस विषय में उनसे फिर बातें हुईं। मैंने कहा कि आप ऐसे मामलों में विना पूछे ही वक्तव्य दे देते हैं, यह कैसी बात है ? बड़ी बहस हुई। महात्माजी की दलील थी कि मेरे शब्दों का वह अर्थ ही नहीं हो सकता, जो तुम करते हो। बोले, "वकालत में जितनी अच्छी बातें सीखने को मिलती हैं, उन्हें मैंने ग्रहण कर लिया है। मैंने एक भी ऐसी बात नहीं रखी थी, जिसके लिए कोई मुझे पकड़ सके।" खैर, अंत में यह ठहरा कि भविष्य में विना सलाह लिये ऐसे विषय पर कुछ भी न कहेंगे।

१. शुष्टर—सर जार्ज शुष्टर; भारत-सरकार के तत्कालीन अर्थसदस्य।

भारत-सचिव की ओर से एक पत्र आया था। उसका जवाब भेज दिया है।

मेरे विरुद्ध काफी प्रचार किया गया है। इसका फल यह हुआ कि मेरा अविश्वास किया जाता है। हां, जबसे कांफ्रेंस का मेंबर बना हूं तब से लोगों से मिलना-जुलना ज्यादा होता है।

अटल[1] से मिला था। यहीं अचानक मुलाकात हो गई। इस सप्ताह लोथियन[2] और बेन[3] से मिला। अच्छी बातें हुईं। पर बातों से तो अब काम आगे नहीं बढ़ता।

पंडितजी की तंदुरुस्ती अच्छी है।

उस दिन श्री विट्ठलभाई पटेल महात्माजी के पास पहुंचे और कहने लगे कि फेडरल कमेटी में आपका जो भाषण हुआ, उसे पढ़कर तो मैं बेहोश-सा हो गया। यह आपने क्या कह डाला? महात्माजी बोले, "मैंने तो एक ही चार्ली चैपलिन का नाम सुना था, मुझे क्या खबर थी कि अपने यहां भी एक चार्ली चैपलिन है! खैर, तुम लोगों को मेरा भाषण पसंद नहीं है, तो तुम अपना मुख्तारनामा वापस ले सकते हो।"

महात्माजी की बातें निराली हैं। उस दिन कहते थे कि मुझे बच्चों के साथ खेलना जितना अच्छा लगता है, उतना आर० टी० सी० में शरीक होना नहीं लगता। गरीबों की मंडली ही महात्माजी की आर० टी० सी० है।

सत्रह

३० सितंबर, '३१
लंदन

महात्माजी मैंचेस्टर से लौट आये। वहां उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

हिंदू-मुस्लिम-प्रश्न अभी तक हल नहीं हो सका है। आशा भी कम है। सोमवार (२८ सितंबर, '३१) को कांफ्रेंस की अल्पसंख्यक-दल-कमेटी की मीटिंग थी। प्रधान मंत्री ने उसमें प्रजा-प्रतिनिधियों को इस हिसाब से बिठाया—सबसे पहले श्रीमती नायडू, फिर गांधीजी, फिर मालवीयजी, फिर मैं।

प्रधान मंत्री का भाषण मुझे अच्छा नहीं लगा। उसमें ईमानदारी नहीं थी।

१. अटल—पंडित अबरनाथ अटल; जयपुर दरबार के अर्थमंत्री और प्रतिनिधि, भारतीय राजनीति के अच्छे ज्ञाता।
२. लोथियन—स्व० लार्ड लोथियन; अमरीका के तत्कालीन ब्रिटिश राजदूत, भारतीय राजनीति के अच्छे ज्ञाता।
३. बेन—श्री वेजवुड बेन; मजदूर-मंत्रिमंडल में भारत-मंत्री, पार्लमेंट के पुराने सदस्य, सुलेखक तथा सुवक्ता।

खुशामद काफी थी। हमारे दर्शनशास्त्रों की भरपूर प्रशंसा भी थी, पर इन ऊपरी बातों के सिवाय और कुछ न था। महात्माजी के सामने, सभा-विसर्जन के बाद, उसने हाथ जोड़े और कहा कि कभी आपके आश्रम में आकर अपने पापों को धोऊंगा! मालवीयजी ने सर्वप्रथम दो दिन के लिए सभा स्थगित करने को कहा। मोहलत मिली भी, पर किसी से कुछ न बन पड़ा। गांधीजी और आगाखां में बातें जरूर चलती हैं, परंतु उसका मोहलत से कोई संबंध नहीं। कुछ 'प्रतिनिधियों' का रुख लज्जित करने वाला था। इनमें कोई कनफटे जोगी की तरह गाली देकर मांगता है, कोई घरू ब्राह्मण की तरह मांगता है, पर हैं दोनों भिखमंगे। यद्यपि यह स्पष्ट है कि ये ब्रिटिश सरकार के ही आदमी हैं और अपने मालिकों के मन की ही बात कहने-करने वाले हैं तो भी आपस में कुंजड़ों की-सी लड़ाई शरमाने वाली है।

हिंदू-मुस्लिम-समस्या के संबंध में गांधीजी की आगाखां से तीन-चार घंटे बातचीत हुई। उनकी तो वही पुरानी कहानी है कि अंसारी को बुलाओ! कागज पर दस्तखत भी करके दे आये हैं और कह दिया है कि जो कुछ अंसारी कहेगा, मान लूंगा और देश से मनवाने की पूरी कोशिश करूंगा। अब सबकी गर्दन अंसारी के हाथ में है, पर महात्माजी कहते हैं कि इसमें चिंता की कोई बात नहीं है। गांधीजी पर मुसलमान काफी बिगड़े हैं कि अंसारी को इतना वजन क्यों? और अंसारी को बुलाने वाले भी नहीं हैं, लेकिन जान पड़ता है कि टूटने की नौबत न आवेगी। अगर टूट भी जाय, तो हमारा बुरा नहीं है। आज फिर गांधीजी मुसलमानों से मिलने वाले हैं। कुछ लोगों का प्रस्ताव था कि अंगरेजों की पंचायत से निपटारा करा लिया जाय। किंतु पंडितजी और गांधीजी की राय कम है। यह सही भी है। जहां ऐसी पंचायत का प्रस्ताव किया, वहां हमारी कमजोरी साबित हो जायगी और हम स्वराज्य मांगने के लायक नहीं रहेंगे।

मार्ले से मिला था। यह पार्लमेंट का मेंबर है। कहता था कि कुछ होना-जाना नहीं है, बातें बना कर वापस कर देंगे। उसका खयाल है कि नये चुनाव में कंजर्वेटिव बड़ी तादाद में आ जायंगे और सब तरह से दमन करेंगे। मेरे पूछने पर उसने कहा कि आवश्यक हुआ तो यहां से पैसे और फौज दोनों ही भेजे जायंगे। अध्यापक हैरेल्ड लैस्की (लंदन-विश्वविद्यालय में राजनीति-विज्ञान का अध्यापक और इस देश का एक प्रसिद्ध विद्वान्) का मत और है। उसने कहा कि यहां की सेना अधिक काल तक वहां ऐसे काम के लिए नहीं ठहर सकती। लैस्की से अर्थ-शास्त्र-संबंधी बातें काफी हुईं। हमारे राजनैतिक मसले पर भी बातचीत हुई। उसका भी यही कहना है कि कुछ होने वाला नहीं है। लैस्की का खयाल है कि यहां भयंकर स्थिति पैदा होने वाली है। कल एक बहुत बड़ा जुलूस निकला था, जिस पर पुलिस की लाठियां बरसी थीं। कम्युनिस्ट पार्टी जोर पकड़ती जा रही है।

कल महात्माजी ने कहा कि पंडितजी को हिंदू-मुस्लिम-प्रश्न के संबंध में समझाओ। मैंने निवेदन किया कि आपकी आत्मा जो कहे, आप कर लें। पंडितजी भी मान जायंगे।

कल भारत-मंत्री से महात्माजी की तीन घंटे तक बातचीत हुई। महात्माजी ने कहा, "समय बरबाद न करो। देने के संबंध में या तो सीधी-सीधी बातें करो या वापस जाने दो। मुझे इससे कुछ भी दुःख न होगा, पर समय की बरबादी से होगा।" होर ने कहा कि आपको व्यर्थ न रोकूंगा। उसका भी विचार है कि कान्फ्रेंस में कुछ तय होना नहीं है। उसने छोटी-सी कमेटी का प्रस्ताव किया तो महात्माजी बोले, "मैं पहले से ही जानता हूं कि कान्फ्रेंस द्वारा कुछ तय होने वाला नहीं है। मैं तो तुम्हारे निमंत्रण के कारण इसमें शरीक हुआ हूं। पर कमेटी में भाग लेने से पहले यह तय कर लेना जरूरी है कि तुम कहां तक जाने को तैयार हो। पहले मूल सिद्धांतों पर हम सहमत हो लें, फिर और बातें कर लेंगे।"

होर—मैं पहले अरविन से बातें करूंगा। आपकी तरह हमारे भी आदर्श हैं। पर आपकी तरह हम यह नहीं मानते कि हिंदुस्तान में हमसे इतनी ज्यादा बुराई हुई है। हमसे बहुत-कुछ भलाई हुई है। वर्तमान स्थिति में हम आपको सेना और अर्थ-विभाग का अधिकार कैसे दे सकते हैं?

महात्माजी—भूल से मनुष्य बुरी बात को अच्छी मान लेता है। तुम्हारे इस समय जो आदर्श हैं, उन्हें बिना चोट लगे तुम न भूलोगे!

होर—मैं मानता हूं कि ऐसा हुआ करता है, पर इस समय तो हमारा यही विश्वास है कि हमारे आदर्श झूठे नहीं हैं।

महात्माजी—करेंसी और एक्सचेंज के संबंध में निर्णय करने से पहले तुमने हमारे विशेषज्ञों को क्यों नहीं बुलाया?

होर—मैं मानता हूं कि भूल हुई।

भूल-सुधार के नाम पर अब वह यह करनेवाला है कि मुझको यहां के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ और अपने सलाहकार सर हेनरी स्ट्राकोश[1] से मिलावेगा। हम दोनों की बहस होगी और गांधीजी उसे सुनकर यह निर्णय करेंगे कि सरकार ने जो कुछ किया, वह अच्छा था या बुरा। इसके लिए अगला मंगलवार निश्चित हुआ है। होर अपने दो-एक मित्रों को भी बुलाने वाला है। संभवतः ये मित्र सर मानिकजी दादाभाई-जैसे लोग होंगे। वास्तव में हम दोनों के बीच यह एक दंगल-सा होगा। पर मुझे तनिक भी आशंका नहीं है कि वह मेरी दलील को किसी भी अंश में कमजोर साबित कर सकेगा।

१. स्ट्राकोश—स्व० सर हेनरी स्ट्राकोश; अर्थशास्त्री, भारत-मंत्री के सलाहकार, व्यवसायी।

कल बेंथल[1] से महात्माजी की बहुत-सी बातें हुईं। उसने मेरा ज़िक्र किया और मुझे गरम मिजाज का बताया। उसका कहना था कि बिड़ला का आप पर असर पड़ जाता है। महात्माजी ने कहा कि मुझ पर किसी का भी जल्दी असर नहीं पड़ता। बेंथल ने मुझे मंगलवार को निमंत्रित किया है। देखें, क्या बातें होती हैं।

आज प्रधान मंत्री से महात्माजी मिले। बड़ी दिलचस्प बातें हुईं। होर के संबंध में महात्माजी की जितनी अच्छी धारणा हुई उतनी प्रधान मंत्री के संबंध में नहीं। उसने कहा, "तुम बार-बार पूछते हो कि क्या दोगे ?' पर यह बताओ कि तुममें क्या-क्या लेने की ताकत है ?"

महात्माजी—"तो तुम मुझे ललकारते हो ! मैं यहां आता ही क्यों ? मैं वहीं बैठा-बैठा सबकुछ ले लेता। आज तुम मुझे वापस जाने दो, मैं जो लेना चाहूंगा, ले लूंगा। कांफ्रेंस को तुमने अपने पिट्ठुओं से भर दिया। अगर तुम मुझे अपना प्रतिनिधि बनाकर हिंदुस्तान भेजो, तो मैं तुम्हें सौ ऐसे आदमी और ला दूं जो किसी प्रकार का समझौता न होने दें। तुम्हारी कांफ्रेंस में जो अछूतों का प्रतिनिधि है, उसे किसने अपना प्रतिनिधि चुना ? मेरा तो दावा है कि अछूतों का सच्चा प्रतिनिधि मैं हूं। ऐसे-ऐसे आदमियों को जमाकर के उनके बल पर तुम मुझे ताना देते हो कि तुममें क्या लेने की ताकत है ! अगर तुम्हारा दिल पाक-साफ है, तो तुम हमें इस शर्त पर स्वराज दे दो कि हम आपस के झगड़े निपटा लेंगे, फिर देखो कि हम प्रश्न को हल कर लेते हैं या नहीं।"

बड़ी अच्छी फटकार थी। प्रधान मंत्री बगलें झांकने लगा। कहा कि हम दोनों की अपनी-अपनी कठिनाइयां हैं।

महात्माजी ने उत्तर दिया, "मेरी नहीं, तुम्हारी कठिनाइयां हैं।"

उसका अच्छा असर न पड़ने पर भी महात्माजी प्रफुल्लित थे। रंग-ढंग से उत्साह काफी जान पड़ा। मेरा खयाल है कि महात्माजी से लड़ाई मोल लेने की मूर्खता यहां वाले न करेंगे। इनकी नीयत तो बेहद खराब है, पर यहां की स्थिति ऐसी बुरी होती जा रही है कि कांफ्रेंस टूटने न देंगे। लैस्की ने कहा था कि बुध को सैंकी मिलकर बातें करेगा। उसकी जगह प्रधान मंत्री खुद मिला। कल पंडितजी से उसकी बातें होने वाली हैं। पर एक बार मामला रंग पर आये बिना कुछ होने वाला नहीं है। महात्माजी संभवतः शीघ्र ही वैसी परिस्थिति उत्पन्न कर देंगे।

एक्सचेंज का अध्याय अभी समाप्त नहीं हुआ है। प्रायः प्रत्येक देश सोने से विदा लेता जा रहा है। इसका सबसे बड़ा असर यह हुआ है कि देने-लेने की जो बंधी रकमें थीं वे आप-ही-आप घट गईं। कर्जदारों का कर्ज, पूंजी वालों की पूंजी कम हो गई। स्थिति खराब है, इसलिए अभी बाजार सुधरने की आशा नहीं है।

१. बेंथल—सर एडवर्ड बेंथल; कलकत्ते की बर्ड कंपनी के 'बड़ा साहब', ब्रिटिश व्यापारियों के प्रतिनिधि।

खुफियावाले बराबर महात्माजी के साथ उनकी हिफाजत के लिए चलते हैं। उनकी गाड़ी के आगे पुलिस की गाड़ी चलती है। जहां भीड़ नजर आई वहां इस गाड़ी की घंटी बजी और पुलिस के सिपाहियों ने रास्ता साफ कर दिया।

अठारह

१ अक्तूबर, '३१
लंदन

आज अल्पसंख्यक-दल-कमेटी की फिर बैठक थी। महात्माजी ने कल मुसलमानों से कह दिया, "मैं साफ-साफ बता दूंगा कि मौजूदा हालत में समझौता मेरे बस की बात नहीं है। अगर कुछ नहीं होता तो मैं कांफ्रेंस से हट जाता हूं।" इस पर उन लोगों ने आग्रह किया कि आप समझौते के लिए एक छोटी कमेटी बना दें और उसमें एक बार फिर प्रयत्न कर देखें कि कुछ तय होता है या नहीं। इसलिए फिर एक सप्ताह के लिए कमेटी का कार्य स्थगित किया गया। समझौते की कमेटी बन गई है। मुझे भी उसका मेंबर रखा है।

इन कमेटियों में कुछ होना नहीं है। मैंने महात्माजी से कहा भी कि ऐसी बीसों कमेटियां पहले बैठ चुकीं, आपने यह फिर बला क्यों मोल ली ? अंसारी के बिना आप तो कुछ कमोवेश करने वाले नहीं और अन्य लोगों से तो अनंत काल तक भी समझौता नहीं होने का है। महात्माजी कहते हैं, "यह कमेटी तो मुझे नीचा दिखाने के लिए बनाई गई है और यह जानते हुए भी मैंने ही इसका संचालन करना स्वीकार किया है, किंतु इसमें भी मेरी कोई हानि नहीं है। अन्त में मैं तो अपना निर्णय दे दूंगा, चाहे कोई माने या न माने।" मुझे उनकी यह बात नापसंद है। किंतु गांधीजी सबकुछ समझकर ही करते हैं, इसलिए देखें क्या होता है।

अबतक का निचोड़ तो यह है कि न तो हम तिल घटे, न चावल बढ़े। जहां-के-तहां ध्रुव की तरह बैठे हैं। यह भी स्पष्ट है कि अबतक यहां के किसी प्रतिष्ठित नेता ने जीभ नहीं जमाई है, तो भी मेरा ऐसा खयाल है कि अबतक की सारी बातें 'बिलैया दंडवत्' हैं। या तो यों कहना चाहिए कि दोनों दल सलामी उतार रहे हैं। असल मुठभेड़ अगले सप्ताह में हो जायगी। उसके बाद या तो उस पार या इस पार। मुझे तो अबतक यही विश्वास है कि कोई रास्ता निकलेगा। लेकिन यह स्पष्ट है कि महात्माजी को छोड़कर सब यहां तेजहीन-से हो रहे हैं। कुछ तो लंदन के सामने हक्के-बक्के हो गये, कुछ महात्माजी के सामने दब गये, पर तो भी किसी में जिसको हम 'झाड़ा-फाड़ा' कहते हैं, वह करने की शक्ति नहीं है। विचार करते-करते लोग बुड्ढे हो गये, किंतु 'अब भी वह विचार, १०० वर्ष बाद

देखो तो वही विचार' यह हाल है।

प्रधान मंत्री ने आज महात्माजी से कहा कि कल मैंने जो कुछ कहा, उसका आपने कुछ भी बुरा तो नहीं माना ! मैंने महात्माजी से कहा कि होर का आप पर अच्छा प्रभाव पड़ा और प्रधान मंत्री का बुरा, परअन्त में प्रधान मंत्री ही आपका साथ देगा। इस पर श्रीनिवास शास्त्री ने कहा, "दोनों में कोई साथ न देगा। प्रधान मंत्री से कुछ भी आशा करना व्यर्थ है। यह पक्का साम्राज्यवादी है और मौका पड़ने पर अपने सिद्धान्तों को ताक पर रख देता है।"

उन्नीस

४ अक्तूबर, '३१
लंदन

आज बेंथल से दिन में भोजन के समय देर तक बातें हुईं। उसकी पत्नी भी मौजूद थी। पर हम लोगों की बातचीत अलग हुई।

मैंने आरम्भ में ही कहा, "मुझे तुम लोग गरम मिजाज का बताते फिरते हो और मेरा विश्वास भी कम करते हो। ऐसी अवस्था में मुझे डर है कि हम दोनों की स्पष्ट बातें न हो सकें। पर अगर ऐसा हुआ तो इससे कुछ भी लाभ न होगा।"

बेंथल ने कहा कि विश्वास रखो, मैं साफ-साफ बातें करूंगा। फिर हम दोनों की जो बातचीत हुई उसका सारांश इस प्रकार है :

मैं—हम लोगों का खयाल है कि कांफ्रेंस के कारण समय की बरबादी हो रही है। सरकार ने इसे अपने खुशामदी टट्टुओं से प्रायः भर दिया है और इसके द्वारा कुछ भी काम बनना असंभव है। अगर सचमुच समझौता करना चाहते हो तो पहले मूल बातें निश्चित हो जानी चाहिए—यह मालूम हो जाना चाहिए कि तुम कहां तक आगे बढ़ने को तैयार हो। मूल निश्चित हो जाने पर शाखा और पल्लव से संबंध रखने वाली बातें एक विचार-समिति के हवाले कर दी जायंगी।

बेंथल—एक दल यहां अवश्य इस बात के पक्ष में था कि समय नष्ट करके सबको यों ही वापस कर दिया जाय। पर दूसरे दल का—और यह दल प्रभावशाली है—विचार हुआ कि नहीं, समझौता अवश्य हो जाना चाहिए। मैं जो कुछ कहता हूं, उसकी प्रामाणिकता का तुम पूरा विश्वास कर सकते हो। ऐसे काम में अधीर होना ठीक नहीं। साल-भर भी इस काम के लिए थोड़ा ही समझना चाहिए। मैं नाम नहीं बता सकता, पर मैं जिस दल की बात करता हूं, उसकी पूरी राय है कि कुछ तय अवश्य हो जाना चाहिए।

मैं—साल भी लगे तो परवा नहीं, बशर्ते कि सचाई हो—समझौते की पूरी ख्वाहिश हो।

बेंथल—मैं यह मानता हूं, पर जहां तुम्हारी ओर से कानून द्वारा हमें बहिष्कृत करने की बातें होती हैं, वहां समझौता कैसे हो ?

मैं—इस संबंध में तो गांधीजी आश्वासन दे ही चुके हैं, मैंने भी जातिगत बहिष्कार के विरुद्ध मत प्रकट किया है।

बेंथल—पर वर्किंग कमेटी की जो रिपोर्ट निकली है, उसे देखो। उसमें तो भारतवासियों की ओर से जो प्रस्ताव किये गए हैं, उनका उद्देश्य यही है कि अंगरेजों को इस क्षेत्र से निकाल बाहर किया जाय।

मैं—असल में परिस्थिति और वातावरण को देखना चाहिए। मौजूदा हालत में हमें यह जरूर कहना पड़ता है, पर हमें पूरा अधिकार मिल जाय तो हमारा रुख बदल जायगा।

बेंथल—गांधीजी इस बात पर जोर देते हैं कि आजतक जो कुछ हो चुका है, उसकी हम पूरी जांच करेंगे। मसलन वह इस बात पर तुले हुए हैं कि जितने पट्टे सरकार द्वारा दिये जा चुके हैं उनकी जांच हो और यह देखा जाय कि कहां-कहां पक्षपात हुआ है। पर यह कैसे पार पड़ेगा ? न जाने कितने हजार पट्टे होंगे। किस-किस की जांच होगी ?

मैं—जांच उन्हीं की होगी, जिनके बारे में लोगों को शिकायत होगी। पर इस विषय में तुम गांधीजी का समाधान करा दो। वास्तव में मेरी उपयोगिता तो तब होगी, जब तुम दोनों की बातें हो लेंगी और यह निश्चित हो जायगा कि समझौते की संभावना है। तुम अपनी रक्षा की बात करते हो, पर भारतवासियों की रक्षा कैसे हो ? सिंधिया-कंपनी मौत की राह देख रही है, उसकी रक्षा का क्या उपाय है ? किसी भी तरह हम उसे बचाने का प्रयत्न करते हैं तो तुम्हारी ओर से यह शिकायत होती है कि हम तुम्हें मारते हैं।

बेंथल—तुम इंचकेप[1] की संपत्ति ले लो और अपने उद्योग-धन्धे की रक्षा करो। सरकार खास कानून बनाकर ऐसी संपत्ति अपना ले तो हमें कोई आपत्ति न होगी। रक्षा करने के और भी उपाय हैं। इस देश में विदेशी रंग के बहिष्कार के लिए खास ऐक्ट बना हुआ है। उसमें लेसंस लेने का ऐसा विधान है कि विदेशी रंग के व्यापार के लिए वह मिल ही नहीं सकता। तुम भी कुछ ऐसे ही नियम बनाकर अपने उद्योग-धंधों की रक्षा कर सकते हो।

मैं—हमें नाम से नहीं, काम से मतलब है। कोई भी अच्छा रास्ता बताओ, हम उसे मान लेंगे। यह जरूर है कि हमारे यहां एक दल कानून-बहिष्कार का

१. इंचकेप—स्व० लार्ड इंचकेप; किसी जमाने में कलकत्ते के मि० जेम्स मेके, पी० एण्ड ओ० नामक जगत्प्रसिद्ध जहाजी कंपनी के सर्वेसर्वा।

पक्षपाती है, पर हम उसे मना लेंगे।

वेंथल—समझौते की पहली सीढ़ी है हमारे व्यापार-संबंधी अधिकारों का सुरक्षित हो जाना।

मैं—अंगरेज व्यापारियों के प्रतिनिधि तुम हो, कांग्रेस के प्रतिनिधि गांधीजी हैं। तुम दोनों एकत्र होकर बातें कर लो। अगर समझौता हो जाय तो तुम उनका पूरा साथ दो। न हो सके, कांफ्रेंस निष्फल हो जाय, तो हम लोग अपने-अपने घर की राह लें।

वेंथल—मेरी भी यही राय है।

मैं—अब जितने विषय हैं, उन्हें एक-एक करके लो और प्रत्येक के संबंध में अपनी राय जाहिर करो।

वेंथल—फौज के बारे में मेरी कोई वकत नहीं, इसलिए मैं कुछ कहना नहीं चाहता। पर हां, हमारी ओर कोई टस-से-मस होने को तैयार नहीं है।

मैं—मैं तुम्हें यह कह देना चाहता हूं कि गांधीजी भी इस विषय में टस से-मस होने को तैयार नहीं हैं। पर तुम उनकी बात तो सुन लो कि वह क्या चाहते हैं, अधिकार का वह क्या अर्थ करते हैं।

वेंथल—मैं इतना जरूर कहूंगा कि फौज के लिए हठ करना ठीक न होगा। आखिर किसी राष्ट्र के जीवन में दस-वीस वरस कितने दिन होते हैं!

मैं—वेशक, मगर यह तो पक्का हो जाय कि इतने दिनों बाद हमारा पूरा अधिकार हो चलेगा।

वेंथल—इसकी बातें होंगी। अब मैं कर्ज की बात लेता हूं। मेरी सलाह है कि भूलकर भी तुम कर्ज चुकाने से इन्कार मत करना।

मैं—इंकार तो करते नहीं। हमारा तो यह कहना है कि न्याय से हम जिसके देनदार सावित न हों, वह हम न दें।

वेंथल—जो हो चुका, हो चुका। जो कर्ज है, उसे तुम कबूल कर लो। हां, यह हो सकता है कि झगड़ा मिटाने के लिए इंग्लैंड तुम्हें एक सालाना रकम दे दिया करे।

मैं—मतलब रुपये से है, चाहे वह किसी भी रूप में मिले। इन दोनों बातों पर हम लोग वहुत-कुछ सहमत जान पड़ते हैं। अब आर्थिक संरक्षणों की बात लो। हमारी स्वतंत्रता को नियन्त्रित करने के दो उद्देश्य हो सकते हैं—या तो हमारा भला चाहते हो या अपने हित या स्वार्थ को सुरक्षित रखना चाहते हो। अगर तुम यह सावित कर दो कि तुम जैसा नियंत्रण चाहते हो, वह हमारी भलाई के लिए है तो हम तुम्हारी वात मान लेंगे। पर तुम्हीं विचारकर देखो कि वैसी परिस्थिति में हम अपनी क्या उन्नति कर सकेंगे, अपने गरीब भाइयों को क्या आराम पहुंचा सकेंगे? भारत-सरकार का सालाना बजट प्रायः १३०

करोड़ रुपये का होता है। रेलवे, फौज, कर्ज और पेंशन इत्यादि में प्रायः ११० लग जाते हैं और इन पर तुम अपना अधिकार चाहते हो ! फिर हमें जो स्वतंत्रता मिली, वह कुल २० करोड़ के लिए। अगर हमने कोई भी टैक्स घटाना चाहा तो वाइसराय झट कूद पड़ा और हमें रोक दिया। ऐसे स्वराज से क्या लाभ? तुम हिसाब करके देख लो कि क्या हमें देते हो और क्या अपने हाथ में रखते हो?

बेंथल—फौज का खर्च बेशक बहुत ज्यादा है। मैं उसके घटाने के पक्ष में हूं।

मैं—शायद तुम यह मंजूर करोगे कि इस फौज के खर्च का कुछ हिस्सा इंग्लैंड से मिलना चाहिए।

बेंथल—मैं मंजूर करता हूं।

रेलवे-विभाग के संबंध में उसने कहा कि उसे व्यापार की तरह चलाया जाय, भारत-सरकार को केवल अंतिम निर्णय करने का अधिकार रहे। रिजर्व बैंक के बारे में पूछा कि तुम क्या इसे पसंद करते हो कि वह राजनैतिक दलबंदी के प्रभाव में रहे।

मैंने कहा, "मैं सरकार के लिए पूरी स्वतंत्रता चाहता हूं। जिस तरह यहां की सरकार ने गोल्ड स्टैंडर्ड जब चाहा छोड़ दिया, उसी तरह हमारी सरकार को भी यह अधिकार होना चाहिए कि देश के लिए जो उचित समझे, करे।"

बेंथल—ठीक है, पर वाइसराय की मंजूरी से करे।

मैं—मेरी राय है कि वाइसराय की मंजूरी का यह अर्थ न हो कि वह बात-बात में दखल दिया करे। पर इस विषय में भी गांधीजी ही प्रामाणिक रूप से कुछ कह सकते हैं।

बेंथल—इस मामले में तीन भागीदार हैं—देशी नरेश, सरकार और ब्रिटिश भारत। अगर तीनों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो जाय, तो सारा प्रश्न हल हो चले।

मैं—सरकार के प्रतिनिधित्व का क्या अर्थ?

बेंथल—जबतक पूरे अधिकार नहीं मिल जाते तबतक कुछ ऐसी व्यवस्था आवश्यक है।

मैं—पर कौन कह सकता है कि जो व्यवस्था थोड़े समय के लिए की जायगी वह स्थायी न हो चलेगी? खैर, इन बातों पर आगे विचार होने का क्या रास्ता है?

बेंथल—फुरसत हो तो मंगलवार को गांधीजी, तुम, मैं, कार[1] और कैंटो[2]

१. कार—सर ह्यूबर्ट कार; बेंथल के साथ भारत के ब्रिटिश व्यापारियों के प्रतिनिधि।
२. कैंटो—लार्ड कैंटो; कलकत्ते की एण्ड्र यूल कंपनी से संबंध रखने वाले प्रसिद्ध अंगरेज व्यवसायी।

मिलकर पहले व्यापार संबंधी अधिकारों के विषय में कुछ निर्णय कर लें। उसके बाद आर्थिक संरक्षणों के विषय में ब्लैकेट,[1] स्ट्राकोश इत्यादि मिलकर बातें कर लेंगे।

बीस

६ अक्तूबर, '३१
लंदन

आज शाम को इंडिया आफिस में सर हेनरी स्ट्राकोश के साथ 'दंगल' हुआ। सभापति का आसन पहले तो भारत-सचिव सर सैम्युअल होर ने ग्रहण किया, पर मंत्रिमंडल की मीटिंग थी, इसलिए सर रेजिनाल्ड मैंट को अपना पद देकर वह कुछ ही मिनट बाद चलता बना। और बहुत-से लोग उपस्थित थे—गांधीजी, सर पुरुषोत्तमदास, मि० जिन्ना, सर मानिकजी, सर फ़ीरोज-शाह सेठना, के० टी० शाह,[2] प्रो० जोशी,[3] रंगास्वामी अय्यंगार[4] इत्यादि, इत्यादि। गांधीजी प्रायः ७ बजे कार्यवश उठकर चले गये। ५॥ बजे से कार्रवाई आरंभ हुई। सरकार की ओर से सर हेनरी स्ट्राकोश ने वक्ता का काम किया और अपनी ओर से मैंने। ब्लैकेट भी मौजूद था, पर कुछ बोला नहीं।

स्ट्राकोश ने पहले तो संसार की परिस्थिति का दिग्दर्शन कराया, फिर भारतवर्ष की बातें करने लगा। उसकी सबसे बड़ी दलील यही थी कि अगर एक्स-चेंज १-६ स्टर्लिंग पर न बांध दिया गया होता तो न जाने लुढ़कते-लुढ़कते कहां जाकर दम लेता और न जाने सरकार को कहां तक नोट छपाकर अपना काम चलाना पड़ता। मैंने जब पूछा कि आखिर ठहराने के लिए तुम्हारे पास साधन क्या है, तब उससे कोई उत्तर न बन पड़ा। उसने अधिकांश समय मेरी उन दलीलों का जवाब देने में लगाया जो मैंने आर्थिक सुधार (मॉनीटरी रिफार्म) नाम की पुस्तिका में पेश की हैं। मैंने कहा कि मैं बात-बात पर बहस करने को तैयार हूं, पर मैं यह कह देना आवश्यक समझता हूं कि उस पुस्तिका में मैंने जो मत प्रकट किया है, वह मेरा अपना है, भारतीय व्यापारी-वर्ग का नहीं। यहां जो लोग आये हैं, वे भारत-सरकार की नीति के विषय में कुछ कहने-सुनने आये हैं, इसलिए उस विषय को छोड़कर मेरी पुस्तिका की समालोचना में समय लगाना इनके

१. ब्लैकेट—स्व० सर बेसिल ब्लैकेट; शुष्टर से पहले भारत सरकार के अर्थसदस्य।
२. —३. के० टी० शाह तथा प्रो० जोशी; बंबई के अर्थशास्त्री।
४. रंगास्वामी अय्यंगार; मद्रास के 'हिंदू' नामक पत्र के संपादक।

साथ अन्याय करना है। फिर भी स्ट्राकोश ने अपना विचार न बदला। खैर, अच्छी बहस हुई। मैंने लिखा था कि एक्सचेंज की दर उठाने का वास्तविक उद्देश्य अंगरेज सिविलियन और व्यवसायी को लाभ पहुंचाना था। यह बात इन लोगों को खूब चुभी और स्ट्राकोश कहने लगा कि इसे किस तरह प्रमाणित कर सकते हो? सर पुरुषोत्तमदास ने कहा कि यह किस्सा तो लंबा-चौड़ा है, और इसे सुनने-सुनाने के लिए समय चाहिए।

खाने-पीने का वक्त हो रहा था। लोगों को अपने-अपने काम से जाना था। इसलिए चर्चा स्थगित की गई। मुझे ऐसा जान पड़ा कि स्ट्राकोश अपने विषय का पूरा पंडित है, पर बेईमान नहीं है। इसलिए संभव है, या तो फिर इसकी चर्चा ही न हो या ब्लैकेट-जैसे आदमी को सरकारी पक्ष के समर्थन काम सौंपा जाय। स्ट्राकोश अच्छी तरह जानता है कि सरकार की ओर से पेश करने लायक कोई जोरदार दलील नहीं है। वह करे तो क्या? बोला कि तुमने बार-बार कहा है कि हमारा सोना उड़ा दिया। वास्तव में सरकार ने उड़ाया नहीं, हिंदुस्तान की जो जिम्मेदारी थी, उसे पूरा किया। मैंने पूछा, इंग्लैंड की भी तो जिम्मेदारी थी—यहां क्या किया? उसने कहा, "मगर इंग्लैंड हिंदुस्तान-जैसा दूसरों का देनदार नहीं है।" मैंने उत्तर दिया, "मैं इसे मानता हूं, पर दो बातें हैं। इंग्लैंड वैसे देनदार न हो, पर यहां एक्सपोर्ट से इंपोर्ट ज्यादा है। हमारा देश देनदार है, पर वह इंपोर्ट से एक्सपोर्ट ज्यादा करता है। यह तुम्हें न भूलना चाहिए। साथ ही, यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हम अपने उद्योग-धंधों की उन्नति कर अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ाकर ही अपना देना चुका सकते हैं। फिर हमारी नीति कौन-सी होनी चाहिए—उद्योग-धंधों को बढ़ाने वाली या उनका सत्यानाश करने वाली?" स्ट्राकोश फिर निरुत्तर रह गया।

इक्कीस

७ अक्तूबर, '३१
लंदन

आर० टी० सी० में अबतक क्या हुआ है, ऐसा पूछा जाय तो यही कहना होगा कि कुछ भी नहीं। अल्पसंख्यक जातियों का झगड़ा अभी निबटना बाकी है। स्वराज विधान के संबंध में एक चावल-भर भी प्रगति अबतक नहीं हो पाई है, तो भी यह कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे हम आगे बढ़ रहे हैं। गांधीजी की मैत्री फैलती जा रही है, लोगों से ऐसी बातें होती रहती हैं और हमारे कार्य को कुछ-न-कुछ नया स्वरूप रोज मिलता रहता है। अल्पसंख्यक जातियों के समझौते

की कहानी दूसरे अध्याय में मिलेगी।

आज गांधीजी, सर पुरुषोत्तमदास, बेंथल, कार और मैं, पांचों बैठे और मशवरा शुरू कर दिया। संख्या के हिसाब से शकुन ठीक हुआ, क्योंकि पंच पांच ही होते हैं, हम भी पांच थे। तीन बातें लोगों ने आपस में तय कीं :

(१) स्वराज में अंगरेजों के प्रति किसी प्रकार का भेद-भाव न हो।

(२) जातीय भेद-भाव का खयाल किये बिना स्वराज सरकार भारतीय उद्योग-धंधों को संरक्षण दे। ऐसे संरक्षण में ध्येय अमुक दूकान या व्यवसाय को संरक्षित करना ही होगा, न कि काले-गोरे का भेद करना।

(३) आज की सरकार से किसी व्यवसायी ने बेईमानी से कोई स्वत्व प्राप्त कर लिए होंगे तो उनकी जांच-पड़ताल का हक स्वराज-सरकार को होगा।

वार्त्तालाप के अंत में तय हुआ है कि यह सिलसिला आगे चलेगा और इन्हीं लोगो द्वारा ब्लैकेट, स्ट्राकोश इत्यादि से आर्थिक विधान के संबंध में समझौता होगा, जिसे, आशा की जाती है, यहां की सरकार भी स्वीकार कर लेगी।

बाईस

८ अक्तूबर, '३१
लंदन

आज सुबह गांधीजी सैंकी और हर्बर्ट सैम्युअल[1] से मिले। बातों का सारांश इतना ही है कि अभी उन्होंने लंबी आशा नहीं दी है। सैंकी ने कहा कि तुम्हें खाली हाथ न जाने देंगे, किंतु सैंकी मिठबोला भी है। गांधीजी कहने लगे कि होर यदि ऐसी आशा दिलाये तो उसकी ज्यादा कीमत की जानी चाहिए। किंतु उसने ऐसी आशा नहीं दिलाई है।

मैंने गांधीजी से आज साफ ही पूछा कि आपको क्या आशा है ? कहने लगे कि खाली हाथ जाना होगा। मैंने कहा, "पर संभव है कि इतना मिल जाय, जिससे आपको लड़ना न पड़े।" कहने लगे, हां, ऐसा संभव है और उसी का प्रयत्न कर रहा हूं। होर ने कहा है कि हमें तो कई दिनों तक आपसे बातों का सिलसिला रखना होगा। यह स्पष्ट है कि अब आर० टी० सी० का महत्त्व नहीं है। जो काम होना है वह भीतर-ही-भीतर होगा। अरविन ने लिख दिया है कि मुझ-

१. हर्बर्ट सैम्युअल—सर हर्बर्ट सैम्युअल, जिन्हें बाद में लार्ड की उपाधि मिली। प्रसिद्ध यहूदी विद्वान् और राजनीतिज्ञ।

से मिले बिना हर्गिज न तोड़ना। इन्होंने भी लिख दिया है, 'तथास्तु'।

यहां के कोई फौजी अफसर गदर के जमाने में लूटपाट करके हिंदुस्तान से कुछ जवाहरात ले आये थे। ज्यादा कीमती नहीं, पर कुछ मूल्यवान तो था ही। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह चीज उनके वंश में चली आती थी। अब गांधीजी यहां आये तो उनकी ख्याति सुनकर उस वंश के लोगों को लगा कि गांधीजी के देश का हराम का माल रखने से तो हमारा नाश हो सकता है। आज उनके कुटुंब की स्त्रियां आईं और वह हार जो पुखराज का था, गांधीजी के चरणों में रखकर कहने लगीं, "हमारे पुरखे लूटकर भारत से यह लाये थे, बहुत दिन रखा, अब आपके तप का बखान सुना तो रखने की हिम्मत नहीं होती।" गांधीजी ने हार को स्वीकार कर लिया। तप का ही यह चमत्कार है, वरना भेड़िये के मुंह में गया ग्रास वापस नहीं आता।

तेईस

९ अक्तूबर, '३१

लंदन

अल्पसंख्यक दल-कमेटी की कहानी सारी-की-सारी दुःखद है। एक सप्ताह तक यह नाटक चला और अंत में जहां-के-तहां! वही सीटों का झगड़ा, वही अविश्वास! अंत में छठे दिन किसी ने प्रस्ताव किया कि कुछ पंच हों, उन्हें मामला सौंप दिया जाय। गांधीजी ने पूछा, "मुंजे! तुम्हारी क्या राय है?" उत्तर मिला, मुसलमानों से पूछिए। मुसलमानों से पूछा तो कहने लगे कि सलाह करके बतायेंगे। रात को दस बजे फिर सभा बैठी। मुसलमानों ने कहा कि हमें मंजूर है, तो डा० मुंजे ने भी कहा कि मंजूर है। किंतु सवाल उठा कि पंच कौन हो? डा० मुंजे बोले कि पंच कोई बाहर का आदमी हो। मुसलमानों ने कहा, नहीं, मेंबरों में से कोई हो।

इस सारे नाटक को देखकर मुझे तो दुःख होता था। दोनों दलों में परस्पर के अविश्वास के अलावा और भी बात आ गई है। नतीजा यह हुआ है कि गांधीजी का बोझ बढ़ता जाता है। दिन-रात काम करते हैं, ३ घंटे से ज्यादा सोने को नहीं मिलता। इनके बल पर ही यहां थोड़ी पूछ है, जिस पर तुर्रा यह कि हर तरह से हमारे ही लोग इन्हें तंग करते रहते हैं। मुसलमान करें तो हम लाइलाज हैं, किंतु हिंदू भी करते हैं। जिनसे आशा थी, उन्होंने भी सहायता नहीं की। मैंने गांधीजी से स्पष्ट कहा कि आपको करना है, सो करें। कहने लगे, "सो तो करूंगा ही, किंतु मुसलमान भी तो कहां मेरा साथ देनेवाले हैं! और साथ देने

का जबतक वादा न करें तबतक मैं आत्म-समर्पण करके क्या करूं?" आज आखिर भरी सभा में गांधीजी ने कह दिया कि मैं तो हार गया, किंतु हार का यह भी कारण है कि यह सम्मेलन असल पंचों का नहीं है, इसमें नकली पंच हैं। बस इतना कहा, मानो मधुमक्खियों के छत्ते को छेड़ दिया। शफी[1] आपे से बाहर। अंबेडकर ने तो जहर ही उगल डाला। कहने लगा, "महात्मा को तो झूठा दावा करने की आदत है। छह करोड़ अछूत तो मुझे ही मानते हैं, इनको कोई पूछता भी नहीं।" प्रधान मंत्री ने भी गांधीजी को खोटी-खरी सुनाई। मेरे बदन में तो आग-सी लग गई। गांधीजी कहने लगे, शांत हो, हमारा रास्ता ठीक है; दूसरे क्या कहते हैं, इसकी क्या चिंता है!

चौबीस

२१ अक्तूबर, '३१
लंदन

इस सप्ताह का हाल तो अत्यंत निराशाजनक है। गत आर० टी० सी० में कुछ तो आशा थी, पर इस बार तो सबके मुंह फीके हैं। माया-जाल तो अंगरेजों ने ही बिछाया था, किंतु उसमें हमारे अच्छे-अच्छे लड़वैये फंस गये हैं। गांधीजी छटपटाते हैं, किंतु कोई असर नहीं हो रहा है। शायद गांधीजी कुछ उग्रता करें तो कुछ नया सिलसिला निकल आये। अभी गांधीजी भी 'सब धान बाईस पसेरी' हो गये हैं। वही आदर है, वही सत्कार है। किंतु "देवा लेवा नैं तो भाया राम जो को नाम" स्वराज का जो नक्शा खींचा गया था, वह भानमती का पिटारा था। राजा शामिल हों, अंगरेज भीतर हों, हिंदू-मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी, मजदूर, व्यापारी, ऐंग्लो-इंडियन, अछूत सबको अलग-अलग हक मिलें, सबकी सम्मति हो, तब विधान बने। जाति-पांति की कई कतर-ब्योंतें की गईं और अब हमसे कहते हैं, पहले आपस में समझौता करो। दुनिया में जो कहीं न हुआ, उसकी हमसे आशा की जाती है!

क्या इंग्लिस्तान में ऐक्य है? कुछ भी हो, हमारे लिए तो हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य जरूरी है। इस समय सारा-का-सारा झगड़ा पंजाब का है। जब कभी कोई समझौते की आशा होती है, तब सरकारी दूत दौड़ने लगते हैं। हिंदुस्तान से खास अंगरेज आकर बैठे हैं, जो हिंदू को समझाते हैं, 'तुम लुट रहे हो', मुसलमान को समझाते हैं, तुम मरे जा रहे हो, और सिख को अलग डराते हैं। मुसलमान कहते

१. शफी—स्व० सर मुहम्मद शफी; पंजाब के मुस्लिम नेता, जो भारत-सरकार के सदस्य रह चुके थे।

हैं, पंजाब में हमारा बहुमत है, वह हमें मिले; हिंदू कहते हैं, कानूनन बहुमत का सिद्धांत अन्यायमूलक है, ऐसे तुम्हारा बहुमत हो तो हम खुशी से स्वीकार करें। तब एक नयी स्कीम निकली। पंजाब में से अंबाला, जिसमें अधिक हिंदू हैं, निकाल लिया जाय। इसका नतीजा यह होता है कि पंजाब में मुस्लिम-बहुमत ६३ फीसदी बन जाता है और फिर मुसलमान पृथक् निर्वाचन या सुरक्षित सीटों की जिद्द नहीं करते। सिद्धांत रूप से हिंदू विरोध नहीं कर सकते, किंतु जहां इस स्कीम की चर्चा चली, कुछ नेता कहने लगे, "राम-राम! यह तो और भी बुरा!"

पंचायत की बात चली। गांधीजी ने खूब जोर लगाया, "पंडितजी, आप पंचायत मान लें। यद्यपि मुसलमान राजी नहीं हैं तो भी लोगों पर जो बुरा असर पड़ा है, कम-से-कम वह तो रफा हो जायगा।" पर पंडितजी पंचायत के लिए तैयार नहीं। यहां लोगों पर बुरा असर पड़ा है। उन्हें कहने का मौका मिल गया है कि जब तुम्हारा मेल ही नहीं तब हम क्या करें? स्वराज की लुटिया तो डूब चुकी, ऐसा भी मालूम होता है। लोग जहाज में स्थान खरीदने लग गये हैं। जहां जीवन-मरण का प्रश्न है, वहां ऐसी लड़ाई अत्यंत घृणास्पद मालूम होती है। पंडितजी का चेहरा भी उतर गया है और उनके क्लेश का कोई ठिकाना नहीं। इस सप्ताह पंडितजी, गांधीजी, जिन्ना और सप्रू के बीच मैंने काफी दौड़-धूप की और अब थक गया हूं। मुसलमानों को न हमारा विश्वास है, न सीधी बातें हैं, न तय होने पर ही पूरा साथ देने को तैयार हैं। किंतु उनकी चर्चा फिजूल है। गांधीजी 'आत्म-समर्पण' कर देना चाहते हैं, बशर्ते कि मुसलमान उनका राष्ट्रीय मांगों में साथ दें। पर राष्ट्रीय मांगों में साथ देने की उनकी हिम्मत कहां!

धीरे-धीरे अब राजा भी खिसकने लगे हैं। भानमती के पिटारे में कई सांप बंद थे। वे निकल-निकल भागते हैं। महाराजा बीकानेर कहते हैं, हम साथ हैं, किंतु—बस 'किंतु' पर अड़ जाते हैं। अछूतों और दूसरे लोगों को तो अभी चिल्लाने का अवसर ही नहीं मिला है। हमारी इस सप्ताह में खूब हंसी हुई है। ऐसी निराशा के भंवर में गांधीजी प्रसन्नमुख हैं। कहने लगे, शर्मिंदा बन के नहीं जायंगे, चिंता मत करो। गांधीजी भीतर-ही-भीतर मिलते रहते हैं और एक तरह से मैत्री बढ़ रही है। इस मैत्री का शीघ्र कोई फल होने वाला नहीं है। जवाहरलालजी के बहादुरी के खत आते रहते हैं।

कई चित्रकार, कई शिल्पकार बैठे गांधीजी के चित्र और मूर्तियां बना रहे हैं। गांधीजी बच्चों से खेलते रहते हैं। वही रंग, वहीं ढंग। न कभी यहां से उन्हें आशा थी, न अब निराशा है। जिन्हें आशा थी, उनके ही चेहरे सूखे हैं।

बेंथल से आज रात को फिर बातें चलेंगी। सिलसिला जारी है। इंडिया आफिस में एक्सचेंज का दंगल फिर परसों होगा।

पच्चीस

१६ अक्तूबर, '३१
लंदन

हिंदू-मुसलमान-समस्या का ताजा हाल अब यह है कि मि० जयकर और डा० मुंजे दोनों ही कुछ ठंडे हो रहे हैं। सिख नहीं मानते, पंडितजी कुछ दृढ़ता-पूर्वक नहीं कहते। कार्बेट[1] की स्कीम है कि अंबाला डिवीजन पंजाब से निकाल लिया जाय, जिसका परिणाम होता है कि पंजाब में हिंदू प्रति सैकड़े प्रायः २२, सिख १४, मुसलमान ६३ रह जाते हैं। मुसलमान शायद इस स्कीम को संयुक्त चुनाव के साथ और बिना अलग 'कुर्सी' रखवाये मान लें। पर झगड़ा वैसे-का-वैसा ही है। महात्माजी को यह स्कीम पसंद आई है और शायद इसी का सिल-सिला अब चलेगा। आज रात को और दोपहर को भी मुसलमानों से महात्माजी बातें करेंगे।

नरेशों का हाल भी बुरा है। संशय से भरे पड़े हैं। उनसे भी अलग बातें होंगी।

होर से फिर महात्माजी कल मिले। जितना ज्यादा मिलते हैं, उतना ही उससे प्रेम बढ़ता जा रहा है, हालांकि दोनों उत्तर-दक्षिण हैं। परसों होर ने भरी सभा में कह दिया कि फौज हम हर्गिज नहीं देंगे। उस पर महात्माजी ने कहा, "शाबाश ! स्पष्ट वक्ता हो तो ऐसा हो।" कल होर ने पूछा, "मैंने आपको नाराज तो नहीं किया ?" महात्माजी ने कहा, "नाराज नहीं, तुमने मुझे राजी किया; क्योंकि मुझे पता लग गया कि तुम ईमानदार हो, लल्लो-चप्पो नहीं करते। किंतु मैं यह कहना चाहता हूं कि मुझे अब यहां क्यों बैठा रखा है ? मुझे भेज दो।" होर ने कहा, "इतनी जल्दी न करें, मैं अगले सप्ताह में स्पष्ट कर दूंगा कि हम कहां तक जाने को तैयार हैं। आपने तो कोई बात छिपा नहीं रखी। मैं भी कोई बात छिपा के नहीं रखूंगा।"

महात्माजी कहते थे कि यह आदमी तो सोना है और इसी से मेरा काम बनेगा। सप्रू वगैरहा तो सिर कूटते हैं कि यह राक्षस कहां से आ गया ! उनकी दृष्टि में बेन अच्छा था, इनके लिए होर अच्छा है। मुझे मालूम होता है, इतनी जल्दी महात्माजी को नहीं भेजेंगे, किंतु महात्माजी जो चाहते हैं सो नहीं मिलेगा। मेरा तो अभी भी वही खयाल है कि दस आने मिलेंगे, छह आने के लिए युद्ध होगा।

१. कार्बेट—सर ज्योफ्रे कार्बेट; सिविलियन, जो आर० टी० सी० के सयुक्त मंत्री थे।

छब्बीस

२२ अक्तूबर, '३१
लंदन

आर० टी० सी० के कार्य में तो कोई उन्नति नहीं हुई है। दिन-दिन स्पष्ट होता जाता है कि कुछ होने का नहीं। हिंदू-मुस्लिम-वैमनस्य वना हुआ है और इसको यहां काफी तूल दे दिया गया है। प्रायः यही कहा जाता है कि जब तुम आपस में ही समझौता नहीं कर सकते, तो हम क्या करें। महात्माजी को कितने ही लोग उलाहना देते हैं कि आप समझौता क्यों न कर लें, किंतु महात्माजी न तो मुसलमानों की नीयत साफ देखते हैं, न हिंदू-सभा का उत्साह पाते हैं। इसलिए कुछ अवहेलना-सी कर रहे हैं। मुसलमान इनकी राष्ट्रीय मांगों को स्वीकार कर लें और अन्य छोटी-छोटी दलवंदियों का साथ न दें तो समझौता कर लें—या तो हिंदू-सभा वाले कार्बेट की या अन्य किसी स्वीकार करने लायक स्कीम का समर्थन करें तो समझौता हो।

बेंथल से भी कोई नई बात नहीं हुई। जो पहले हो चुकी, उसी का पिष्ट-पेषण जारी है। वह भी समझता है कि हम कमजोर हैं, इसीलिए प्रगति धीमी है।

होर से महात्माजी की फिर बातें हुईं, किंतु अबतक कोई नतीजा नहीं निकला। होर ने वादा किया है कि अगले हफ्ते स्पष्ट बतायेगा कि सरकार कहां तक जा सकती है। महात्माजी कुछ अधीर और उतावले-से होने लगे हैं, क्योंकि उनको समय की बरबादी अखरती है। अरविन ने कहा था कि कोई भी महत्वपूर्ण कदम रखने से पहले पूछ लेना। कल अरविन से मिलकर महात्माजी ने कह दिया कि अब मैं यहां से भागने वाला हूं और एक-दो दिन में ही गोली चला दूंगा। अरविन ने कहा, "ऐसा नहीं हो सकता। अभी तो पावभर 'पूणी' भी नहीं कती।" इसके माने यह भी हो सकते हैं कि कुछ आशा है। चुनाव की धूम के मारे यहां लोग व्यस्त हैं। इनकी क्या स्थिति रहेगी, सो भी इन्हें पता नहीं। इसलिए २७ को अपना तलपट बांधकर बातें करेंगे। इस समय तो चाल यह है कि कांफ्रेंस को तो बर्खास्त करें और एक नया कमीशन हिंदुस्तान भेज दें। अकबर ने कहा था कि "खींचो न कमानों को न तलवार निकालो, जब तोप मुकाबिल हो तब अखबार निकालो।" अंगरेजों का यह हाल है कि 'गर सामान बगलें झांकने का है तो कमीशन बैठा दो।' बस यही चाल है, मगर महात्माजी माननेवाले नहीं हैं। होर समझाने की कोशिश करता है, पर महात्माजी सिर हिलाते हैं।

मेरा ऐसा खयाल है कि यह नहीं मानेंगे तो वे कुछ आगे बढ़ेंगे, पर अधिक आशा नहीं है। महात्माजी स्वयं समझौते के पक्ष में हैं, पर समझौता हो तो किससे? कल कहते थे कि शायद हिंदुस्तान पहुंचते-पहुंचते लड़ाई छिड़ जाय।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि ऐन मौके पर कोई घटना घट जायगी, हालांकि अभी तो कोई अच्छी सूरत नजर नहीं आती।

साथ ही यह जान लेना चाहिए कि यहां आने से हमें काफी लाभ हुआ है। महात्माजी की मैत्री तो दूव की तरह फैलती है। शहर के सेठों से कल सुना कि लोगों पर प्रभाव पड़ा है। कहते हैं, गांधी आदमी तो अच्छा है। परसों यहां की ठाकुरों और सेठों की सम्मिलित सभा में गांधीजी को बुलाया था। सारी राणखं-माण मौजूद थी। उनका असर अच्छा हुआ। बीज बोया गया है, और फिर लड़ाई छिड़ी तो यहां के वहुत लोग सहानुभूति जताने वाले होंगे।

चित्र उतारने वाले, मूर्ति गढ़ने वाले, हस्ताक्षर कराने वाले और वक्तव्य लेने वाले गांधीजी के पास उसी रफ्तार से आ रहे हैं। मुलाकातों का तांता भी जारी है। वही धूमधाम है। खाली 'स्वराज' नहीं मिला है।

यहां सर्दी ४५ डिगरी तक पहुंची है। अभी तो नवंबर आना बाकी है।

गांधीजी को काम इतना रहता है कि रात को १ बजे सोते हैं—४ बजे उठ जाते हैं। एक दिन कहते थे, पता नहीं किस दिन बीमार पड़ जाऊं। सोने को समय मिले तो फिर कोई चिंता नहीं। कपड़े उतने ही चलते हैं। कंवल बढ़ाने को कहा तो कहते हैं, निभ जाती है। पंडितजी को तो जाड़ा ज्यादा सता रहा है। कपड़े भी यहां नये खरीदे हैं। स्वास्थ्य उनका अच्छा नहीं है। मानसिक पीड़ा भी तो है। इस समय उनकी यह स्थिति है कि न गांधीजी को छोड़ना चाहते हैं, न मुंजे और नरेंद्रनाथ[1] को ही।

सत्ताईस

२३ अक्तूबर, '३१
लंदन

कल कुछ विशिष्ट लोगों से बातचीत हुई। कहते थे कि गांधीजी का प्रभाव अच्छा पड़ा है। इनकी सलाह थी कि यहां के सेठों को हम समझा सकें तो काम वहुत-कुछ आगे बढ़ सके। ऐसे कुछ सेठों से मिलने का प्रबंध कर रहा हूं। कल सर पुरुषोत्तमदास की लेटन से बातचीत हुई थी। यह 'इकनामिस्ट' (अर्थशास्त्री) नामक पत्र का संपादक है और 'साइमन कमीशन' का आर्थिक विषयों में सलाह-कार बनकर हिंदुस्तान गया था। उसने कहा कि हिंदू-मुस्लिम झगड़े को एक पंचायत के हवाले कर देंगे।

१. नरेंद्रनाथ—राजा नरेंद्रनाथ; भूतपूर्व सरकारी कर्मचारी, पंजाब हिंदू महासभा के नेता।

अट्ठाईस

२९ अक्तूबर, '३१
लंदन

राजनैतिक परिस्थिति ज्यों-की-त्यों है। कोई खास बात नहीं हुई है। पर हम लोग बिलकुल निराश नहीं हुए हैं। इसमें संदेह नहीं कि कंजर्वेटिव पार्टी को चुनाव में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। इस तूफाने-बदतमीजी में मजदूर-दल तो उड़ गया, यह समझना चाहिए। पर सरकार भी सुख की नींद नहीं सो सकती। इस समय पार्लमिंट में उसका विरोध नाममात्र को रह गया है। यह उसके लिए उतनी खुशी की बात नहीं है। विरोधी साथ भले ही न दें, पर उनसे उपकार तो होता ही है। समालोचना सीधी राह पर रखने का एक साधन है। सरकार के जबर्दस्त विरोधी हों तो वह भयंकर भूलों से बहुत-कुछ बच सकती है। इस समय यह बात नहीं है, इससे सरकार को भी चिंता होने लगी है।

कुछ लोगों का खयाल है कि यह ज्यादा समय तक न टिक सकेगी। मेरी अपनी राय दूसरी है। इतना मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि थोड़े ही समय में यह सरकार अपनी लोकप्रियता से हाथ धो बैठेगी। परिस्थिति इतनी खराब है कि उसे सुधारना कोई आसान काम नहीं। यह भी याद रखने की बात है कि मजदूर-दल वाले हार जाने पर भी एक-तिहाई—करीब ७,०००,०००—वोट पा चुके हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर-दल के साम्यवाद का समर्थन करने वाले इस मुल्क में ७० लाख आदमी मौजूद हैं। ये लोग चुप रहने के नहीं। रोटी-दालवालों को इसकी गहरी चिंता है और मेरा खयाल है कि सरकार हर काम में फूंक-फूंककर कदम रखेगी और जहां तक संभव होगा, सबको संतुष्ट करने की चेष्टा करेगी।

हिंदुस्तान के बारे में उनकी यह नीयत जरूर है कि जहां तक हो सके, कम दिया जाय, पर कांफ्रेंस टूट जाय, यह उनकी इच्छा नहीं जान पड़ती। फौज को अपनी मुट्ठी में रखना चाहते हैं। आर्थिक मामलों में भी कुछ अधिकार चाहते हैं। गांधीजी यह चेष्टा कर रहे हैं कि हम लोगों की एक राय हो जाय। हिंदू-मुसलमानों के बीच समझौता कराने के प्रयत्न में वह निरंतर हैं ही, सप्रू और दूसरों के बीच राजनैतिक एकता कराने की भी कोशिश कर रहे हैं। समझौते के लिए वह कांग्रेस की मांग से कम लेने को भी तैयार हैं, बशर्ते कि कांग्रेस की कार्य-कारिणी को यह मंजूर हो। उन्हें सफलता होगी या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। इतनी सफलता उन्हें जरूर हुई है कि सब लोग उन्हें समझदार मानने लगे हैं।

बेंथल से जो बातचीत चली थी, वह बीच में रुक गई थी। शायद उन लोगों ने हमारी कठिनाइयों को देखकर उनसे फायदा उठाना चाहा था। पर उसका

सिलसिला फिर शुरू होने वाला है। कल रात को बेंथल से मेरी बातचीत हुई। उसने कहा कि हम लोग सचमुच समझौता कर लेना चाहते हैं। बस, इस तरह कुछ-न-कुछ काम रोज हो रहा है। इंडिया आफिस वालों को और यहां के सेठों को समझाने-बुझाने की कोशिश में हम लोग लगे हुए हैं। काम को आपस में बांट लिया है। सर पुरुषोत्तमदास के साथ मैं तो आर्थिक विषयों की विवेचना में लगा हुआ हूं। बेंथल मुझसे कह रहा था कि जबतक हम लोगों का किश के साथ कुछ समझौता नहीं हो जाता तबतक कुछ होने-जाने का नहीं। किश इंडिया आफिस में अर्थ-विभाग का मंत्री है। बेंथल की बातचीत से तो जान पड़ा कि वह हम लोगों के सहयोग का बड़ा इच्छुक है। बात दरअसल यह है कि इन लोगों को भय है कि बिना हम लोगों के सहयोग के एक्सचेंज और करेंसी के पांव मजबूती से जम नहीं सकते। मैंने उससे कहा कि सहयोग देने के लिए मैं हर घड़ी तैयार हूं। अगले सप्ताह में यहां के अर्थशास्त्रियों और इंडिया आफिस वालों से बहुत-कुछ बातचीत होने का रंग दीखता है।

अगर कांफ्रेंस टूटी नहीं तो नवंबर के अंत तक काम रहेगा। बाहर से तो यही जान पड़ता है कि हम लोग आगे नहीं बढ़े हैं, पर भीतर-ही-भीतर कुछ-न-कुछ प्रगति होती जा रही है और काम—धीरे-धीरे ही सही—बनता जा रहा है। अगर कांफ्रेंस टूट भी गई तो इतना तो लाभ जरूर होगा कि इस बार हम लोग जो मंजिल तय कर लेंगे, उसे फिर तय करना न पड़ेगा।

गांधीजी आजकल २४ में ३ घंटे से ज्यादा नहीं सोते। काम-पर-काम आता ही जाता है। कहते थे कि मैं रोज कम-से-कम ८ घंटे सोना चाहता हूं, पर तीन से ज्यादा नहीं मिलता। आर० टी० सी० की कमेटी की मीटिंग में बैठे-बैठे झपकी लेते हैं। सप्ताह के अंत में लंदन से कहीं बाहर चले जाते हैं। कभी किसी पादरी के यहां, कभी किसी भावुक या ईश्वर-भक्त के यहां ठहर जाते हैं। चित्र लेनेवालों और मूर्ति बनाने वालों की संख्या घट चली है, क्योंकि बहुतों की तृप्ति हो चुकी। अभी तक गांधीजी ने कपड़ा-लत्ता उतना ही रखा है। फिर भी वह यहां की सर्दी बर्दाश्त कर लेते हैं, यह आश्चर्य की बात है।

उनतीस

३० अक्तूबर, '३१
लंदन

कल इंडिया आफिस में एक्सचेंज के संबंध में फिर कांफ्रेंस बैठी। ब्लैकेट और स्ट्राकोश दोनों ही मौजूद थे। अपनी ओर से सर पुरुषोत्तमदास, गांधीजी,

अध्यापक शाह, जोशी और मैं था। छोटी सभा होने के कारण इसे विशेष सफलता प्राप्त हुई। लोगों ने दिल खोलकर बातें कीं। स्ट्राकोश ने वही पुराना राग अलापना शुरू किया, पर ब्लैकेट ने बड़ी खूबी से उसे निरुत्तर-सा कर दिया। हम लोगों को इस पर आश्चर्य हुआ और संतोष भी। ब्लैकेट ने कहा कि हिंदुस्तान के लिए इस समय चीजों का दाम बढ़ना बहुत हितकर है और मैं चाहता हूं कि वहां दाम फीसदी ४० तक बढ़ चले। हां, वह यह न बता सका कि दाम कैसे बढ़ाया जाय। मैंने कहा कि रुपये को फिलहाल अपनी राह जाने दो और जब रिजर्व में काफी सोना-इकट्ठा हो जाय, तब १ शिलिंग पर इसे बांध दो। वह इससे सहमत न हो सका।

मैंने गांधीजी से कहा कि आप अब इनसे एकांत में बातें करें। मैंने स्ट्राकोश को भोजन के लिए अगले मंगलवार (३ नवंबर) को निमंत्रित किया है। ब्लैकेट को भी बुलाने वाला हूं। ब्लैकेट 'बैंक आफ़ इंग्लैंड' का डाइरेक्टर है और वह चाहता है कि इंग्लैंड में दाम फीसदी ३४ बढ़ जायं। कल बेंथल से फिर बातें हुईं। उसने कहा कि अर्थ-विभाग की देख-रेख के लिए एक कौंसिल बना दी जाय। हम लोग सहमत नहीं हुए। पर इससे जान पड़ता है कि वह अभी तक सीधी राह पर नहीं आया है।

इंडिया आफिस का शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। गांधीजी ने अपना निर्णय हमारे पक्ष में दे दिया। गांधीजी इस मसले को छोड़ना नहीं चाहते हैं। होर से कहने वाले हैं कि तुम मुझे नहीं समझा सके। या तो मेरा संतोष करो, नहीं तो मैं अपनी राय तुम्हारे खिलाफ दूंगा।

तीस

३ नवंबर, '३१
लंदन

होर विधान-निर्माण-परिषद के काम में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा है। एक सप्ताह में परिस्थिति बहुत-कुछ स्पष्ट हो जायगी।

गांधीजी इन लोगों की अवहेलना कर मुसलमानों से समझौता कर लेते ; पर उनकी तीन शर्तें हैं :

(१) समझौता कांग्रेस को मंजूर हो।
(२) राष्ट्रवादी मुसलमान और सिख भी उसे मंजूर करें।
(३) मुसलमान उनकी प्रत्येक राष्ट्रीय मांग का समर्थन करने को तैयार हों।

गांधीजी का यह भी कहना है कि अछूत, यूरोपियन, ऐंग्लो-इंडियन और देशी ईसाई—इनको पृथक् निर्वाचन का अधिकार न दिया जाय। मुसलमान न तो इसका समर्थन करते हैं, न उनकी दूसरी राष्ट्रीय मांगों का। इसलिए गांधीजी इस प्रश्न की ओर विशेष ध्यान नहीं दे रहे हैं। वह जानते हैं कि उनकी ताकत क्या है। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि मुसलमानों को उनसे जितना मिल सकता है, उतना सरकार या पंचायत से नहीं। उनका विश्वास है कि आज या कल मुसलमानों को उनके पास जाना ही होगा। सरकार से तो उन्होंने कह दिया है कि तुम जजों से इसका फैसला करा लो, पर मुसलमानों को यह मंजूर नहीं है। मालूम नहीं, सरकार क्या करेगी।

अपने कुछ हिंदू नेताओं से मेरी शिकायत यह है कि उन्होंने गांधीजी के हाथों में इस मामले को न छोड़कर इस आक्षेप के लिए गुंजाइश कर दी कि न तो मुसलमान उनका नेतृत्व स्वीकार करते हैं, न हिंदू; फिर महात्माजी प्रतिनिधि हैं तो किनके? मगर हम लोगों ने एकमत हो यह कह दिया होता कि गांधीजी जो कुछ करेंगे, हमें स्वीकार होगा तो हिंदू-मुस्लिम-समस्या हल होती या नहीं, यह दूसरी बात है, पर इसमें संदेह नहीं कि इससे हमारी ताकत कहीं बढ़ जाती और हम आज दुनिया की निगाह में कहीं ऊंचे होते। इन लोगों की दलील की तह में जो भयंकर कमजोरी है, उसे ये देखने में असमर्थ हैं।

गांधीजी प्रधान मंत्री से मिले। कोई खास नतीजा न निकला। परिस्थिति न तो आशाजनक है, न निराशाजनक।

इकतीस

५ नवंबर, '३१
लंदन

इस सप्ताह में महात्माजी ने मैक्डानल्ड, होर और बाल्डविन से बातें कीं। बातों का नतीजा यह निकला है कि आगामी मंगल और बुध को मंत्रिमंडल भारत के विधान के संबंध में विचार करके अपने निर्णय पर पहुंचेगा। बुध या बृहस्पति को अल्पसंख्यक-दल परिषद् या विधान-निर्माण-परिषद् का आह्वान करेगा और प्रधान मंत्री अपनी राय खुल्लमखुल्ला जाहिर कर देगा। उसके बाद उसे हम चाहे स्वीकार करें या अस्वीकार करें या उस पर बहस करें। हो सकता है कि बहस के बाद उसमें कुछ रद्दोबदल भी हो। पर यह कठिन मालूम होता है। हिंदू-मुस्लिम-समस्या भी किस तरह से हल हो, इसका निर्णय प्रधान मंत्री दे देगा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आगामी सप्ताह में हमारा भविष्य नक्की हो जायगा।

शायद २०-२५ नवंबर तक हम यहां से कूच कर जायं। क्या होगा, यह कहना तो आसान नहीं है, किंतु गत कांफ्रेंस से ज्यादा आगे न बढ़ेंगे, यह स्पष्ट मालूम होता है। यह भी चाल है कि प्रांतों को अभी से स्वातंत्र्य दे दें और केंद्र के विधान को खटाई में डाल दें। किंतु हम लोगों ने एकमत से निर्णय कर लिया है कि इसे कभी स्वीकार नहीं करना। यह चाल मुसलमान और अंग्रेज मिलकर कर रहे हैं, जिससे भविष्य में पंजाब बराबर चिल्लाता रहे कि हमें केंद्रीय स्वराज्य नहीं चाहिए और इस तरह विलंब होता रहे।

महात्माजी साप्ताहिक विश्राम के लिए दो दिन (शनि और रवि) बाहर जाते हैं। अबकी बार पर्यटन आक्सफोर्ड की ओर होगा। साथ में प्रधान मंत्री का लड़का, लार्ड लोथियन, अध्यापक गिलबर्ट मरे आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति रहेंगे और दो दिन आपस में बातें होती रहेंगी।

कल महात्माजी ने कुछ स्वयंभू नेताओं से कहा, "मैंने तो प्रधान मंत्री से कह दिया है कि ये लोग तो तुम्हारे मेहमान हैं। यदि ये प्रतिनिधि बनने का दावा करें, तो इन्हें चुनाव से आने दो। देखो, इन्हें कितने वोट मिलते हैं और मुझे कितने वोट मिलते हैं।"

महात्माजी की इस तरह बातें करने की आदत नहीं है। यह घटना प्रकट करती हैं कि इन लोगों ने उन्हें कैसी ठेस पहुंचाई है। कल मैंने कहा कि यह स्थिति अत्यंत भयंकर है कि सांप्रदायिक संस्थाएं कांग्रेस की देवराणी-जेठाणी बनने की कोशिश करें। स्वराज के लिए लड़ाई तो लड़े कांग्रेस, और यहां आने पर ऐसे लोग कूद-कूद कर कहें कि हिंदुओं के प्रतिनिधि हम हैं, महात्माजी नहीं। फिर तो सहज ही प्रश्न उठता है कि आखिर महात्माजी किसके प्रतिनिधि हैं? इन लोगों ने संग्राम में तो कोई स्वार्थत्याग किया नहीं, अब टांग अड़ाने को और महात्माजी की तौहीन करने को यहां भी पहुंच गये। महात्माजी ने कहा, "मेरी दवा तो हिंदूसमाज को प्रिय नहीं, वह समझता भी नहीं कि मेरी दवा क्या है। गुंडेपन की दवा गुंडापन है, ऐसा ही वह मानता है। ऐसी हालत में जबतक हिंदू मेरी दवा का मर्म नहीं समझें, हिंदूसभा को अपने कब्जे में करना मैं मुनासिब नहीं समझता।" मैं तो यह कहूंगा कि हिंदूसभा को चाहिए कि वह हिंदुओं को मजबूत बनाये, रीति-रस्म, अछूतपन में सुधार करे, शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करे, किंतु राजनीति में कांग्रेस की प्रतिस्पर्धा करना भयंकर मालूम होता है। आखिर कांग्रेस ने लुटा क्या दिया? महात्माजी के 'आत्मसमर्पण' का भी तो नतीजा देख लेना चाहिए।

बाल्डविन ने तो महात्माजी से साफ ही कह दिया कि आप जो चाहते हैं सो आपको नहीं मिलेगा। मैंने महात्माजी से कहा कि यदि आठ आने भी मिलेंगे तो आपके बल पर, इसलिए आप यहां से हर्गिज न भागें। महात्माजी ने कहा, "मैं जानता हूं। भागूंगा नहीं।" उनकी चाल यह है कि कम मिले तो स्वीकार

नहीं करना। जितना खींच सकें, उतना खींचकर कह देना कि जो कुछ तुम दे रहे हो, वह मुझे तो स्वीकार नहीं है।

काश्मीर के संबंध में यहां बड़े जोरों से मुसलमानों का पक्ष है। यह ध्यान रहे कि देना इन्हें न हिंदुओं को है, न मुसलमानों को, किंतु पीठ उनकी ठोंकते हैं और हमसे लड़ाते हैं।

रात को एक भोज में मुझे निमंत्रण था। एक पुलिस अफसर, जो कभी हिन्दुस्तान में था, बगल में बैठा था। एक ओर पोलिटिकल महकमे का एक उच्च सरकारी अफसर बैठा था। दोनों ही अंगरेज थे। पुलिस वाले ने कहा, "हिन्दू मुस्लिम-झगड़ा तो फैलाया हुआ है। मैंने खुद देखा है कि आज भी गांवों में यह समस्या नहीं है।" उसने मुझे एक किस्सा सुनाया। सरहद से तीन दिन के रास्ते पर एक किले में इनकी फौज थी। एक बनिया रसद देता था। उसके मर जाने पर इनकी फौज के मुसलमान सिपाहियों ने कहा कि इसे हिंन्दुस्तान जलाने को भेजना चाहिए। अफसर ने कहा कि तीन दिन का रास्ता है, कहां भेजेंगे? यहीं गाड़ दो। किंतु मुसलमानों को यह पसंद न आया। आखिर उन्होंने अपने खर्च से लकड़ी जुटाई, उसकी अर्थी सजाई और बैंड बजाते स्मशान में ले गये। अफसर मुझसे कहता था कि कई सिपाही तो रोते थे। उसने मुझसे पूछा, "बताओ, हिंदू-मुस्लिम-समस्या कहां है?" मैंने कहा कि क्या बताऊं, तुमने ही तो फैलाई है। बगल के पोलिटिकल महकमे वाले अफसर ने एक मुस्लिम नेता की ओर, जो भोज में शरीक था, इशारा करके कहा कि काश्मीर की आधी आंधी इस शख्स ने उठाई है। बात यह है कि यहां भी करतूत सरकार की ही है। अफसर जानते हैं, सब लोग जानते हैं, फिर भी हमारे आदमी अंधे हैं।

अछूतों की मांग का महात्माजी विरोध करते हैं। कहते हैं कि मैं इनको कैसे अलग कर दूं?

बत्तीस

६ नवंबर, '३१
लंदन

कल गांधीजी और हम सब लोग सम्राट् के मेहमान थे। सब करीब ४०० थे। कितने लोग तो देशी पोशाक में थे। मैं तो देशी पोशाक ले ही नहीं गया था, इसलिए 'चिमनी' हैट ओढ़ कर ही गया था। महल में बिजली की चकाचौंध, और काली पोशाक वालों के बीच गांधीजी नंगे पांव और चद्दर ओढ़े ऐसे मालूम होते थे, जैसे अमावस्या में चंद्रमा। सम्राट् और सम्राज्ञी सिंहासन-भवन

में एक तरफ खड़े हो गये और हम लोग अभिवादन करते हुए सामने से निकल गये। सब लोग अभिवादन कर चुके, तब सम्राट् और सम्राज्ञी ने चुने हुए लोगों को बुला-बुला कर बातें करना शुरू किया। पहले हैदराबाद के मंत्री, फिर मैसूर, फिर बड़ौदे का मंत्री। इसके बाद गांधीजी बुलाये गये। खड़े-खड़े करीब सात मिनिट बातें हुईं।

बातचीत में प्रधान भाग सम्राट् का ही था। गांधीजी हँसते गये, बोले बहुत कम। सारांश सुनने में यह आया :

सम्राट् ने कहा, "मैं आपको अच्छी तरह जानता हूं। जब मैं युवराज की हैसियत से दक्षिण अफ्रीका गया था, तब आपने भारतीय प्रजा की ओर से मुझे सम्मानपत्र प्रदान किया था। जुलूसंग्राम में भी आपने सहायता पहुंचाई। उसके बाद महासमर में आपने और आपकी धर्मपत्नी ने बड़ी सहायता की। अफसोस की बात है कि उसके बाद आपका रुख बदल गया और आपने सत्याग्रह अख्तियार किया। आप जानते हैं कि सरकार के लिए अपनी हुकूमत कायम रखना जरूरी है। शासन तो आखिर करना ही पड़ता है।"

गांधीजी ने कहा, "श्रीमान के पास इतना समय नहीं और मैं प्रत्युत्तर देना भी नहीं चाहता।"

सम्राट् ने कहा, "ठीक है, किंतु शासन तो करना ही पड़ता है।" फिर उन्होंने बंगाल की बमबाजी का जिक्र किया और कहा कि यह बहुत बुरी चीज है, इससे कोई लाभ नहीं हो सकता।

गांधीजी ने कहा कि मैं उसे रोकने की भरपूर चेष्टा करता रहता हूं।

फिर सम्राट् ने पूछा, "मैंने सुना है कि आप बच्चों को खूब प्यार करते हैं। यह सच है ?"

गांधीजी ने कहा, "मैं बच्चों के बीच ही रहता हूं।"

गांधीजी का सम्राट् से मिलना राष्ट्रीयता की विजय है। यह पहला मौका है कि इस तरह एक अर्द्धनग्न मनुष्य और साथ में महादेवभाई गांधी टोपी पहने सम्राट् से मिले। साथ ही, इससे अंगरेज-जाति की भी एक खूबी का पता चलता है। अंगरेज बनिये हैं, स्वभाव से ही संग्रामप्रिय नहीं। प्रिंस ऑफ़ वेल्स की गांधीजी ने 'अवज्ञा' की, तो भी सम्राट् उनसे सौजन्यपूर्वक मिले। राजपूतों के इतिहास में और ही प्रकार के उदाहरण मिलेंगे। महाराणा उदयपुर ने अलवर-नरेश को कभी 'महाराज' कहकर संबोधित नहीं किया। 'अलवर ठाकुरसाहब' ही कहते रहे। अंगरेज सरकार ने तोपों की सलामी दी, हिज हाइनेस तक कहा, मरते समय महाराज जयपुर ने ढिलाई कर दी, मगर राणा अकड़े ही रहे।

'नानक' नन्हे ह्वै रहो जैसे नन्हीं दूब।
घास-पात जल जायंगे—दूब खूब की खूब॥

तेतीस

१२ नवंबर, '३१
लंदन

हिंदू-मुस्लिम-समस्या में कोई फेर नहीं पड़ा है। गांधीजी तो इस संबंध में बातें से करने भी इंकार कर देते हैं। कोई बातें करने आता है, तो कह देते हैं कि मेरे समय की बरबादी न कीजिए। मुसलमानों ने चाहा भी कि फिर बात छेड़ें, किन्तु गांधीजी ने कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। बात यह है कि मुसलमान और सिखों को छोड़कर बाकी अंगरेज, ईसाई, अधगोरे, अछूत, जमींदार, व्यापारी और मजदूर इनमें किसी को भी अलग 'कुर्सी' नहीं देना चाहते। मुसलमान दिखाने को तो अछूतों का पक्ष करते हैं, किन्तु असल में अंगरेजों को 'कुर्सी' न मिले, यह कहने की किसी की भी हिम्मत नहीं है। कोई अछूतों की सिफारिश करने आता है, तो महात्माजी गरम हो जाते हैं, और कह देते हैं कि तुमको अछूतों की क्या खबर ! अछूतों का मुखिया तो मैं हूं।

मुसलमान ५१ के बजाय ५० भी लेने को तैयार हैं, ऐसी हवा आती है। महात्माजी कहते हैं, "५१ ही लो, किंतु और किसी को कुछ नहीं मिलेगा। मैं भारतवर्ष का बंटवारा करने नहीं आया हूं। मुसलमानों और सिक्खों को किसी तरह मैंने बरदाश्त कर लिया। अब और ज्यादा गुंजाइश नहीं है।" मजा यह है कि पांच हिंदू एकस्वर से अछूतों को सीट दिलाने के पक्ष में हैं और अलग मताधिकार भी, गोया हिंदू-जाति का बंटवारा हो रहा हो।

गत रविवार को आक्सफोर्ड में महात्माजी, लार्ड लोथियन, मैक्डानल्ड का बेटा और अरविन के प्रतिनिधि इकट्ठे हुए। महात्माजी ने यह स्कीम दी कि सच्चा प्रांतीय स्वराज तो शीघ्र ही स्थापित कर दिया जाय। केन्द्रीय स्वराज का विधान चाहे तैयार न हो; किंतु रूप-रेखा अभी से घोषित कर दी जाय। प्रांतीय परिषदों का नया चुनाव हो और उन चुनींदा लोगों में से प्रांतीय परिषदें अपने प्रतिनिधि नई गोलमेज-परिषद् के लिए मनोनीत करें और वह नई गोलमेज-परिषद् केंद्रीय स्वराज के लिए घोषित रूप-रेखा के अनुसार नया विधान तैयार करे। सप्रू वगैरा इससे बड़ी घबराहट में पड़े हैं। वह इसलिए कि सरकार नामधारी स्वराज देकर केंद्रीय स्वराज को ढील में डाल सकती है। उनकी यह आशंका सही भी है; क्योंकि सरकार की नीति भी कुछ ऐसी ही है, और अब उन्हें गांधीजी का सहारा मिल गया। किंतु गांधीजी कहते हैं, "यदि वे आगे न चले तो मुझे क्या डर है। मैं उनसे अच्छी तरह लड़ लूंगा। तुम लोगों में आत्मविश्वास नहीं है, इसलिए तुम लोग ऐसी बातें करते हो।"

गांधीजी इस गोलमेज-परिषद् से उकता गये हैं। यह परिषद् एक तरह से

बावन भेष की टोली बन गई है। लोग अपना अलग-अलग स्वर निकालते रहते हैं। हिंदुस्तान की तो किसी को भी नहीं सूझती। आर० टी० सी० का मजमा ऐसा बन गया है, जैसे बीस बाजों में, अलग-अलग स्वर में, एक ही साथ भिन्न-भिन्न राग गाये जायं। गांधीजी की चाल में एक तरह से दूरदर्शिता है सही; किंतु इसका फल तभी हो सकता है जबकि हम लोग अपनी ताकत बनाये रखें।

इस सप्ताह में होर से वार्त्तालाप होने वाला था, पर वह बीमार पड़ गया। आज महात्माजी और होर के बीच वार्त्तालाप होगा। पंडितजी और प्रधान मन्त्री के बीच कल बातें हुई थीं। उससे यह आभास मिला कि केंद्रीय स्वराज का तो केवल वादा कर देंगे और प्रांतीय स्वराज की अभी से घोषणा करके आगामी अगस्त तक कानून पास करा देंगे। प्रधान मंत्री ने कहा कि आप लोग जब अपना झगड़ा तय नहीं कर सकते, तब हमसे क्या आशा कर सकते हैं! अरविन ने भी पुरुषोत्तमदास से कहा कि तुम्हारे झगड़े ने तुम्हारा काम बरबाद कर दिया। यह सही है, किंतु यह भी है कि कुछ लोग जो सरकार से खा गये हैं, अपना-अपना पक्ष जोर से खींचकर समझौता नहीं होने देते और ऐसे-ऐसे खाने वाले लोग आज नेता बन बैठे हैं।

अभी एक योजना और गढ़ी जा रही है। मुसलमान, अछूत, अंगरेज, अधगोरे, ईसाई—आपस में एक संधिपत्र तैयार कर रहे हैं, किंतु इसमें भी अंगरेज अपनी शक्ति कायम रखना चाहते हैं, सो उनके बीच भी अभीतक कोई समझौता नहीं हुआ है। मुझे तो कोई समझौता होने की आशा भी नहीं है। हमारे प्रधान जमाल मोहम्मद साहब बेचारे खूब दौड़-धूप करते हैं और अपना सौजन्य भी साबित कर दिया है। वह कहते हैं कि जिन्ना राष्ट्रवादी है, तुम्हारे पीछे मुसलमानों से खूब लड़ता है। यह यहां की हालत है।

आज यहां आये करीब दो महीने हो गये और हम लोग एक तिल भी आगे नहीं बढ़े हैं। क्या होगा, यह भी पता नहीं है। गोलमेज परिषद् का यह दो महीने का इतिहास बड़ा दर्दनाक है। हम लोग कितने निकम्मे हैं, यह लोगों ने यहां साबित कर दिया। ऐक्य तो है ही नहीं। सब लोग अपना-अपना मान बढ़ाने की फिक्र में हैं। इस मर्ज से शायद ही कोई बचा हो। गांधीजी हमारे कप्तान हैं और उन्हें सहायता पहुंचानी चाहिए, इसकी किसी को भी चिंता नहीं। इसका कारण यही है कि ये सब-के-सब सरकार द्वारा मनोनीत किये गए हैं। यदि प्रजा द्वारा मनोनीत किये गए होते तो यह नौबत न आती। अरविन-गांधी-समझौते के समय जो दृश्य था, वह यहां देखने में नहीं आता। वल्लभभाई, जवाहरलाल इत्यादि किसी ने वाइसराय के घर की तरफ भी जाकर नहीं ताका, और सारा भार गांधीजी पर छोड़ दिया। यहां यह हालत है कि गांधीजी प्रधान से मिलते हैं तो उसके बाद ही मुसलमानों के नेता आगाखां से मुलाकात होती है। फिर अछूत

नेता अंबेडकर, सिख नेता उज्जलसिंह आदि से मुलाकात होती है और नरम दल के नेता डाक्टर सप्रू से, और इन मुलाक़ातों में सब लोग अपना अलग-अलग वक्तव्य देकर आते हैं। हमारी अनेकता ऐसी साबित हुई, जैसी पहले कभी नहीं हुई। ब्रिटिश कूटनीति की सोलहो आने विजय हुई है। सब बातें लिखने से तो अत्यंत दुःख होता है, क्योंकि हमारे बड़े नेताओं ने भी यहां अपने सम्मान के मोह-जाल में फंसकर एकता को कैसे नष्ट कर दिया है, उसका दुःखदायी प्रदर्शन मिलता है। भविष्य में जब कभी समझौते की बात उठे तो पहली शर्त यह हो कि जो लोग मनोनीत हों, वे प्रजा द्वारा निर्वाचित हों, जिससे कम-से-कम, कांग्रेस का बहुमत आ जाये और निर्वाचित लोग एक डोर में बंधे हुए हों। यहां तो यह हालत है कि 'नाइयों की बारात में सभी ठाकुर।'

आर्थिक प्रश्नों के संबंध में बेंथल और हम लोगों के बीच टूटी-फूटी बातें चली आ रही हैं। अभीतक बैंक ऑफ़ इंग्लैंड के परिचालकों से कोई वार्त्तालाप नहीं हुआ, किंतु बेंथल और कैटो ने सूचना दी है कि यहां के सेठ लोग हमारे आर्थिक क्षेत्र पर कोई अधिकार नहीं चाहते, बशर्ते कि हम उनसे रुपया उधार मांगने को न आयें।

चौंतीस

१३ नवंबर, '३१
लंदन

कल होर से गांधीजी मिले। परिस्थिति बिलकुल स्पष्ट हो गई। प्रांतीय स्वराज को छोड़ और कुछ मिलने वाला नहीं है। होर ने कहा कि बाकी बातों को जांच-पड़ताल की जायगी, फिर निश्चय किया जायगा कि क्या करना चाहिए। गांधीजी ने कहा, "इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि जांच-पड़ताल में २-३ साल लग जायं।" उसने कहा, "हां, हो सकता है।" गांधीजी बोले, "और संभव है, अंत में यह निश्चय हो कि कुछ भी न दिया जाय।" उसने यह संभावना भी स्वीकार की। सो इस आर० टी० सी० का नतीजा यह निकला! गांधीजी ने कहा, "बहुत खूब! हम एक-दूसरे से मित्रता रखते हुए ही अलग हों, यही मेरी आंतरिक इच्छा है।" गांधीजी बहुत शीघ्र यहां से प्रस्थान करने वाले हैं, कहा जाता है, एक सप्ताह के भीतर ही। तैयारी शुरू कर दी है।

आज अल्पसंख्यक-दल-परिषद् की बैठक थी। प्रधान मंत्री ने कहा कि अगर इस प्रश्न का निर्णय मुझपर छोड़ना है, तो बाकायदा अपनी-अपनी स्वीकृति मुझे दे दो। उसने यह भी कहा कि विधान-निर्माण-परिषद् की बैठक अगले सप्ताह

होगी। यह किसलिए ? जब केंद्रीय स्वराज की संभावना ही नहीं, तब इस परिषद् का काम ही क्या है ? कुछ लोगों को इससे आशा होती है कि होर ने जो कुछ कहा वह अंतिम शब्द नहीं है—या कम-से-कम परिस्थिति उतनी निराशाजनक नहीं है। पर वास्तव में आशा के लिए गुंजाइश बहुत कम—शायद नहीं के बराबर—रह गई है। गत मई महीने में विलिंग्डन ने सप्रू और जयकर से कुछ ऐसी ही बातें की थीं। कहा था कि फिलहाल प्रांतीय स्वराज मिल जाय तो क्या बुरा है ? जो बात इतने दिनों से दिल में थी, वह अब निकलने लगी है।

अब अरविन भी कह रहा है कि बात मेरे बस की नहीं। लोग यह कह रहे हैं कि जब बॉयकाट बंद नहीं हुआ, तब तुम्हारे और गांधी के बीच के समझौते का मूल्य क्या समझा जाय ?

अल्पसंख्यक दलों के बीच जिस समझौते की चर्चा थी, उसका मसविदा निकल गया। इसमें सिख शामिल नहीं हैं। हिंदुस्तानी ईसाइयों के यहां जो दो प्रतिनिधि हैं, उनमें डा० दत्त[1] ने न तो इस बातचीत में ही कोई भाग लिया है न इसमें शरीक ही हुए हैं। इस समझौते में ऐसी बातें जरूर हैं, जिन पर आपत्ति की जा सकती है। पर यह कैसे मान लिया जाय कि इसमें काट-छांट की गुंजाइश नहीं है ? भिन्न-भिन्न दलों के जो नेता बनकर यहां आये हैं, उनके लिए यह कलंक की बात रहेगी कि ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसर पर भी वह अपनी संकीर्णता की तंग गलियों को छोड़कर राष्ट्रीयता की—एकता की—चौड़ी सड़क पर न आ सके। अफसोस !

अगर विचारपूर्वक देखा जाय तो अल्पसंख्यक दलों की यह संयुक्त मांग भी इतनी भयंकर नहीं है कि आपस में समझौता होने की आशा ही त्याग दी जाय। यूरोपियन जितनी कुर्सियां मांगते हैं उतनी उन्हें नहीं मिल सकतीं। पर वह भी जानते हैं कि वह इससे कम के हकदार हैं और कुछ कम कर देने पर भी वह संतुष्ट हो जायंगे। अछूतों से यह समझौता होना असंभव नहीं दीखता कि तुम्हें इतनी कुर्सियां दे दी जायंगी, पर तुम्हें संयुक्त निर्वाचन स्वीकार करना होगा। ईसाई, ऐंग्लो-इंडियन को भी कुछ-न-कुछ देना ही होगा। सवाल पंजाब और बंगाल का रह जाता है। अगर घड़ी-भर के लिए मान लिया जाय कि मुसलमानों को ५१ फीसदी मिल गया तो आखिर इससे क्या हो जायगा ? प्रलय उपस्थित हो जायगा ? ५०-५० पर समझौता हो सकता है। अगर यह कहा जाय कि मुसलमान और अंगरेज मिलकर हर हालत में हिंदू-सिख से अधिक रहेंगे तो इसके खिलाफ यह दलील भी है कि मुसलमानों के सारे वोट एक ही ओर पड़ेंगे, यह मान लेने की कोई वजह नहीं है। राजनीतिज्ञता, दूरदर्शिता—इन गुणों को

१. डा० दत्त—स्व० एस० के० दत्त; पंजाब के प्रसिद्ध ईसाई अध्यापक और नेता।

अपने शासकों में देखने की हमारे नेता प्रायः इच्छा प्रकट किया करते हैं। कम-से-कम इस मौके पर इन्हें भी तो इन गुणों का परिचय देना चाहिए था। भारतवर्ष-जैसे देश का भविष्य गढ़ने चले हैं, पर अपना-अपना हठ, दुराग्रह, तअस्सुब, तंगदिली घड़ीभर के लिए भी छोड़ने को तैयार नहीं हैं।

ब्रिटिश कूटनीति के लिए हमारे इन नेताओं ने सारा मार्ग बहुत ही सुगम और परिष्कृत कर दिया। अगर हमारी एकता होती तो उसकी ऐसी पूरी विजय कभी न होती। जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर ब्रिटिश सरकार से, ब्रिटिश पूंजीपतियों से, दरअसल बातचीत करने के लिए यहां गांधीजी की जरूरत थी, उनकी तो उनसे चर्चा ही नहीं की गई। अपने शत्रुओं को यह जीत बहुत ही सस्ते दामों मिली।

पैंतीस

१६ नवंबर, '३१
लंदन

आशा की लता मुरझाकर फिर कुछ हरी हो चली है। अंगरेज व्यापारी दौड़-धूप करने लगे हैं, अधिकारियों की ओर से भी चेष्टा हो रही है कि बातचीत का सिलसिला जारी रहे। कान्फ्रेंस तोड़ देना आसान काम है, पर सभी समझते हैं कि इसका नतीजा क्या होगा। जो बातचीत चल रही है, उसमें हमारे शत्रुओं की ओर कितनी सचाई है, कहना कठिन है। कांफ्रेंस टूटने की संभावना से वे कुछ लज्जित हुए हैं, कुछ भयभीत भी। शीघ्र ही स्पष्ट हो जायगा कि बातचीत आगे बढ़ाने में उसका वास्तविक उद्देश्य क्या था।

बेंथल कल आप-ही-आप मुझसे मिलने आया। कुछ चिंतित-सा था। कहा कि फसाद की जड़ होर है, वही विरोध कर रहा है, पर हमने अपने दल की ओर से उसे लिखा है कि अगर कांफ्रेंस टूट गई, उसका उद्देश्य सिद्ध न हुआ, तो इसका परिणाम भयंकर होगा और हम लोग भी उसके लिए तैयार नहीं हैं। बेंथल का कहना है कि मंत्रिमंडल में होर प्रभावशाली जरूर है, पर उसकी चलेगी नहीं। मैंने कहा तुम लोगों ने मुसलमानों और अछूतों के प्रतिनिधियों से इकरारनामा करके समस्या और भी जटिल कर दी है। उसने कहा, हम लोगों ने कोई इकरारनामा नहीं किया है। हमने तो एक तरह से दर्ख्वास्त की है कि हमारा यह हक है—हमें शासन-विधान में यह अधिकार मिलना चाहिए। जब मैंने कहा कि तुम लोगों को प्रतिनिधित्व का अधिकार दूसरे ढंग से भी मिल सकता है तब उसने कहा कि मुझे इसका रास्ता बताओ, हम लोग उस पर विचार करेंगे। मैंने कहा, तुम पहले मुसलमानों को इस बात के लिए राजी करो कि

अपने शासकों में देखने की हमारे नेता प्राय: इच्छा प्रकट किया करते हैं। कम-से-कम इस मौके पर इन्हें भी तो इन गुणों का परिचय देना चाहिए था। भारतवर्ष-जैसे देश का भविष्य गढ़ने चले हैं, पर अपना-अपना हठ, दुराग्रह, तअस्सुब, तंग-दिली घड़ीभर के लिए भी छोड़ने को तैयार नहीं हैं।

ब्रिटिश कूटनीति के लिए हमारे इन नेताओं ने सारा मार्ग बहुत ही सुगम और परिष्कृत कर दिया। अगर हमारी एकता होती तो उसकी ऐसी पूरी विजय कभी न होती। जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर ब्रिटिश सरकार से, ब्रिटिश पूंजीपतियों से, दरअसल बातचीत करने के लिए यहां गांधीजी की जरूरत थी, उनकी तो उनसे चर्चा ही नहीं की गई। अपने शत्रुओं को यह जीत बहुत ही सस्ते दामों मिली।

पैंतीस

१६ नवंबर, '३१
लंदन

आशा की लता मुरझाकर फिर कुछ हरी हो चली है। अंग्रेज व्यापारी दौड़-धूप करने लगे हैं, अधिकारियों की ओर से भी चेष्टा हो रही है कि बातचीत का सिलसिला जारी रहे। कान्फ्रेंस तोड़ देना आसान काम है, पर सभी समझते हैं कि इसका नतीजा क्या होगा। जो बातचीत चल रही है, उसमें हमारे शत्रुओं की ओर कितनी सचाई है, कहना कठिन है। कांफ्रेंस टूटने की संभावना से वे कुछ लज्जित हुए हैं, कुछ भयभीत भी। शीघ्र ही स्पष्ट हो जायगा कि बातचीत आगे बढ़ाने में उसका वास्तविक उद्देश्य क्या था।

बेंथल कल आप-ही-आप मुझसे मिलने आया। कुछ चिंतित-सा था। कहा कि फसाद की जड़ होर है, वही विरोध कर रहा है, पर हमने अपने दल की ओर से उसे लिखा है कि अगर कांफ्रेंस टूट गई, उसका उद्देश्य सिद्ध न हुआ, तो इसका परिणाम भयंकर होगा और हम लोग भी उसके लिए तैयार नहीं हैं। बेंथल का कहना है कि मंत्रिमंडल में होर प्रभावशाली जरूर है, पर उसकी चलेगी नहीं। मैंने कहा तुम लोगों ने मुसलमानों और अछूतों के प्रतिनिधियों से इकरारनामा करके समस्या और भी जटिल कर दी है। उसने कहा, हम लोगों ने कोई इकरारनामा नहीं किया है। हमने तो एक तरह से दर्ख्वास्त की है कि हमारा यह हक है—हमें शासन-विधान में यह अधिकार मिलना चाहिए। जब मैंने कहा कि तुम लोगों को प्रतिनिधित्व का अधिकार दूसरे ढंग से भी मिल सकता है तब उसने कहा कि मुझे रास्ता बताओ, हम लोग उस पर विचार करेंगे। मैंने कहा, तुम पहले मुसलमानों को इस बात के लिए राजी करो कि हिंदू-मुस्लिम-सिक्ख-प्रश्न

हिंदू-मुस्लिम-सिक्ख-प्रश्न को वह प्रधान मंत्री पर छोड़ दें। उसने कहा कि मुसलमान औरों को छोड़कर निपटारा कराने को कभी तैयार न होंगे। अंत में यह तय हुआ कि बेंथल और कार मेरे यहां महात्माजी से मिलें।

रात को ६॥ बजे सब मिले। महात्माजी ने अंगरेजों को कुर्सियां देने से साफ इंकार किया। मैंने बहुत समझाया-बुझाया, पर वह टस-से-मस न हुए। मेरी राय है कि अगर समझौता हो सकता है तो इनको कुर्सियां देकर भी कर लेना चाहिए, जिससे इनके द्वारा अपने को सहायता मिल सके। पर महात्माजी का मत और है। वह आपस में समझौता करके यह तय कर देना चाहते हैं कि अमुक प्रांत में अंगरेजों को—संयुक्त निर्वाचन से—इतनी कुर्सियां मिला करें—कानूनन ऐसा होने देना उन्हें मंजूर नहीं। वह कहते हैं कि कांग्रेस लिखकर दे देगी और अंगरेजों को उसके कौल-क़रार पर ही रहना होगा। बेंथल ने कहा कि बंगाल में जो लोग हमारे खून के प्यासे हो रहे हैं, वे हमारे साथ ऐसी सहानुभूति कब दिखायेंगे, हमारे साथ ऐसा न्याय कब करेंगे ? पर महात्माजी अंत तक यही कहते रहे कि हम अंगरेजों के साथ न्याय करना जरूर चाहते हैं, पर हमारे बीच जो कुछ समझौता होगा, वह कानून के घेरे के बाहर। महात्माजी का मौन-दिवस था, इसलिए वह अपनी राय कागज पर लिखकर ही जाहिर करते रहे। आज रात को फिर बातें होंगी। मुझे आशा नहीं होती कि अंगरेजों को महात्माजी की बात कभी मंजूर होगी।

कैंटो भी दौड़-धूप कर रहा है। उसका लार्ड रीडिंग पर काफी प्रभाव है और उसने इनसे कहा कि यह क्या वाहियात काम हो रहा है ! बात यह है कि सत्याग्रह की संभावना ने सबको गहरी चिंता में डाल दिया है। व्यापारियों को अपने व्यापार की फिक्र है और वह जानते हैं कि अगर भारतवर्ष ने फिर उस राह पर कदम रखा, तो उनका व्यापार चौपट हो जायगा। उनकी बातों का यहां के अधिकारियों पर भी प्रभाव पड़ा है। कल होर ने महात्माजी को बुलाकर उन्हें समझाना चाहा कि उसकी स्कीम को उन्होंने पूरा नहीं समझा है—अर्थात् वह प्रांतीय स्वराज तक ही परिमित नहीं है। आज विधान परिषद् में भी कुछ आशाजनक भाषण हुए। प्रधान मंत्री ने तो सप्रू को लिखा है कि मैं कभी विश्वासघात न करूंगा, और अगर मेरी न चली, तो मैं इस्तीफा दे दूंगा।

इधर जनरल स्मट्स भी इस मामले में दिलचस्पी लेने लगा है। उसका महात्माजी का पुराना परिचय है। परिचय ही नहीं, दोनों का दक्षिण अफ्रीका में काफी संबंध रहा है। स्मट्स की अंतर्राष्ट्रीय संसार में अच्छी ख्याति है। आयरलैंड के साथ जो संधि हुई थी, उसमें इसने खासा भाग लिया था। जब बातों-बातों में महात्माजी ने उससे कहा कि मैं खाली हाथ लौटने वाला हूं, तब वह बोला, "इस पर कौन यकीन कर सकता है कि तुम्हें ये लोग खाली हाथ लौटने देंगे ?

तुम भारत के हृदय-सम्राट् हो—इन्हें यह तो मालूम होना चाहिए कि तुम्हारे खाली हाथ लौटने का वहां क्या नतीजा होगा।" फिर उसने हिंदू-मुस्लिम-प्रश्न की चर्चा की। महात्माजी ने कहा कि फिलहाल और कुछ नहीं तो लखनऊ का समझौता तो है। उन्होंने इस प्रश्न को हल करने का रास्ता भी बताया। स्मट्स उनका प्रस्ताव लेकर प्रधान मंत्री के पास गया और दूसरे समय महात्माजी से रिज होटल में, जहां वह मुसलमानों से बातें करने गये थे, मिला। उसने कहा कि मैक्डानल्ड पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा है और वह कहता था कि गांधी एक अद्भुत व्यक्ति हैं, उनका अभिप्राय समझना कठिन-से-कठिन काम है। स्मट्स ने कहा कि ये लोग आपको नहीं जानते, इसी से ऐसी बातें करते हैं।

मेरी अपनी सहानुभूति प्रधान मंत्री के साथ है। मैंने महात्माजी से कहा भी कि आपकी भाषा सरल-से-सरल और साथ ही गूढ़-से-गूढ़ होती है। शायद ही कोई दावा कर सकता हो कि उसने आपका यथार्थ भाव समझ लिया। खैर !

स्मट्स ने सहायता पहुंचाने का वचन दिया और उससे जो कुछ हो सकता है, वह कर रहा है। हमारे सम्राट् यहां से प्रायः सौ मील पर सेंड्रिंघम में विराजमान हैं। स्मट्स वहां जा पहुंचा है और वहां से मि० एंड्रूज के नाम परवाना आया है कि आप आकर मिलें।

छत्तीस

१७ नवंबर, '३१
लंदन

कल रात बेंथल और कार फिर महात्माजी से मिले। घंटे-भर तक महात्माजी उन्हें फटकारते रहे। उन लोगों ने अपनी सफाई में बार-बार यह कहा कि हमारा मुसलमानों से कोई समझौता—कोई इकरारनामा—नहीं है, हमने तो एक अर्जी-सी पेश की है कि हमें इतना मिलना चाहिए। पर महात्माजी को इससे कुछ भी सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सारांश यह है :

"तुम लोगों पर मेरा जो विश्वास था, वह उठ गया। मुसलमानों से, अछूतों से तुम लोगों ने जो समझौता कर लिया, उससे मेरे दिल को ऐसा घाव लगा है, जो जल्दी भरने का नहीं। तुम कहते हो कि तुम्हारी यह हरकत मुझे बुरी लगी है, पर इन शब्दों से मेरा भाव पूरी तरह व्यक्त नहीं हो सकता। बुरा लगना तो एक साधारण-सी बात है, तुम्हारी करतूत तो वह दगा है, जिसमें तुमने मुझे अपने खंजर का शिकार बनाना चाहा है। तुम्हारे पास तो सभी साधन हैं, अगर

तुम्हें अपने हक न मिलते तो हमसे खुल्लमखुल्ला लड़ लेते। मैं बरावर यही कहता आया कि अंगरेजों का विश्वास करो, अव मैं किस मुंह से तुम्हारी भलमनसाहत का इजहार कर सकता हूं? तुमने तो यह सावित कर दिया कि तुम्हारे आदर्श अभी वदले नहीं हैं—तुम ईस्ट इंडिया कम्पनी की ही राह पर चलने वाले हो। कम्पनी ने अपना प्रभुत्व जमाने के लिए कभी इसका साथ दिया, कभी उसका; कभी इसको उससे लड़ाया, कभी उसको इससे, और अंत में सवको तंग-तवाह करके अपना साम्राज्य कायम कर लिया। तुम भी ऐसी ही भेदनीति से काम लेना चाहते हो। आज भारतवर्ष में जो जातियां जीवन-संग्राम में पिछड़ी हुई हैं, जिनके पास न दौलत है न दिमाग है, उनको अपने चंगुल में फंसाकर तुम सारे देश पर अपनी सत्ता कायम रखना चाहते हो। गनीमत है कि तुम अंगरेज-समाज के भी प्रतिनिधि नहीं हो। मैं दावा करता हूं कि उनका सच्चा प्रतिनिधि मैं हूं। बंबई के नौजवान अंगरेज तुम्हारी तरह नहीं हैं। यहां भी मुझे एक अंगरेज ऐसा नहीं मिला, जिसने तुम्हारी तारीफ की हो। अगर तुम इस समझौते से आप-ही-आप नहीं निकल जाते, तो या तो मैं इसे चूर-चूर कर दूंगा या उसके लिए लड़ता हुआ मर मिटूंगा।"

अंगरेजों ने कहा कि हम तो निकल गये हैं, हमारा अव उससे कोई लेना-देना नहीं है; क्योंकि हमने सवकुछ प्रधान मंत्री पर छोड़ दिया है। पर गांधीजी को इन वातों से सन्तोष न हो सका।

मुसलमानों ने यह जाहिर कर रखा था कि हम लोग विधान परिषद् की कार्रवाई में भाग न लेंगे, पर होर के समझाने पर राजी हो गये और परिषद् का काम फिर जारी है। पंडितजी सेना के संवंध में प्रायः एक घंटा बोले। पर संतोष न हुआ। कहते थे कि दो-तीन घंटे और वोलूंगा।

जमाल मोहम्मद साहव की मुसलमानों ने वड़ी फजीहत की है। बेचारे डर गये हैं। उस दिन गांधीजी की उपस्थिति में मुसलमानों ने उन्हें अपमानित किया। कहा कि तुम जासूस हो, इधर की वातें उधर पहुंचाते हो। इकवाल[1] बोला, तुम्हारे पास पैसे हो गये, तो तुम अपने-आपको बहुत बड़ा आदमी समझने लगे। जमाल साहव की जवान कव वंद रहने वाली थी? जवाव दिया, तुम्हें काफिया मिलाना आ गया तो तुम अपने को कौम का सिरताज समझने लगे? जमाल साहव किसी से दवने वाले नहीं हैं। कोई हो, तुर्की-वतुर्की जवाब दे देंगे। उनमें यह दोष है कि मर्यादा का उल्लंघन कर जाते हैं और वाक्चातुरी न होने के कारण लोगों को अकारण ही चिढ़ा देते हैं। कुछ लोग—उनके मित्रों में ही—उन्हें मगजचट कहने लगे हैं। मुसलमानों की आंखों में तो वह कांटे के समान चुभते हैं।

१. इकवाल—स्वर्गीय सर मुहम्मद इकवाल; महाकवि।

सैंतोस

२० नवंबर,'३१
लंदन

इस सप्ताह महात्माजी लायड जार्ज से उसके घर पर मिले। लायड जार्ज ने कहा कि आपको सत्याग्रह करना ही पड़ेगा। बिना लड़ाई के आपको स्वराज मिलने वाला नहीं है। उसने मैक्डानल्ड को कमजोर बताया। कहा कि टोरी दल के १५० मेंबर भी मैक्डानल्ड का साथ देने वाले हों, तो वह अपनी स्कीम पास करा सकता है।

मैक्डानल्ड की कमजोरी की शिकायत और लोगों से भी सुनने में आई है। इस सप्ताह लेबर-पार्टी के प्रधान मेंबर स्मिथ[1] और लारेंस[2] मेरे यहां खाना खाने आये थे। अगले सप्ताह वेजवुड बेन और दूसरे लोग भी आने वाले हैं। स्मिथ पिछली लेबर-मिनिस्टरी में रह चुका है, और लारेंस अर्थ-विभाग का पार्लमेंटरी मंत्री था। स्मिथ से बड़ी देर तक बातें होती रहीं, वह बराबर नोट लेता गया। मैंने उसे सारी परिस्थिति समझाई और बताया कि अगर झगड़ा चला तो खजाने में टोटा बना ही रहेगा और इंग्लैंड को यहां से पैसे भेजकर भारतवर्ष का शासन करना पड़ेगा। उसको यह बात मार्के की जंची और उसने इस संबंध में कई प्रश्न किये। अंत में कहा, "पारसाल गांधीजी ने यहां न आकर गलती की। इस साल टोरी दल वाले गलती कर रहे हैं। मैक्डानल्ड कमजोर आदमी है, वह इस प्रश्न के लिए अपना सिर देने को तैयार नहीं है।" फिर उसने पूछा, "पर अगर वह इतनी हिम्मत करे तो क्या गांधीजी अपना सिर देने को तैयार होंगे ?" मैंने कहा, "इस प्रश्न का उत्तर तो यह देखकर ही दिया जा सकता है कि हमें मिलता क्या है। पर अगर इतना भी हो जाय कि गांधीजी विरोध न करें तो बहुत है, और यह संभव है कि सोलह आने के बजाय बारह आने मिलने से गांधीजी विरोध न करेंगे।" स्मिथ ने कहा, "इस मंत्रिमंडल से जो कुछ मिल जाय, ले लो। शीघ्र ही इसका पतन होगा और हम लोगों का फिर बोल-बाला होगा। तब तुम्हें बहुत-कुछ मिलने की उम्मीद रहेगी।"

१. स्मिथ--प्रो० लीज स्मिथ; पार्लमेंट के लेवर-मेंबर, अर्थशास्त्री।
२. लारेंस—मि० पेथिक लारेंस, पार्लमेंट के लेवर-मेंबर, अर्थशास्त्री।

सैंतीस

२० नवंबर, '३१
लंदन

इस सप्ताह महात्माजी लायड जार्ज से उसके घर पर मिले। लायड जार्ज ने कहा कि आपको सत्याग्रह करना ही पड़ेगा। विना लड़ाई के आपको स्वराज मिलने वाला नहीं है। उसने मैक्डानल्ड को कमजोर वताया। कहा कि टोरी दल के १५० मेंवर भी मैक्डानल्ड का साथ देने वाले हों, तो वह अपनी स्कीम पास करा सकता है।

मैक्डानल्ड की कमजोरी की शिकायत और लोगों से भी सुनने में आई है। इस सप्ताह लेवर-पार्टी के प्रधान मेंवर स्मिथ[1] और लारेंस[2] मेरे यहाँ खाना खाने आये थे। अगले सप्ताह वेजवुड बेन और दूसरे लोग भी आने वाले हैं। स्मिथ पिछली लेवर-मिनिस्टरी में रह चुका है, और लारेंस अर्थ-विभाग का पार्लमेंटरी मंत्री था। स्मिथ से वड़ी देर तक बातें होती रहीं, वह बराबर नोट लेता गया। मैंने उसे सारी परिस्थिति समझाई और वताया कि अगर झगड़ा चला तो खजाने में टोटा बना ही रहेगा और इंग्लैंड को यहां से पैसे भेजकर भारतवर्ष का शासन करना पड़ेगा। उसको यह वात मार्के की जंची और उसने इस संबंध में कई प्रश्न किये। अंत में कहा, "पारसाल गांधीजी ने यहां न आकर गलती की। इस साल टोरी दल वाले गलती कर रहे हैं। मैक्डानल्ड कमजोर आदमी है, वह इस प्रश्न के लिए अपना सिर देने को तैयार नहीं है।" फिर उसने पूछा, "पर अगर वह इतनी हिम्मत करे तो क्या गांधीजी अपना सिर देने को तैयार होंगे?" मैंने कहा, "इस प्रश्न का उत्तर तो यह देखकर ही दिया जा सकता है कि हमें मिलता क्या है। पर अगर इतना भी हो जाय कि गांधीजी विरोध न करें तो बहुत है, और यह संभव है कि सोलह आने के वजाय वारह आने मिलने से गांधीजी विरोध न करेंगे।" स्मिथ ने कहा, "इस मंत्रिमंडल से जो कुछ मिल जाय, ले लो। शीघ्र ही इसका पतन होगा और हम लोगों का फिर वोल-वाला होगा। तव तुम्हें बहुत-कुछ मिलने की उम्मीद रहेगी।"

१. स्मिथ—प्रो० लीज स्मिथ; पार्लमेंट के लेवर-मेंबर, अर्थशास्त्री।
२. लारेंस—मि० पेथिक लारेंस, पार्लमेंट के लेवर-मेंबर, अर्थशास्त्री।

अड़तीस

२७ नवंबर, '३१
लंदन

आज विधान-परिषद् की अंतिम बैठक है। विधान बनाने में तो न जाने अभी कितनी देर है, पर इसके नाम पर जो नाटक चल रहा था, वह अब पूरा हो चला। साथ ही बर्मा-गोलमेज-कांफ्रेंस नाम का दूसरा तमाशा शुरू हो रहा है।

इस सप्ताह महात्माजी प्रधान मंत्री से फिर मिले। उन्होंने कहा कि प्रांतीय स्वराज मैं लेने को तैयार हूं, बशर्ते कि वह मेरे मन की चीज हो। पर मेरे प्रांतीय स्वराज में न तो बंगाल के राजनैतिक कैदी जेलखानों में पड़े सड़ते रहेंगे, न वहां फौज की ही कोई जरूरत रह जायगी। महात्माजी तो मैक्डानल्ड को मूर्ख और होर को समझदार बताते हैं। विधान-परिषद् के अध्यक्ष लार्ड सैंकी का उन पर बहुत अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा है।

स्मिथ और लारेंस से बातचीत हुई। कहते थे, "मामला बिगड़ गया। हिंदू-मुस्लिम समझौता न होने का अनुचित लाभ उठाया जा रहा है। साथ ही स्वीकार करना होगा कि इसकी गुंजाइश भी है।" मैंने बेन से कहा कि अगर सरकार पूरी तस्वीर हमारे सामने रख दे कि अगर तुम एक हो जाओ तो तुम्हें इतना मिल सकता है, तो समझौता आसानी से हो जाय। बेन बोला, "इस कान्फ्रेंस को किसी तरह जिंदा रखना चाहिए। चाहे यह यहां काम करे, चाहे वहां, मगर इसका काम जारी रहना चाहिए।"

रात लारेंस और बेन मेरे साथ भोजन करने आये थे। देर तक बातें होती रहीं। बेन दिल का साफ आदमी है। उसने कहा, "इंपीरियल प्रिफरेंस दिलाने के लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूं। मैंने इस मामले में कुछ नहीं किया।" एक्सचेंज के बारे में उससे मालूम हुआ कि शुष्टर जब यहां आया था तब उसने सिफारिश की थी कि १-६ छोड़ दिया जाय। पर बेन ऐसे आर्थिक प्रश्नों के संबंध में कम—बहुत कम—जानकारी रखता है, इसलिए उसने इस मामले में शुष्टर से खुद बातें न कर सर हेनरी स्ट्राकोश और किश के सुपुर्द कर दिया। मैं उसको आर्थिक परिस्थिति समझाता रहा। उसने कहा कि कुछ होता-जाता नजर नहीं आता। मैंने कहा कि अगर मैक्डानल्ड महात्माजी को बुलावे और दोनों की दिल खोलकर बातें हों, तो शायद कोई रास्ता निकल आवे। बेन ने कहा कि मैक्डानल्ड ४-५ महीने से ज्यादा ठहर नहीं सकता। टोरी दल वाले उसको और बाल्डविन इन दोनों को ही धता बता देंगे। उसने पूछा कि जिन लोग ने हिंदुस्तान में रुपया लगा रखा है, उनको कैसे संतुष्ट किया जाय? मैंने कहा, "हम न्याय से विमुख होना नहीं चाहते। पर अगर हमें संतोष नहीं होता तो क्रांति किसी के

रोके रुक नहीं सकती। उस हालत में, जिन लोगों ने रुपया लगा रखा है, उनके लिए और भी खतरा है। हमारे ऊपर तुम्हारे कर्ज का बोझ जरूर है, पर आखिर उसे चुकाने का रास्ता क्या है? मान लो कि हम एक्सचेंज घटाकर अपना एक्सपोर्ट बढ़ाते हैं, उस हालत में भी तुम्हारे व्यापार को धक्का लगता है, पर असलियत तो यह है कि संसार के इतिहास में इस तरह का कर्ज कभी किसी देश ने चुकाया नहीं है। बात असंभव-सी है। तुम्हारी नीति ऐसी होनी चाहिए कि हम से असल तो नहीं, पर सूद बराबर अदा होता जाय।" बेन ने कहा कि यहां वालों को यह मालूम हो कि असलियत यह है तो वह और भी सख्ती से पेश आयेंगे। मैंने कहा, "पर हमने तो स्वतंत्र होने का संकल्प कर लिया है। हम कब चुपचाप बैठने वाले हैं!" बेन बोला, "तुम्हारा कहना ठीक है, पर व्यापारी बड़े जड़बुद्धि होते हैं।" मैंने कहा कि अगर सत्याग्रह-संग्राम फिर छिड़ा तो यह नौबत आ जायगी कि शासन के लिए इंग्लैंड को यहां से पैसे भेजने होंगे। बेन बोला, "ठीक है, पर अगर एक डिस्ट्रिक्ट अफसर के मनोविज्ञान को देखो, तो उससे यह आशा करना व्यर्थ है कि वह इस तर्क का कायल होगा। वह कभी नहीं सोच सकता कि मेरे कारनामों का यह असर होगा कि सरकार के खजाने में टोटा रहेगा और यह बात खुद मेरे हक में बुरी होगी। दुनिया अंधी है, लोग बातों पर पूरा विचार नहीं करते। इसी से तो इतनी खराबी है।"

तो हालत यह है कि कांफ्रेंस से कुछ भी नतीजा नहीं निकला। पर यह बिलकुल टूट गई, यह भी नहीं कहा जा सकता। बंगाल में और अन्यत्र भी दमन खूब जोर-शोर से होने वाला है। साथ ही समझौते की बात भी जारी रहेगी। कैलाशबाबू[1] कहा करते थे कि अंगरेज का एक हाथ पांव पर और एक हाथ गर्दन पर रहता है। अगर उसने देखा कि आपमें कुछ दम नहीं तो झट गला दबा देता है, पर अगर उसे मालूम हुआ कि आपसे लड़ने-झगड़ने में उसे लेने-के-देने पड़ेंगे तो उसे पांव छूते देर नहीं लगती। उस अवस्था में वह यही कहता है कि मैं तो पहले से ही आपके पांव चूमने को लालायित था। यही दशा कुछ समय तक रहेगी। अगर उपद्रव बढ़ा तो समझौता बहुत शीघ्र हो जायगा, नहीं तो देने-दिलाने की बात को खटाई में डाल देंगे।

इस सप्ताह कुछ भाषण मार्के के हुए—नरम दलवाले भी जोश-खरोश, सरगर्मी से बोले। महात्माजी ने कहा कि गोला-बारूद से हम डरनेवाले नहीं हैं। हमारे बच्चे भी उन्हें पटाखे समझने लगे हैं। सप्रू, जयकर, शास्त्री, मुदलियार[2]—

१. कैलाशबाबू—स्व० सर कैलाशचंद्र बोस; किसी जमाने में कलकत्ते के सुप्रसिद्ध डाक्टर।
२. मुदलियार—सर रामस्वामी मुदलियार; इस समय भारत-सरकार के सदस्य, पहले मद्रास की 'जस्टिस-पार्टी' के एक नेता।

सबने एक स्वर से प्रांतीय स्वराज से आगे न बढ़ने का विरोध किया। मुसलमानों की ओर से भी कहा गया कि यह पर्याप्त न होगा। मुदलियार मद्रास प्रांत के अब्राह्मण दल का प्रतिनिधि है। बहुत समझदार आदमी जान पड़ता है। लार्ड सैंकी तो कल आपे से बाहर हो गया। बेन को बच्चे की तरह डांटकर कहा कि जबान मत खोलो। जब बेन न माना, तब कहने लगा कि यह हालत रही तो मैं कुर्सी छोड़ दूंगा। दरअसल बात यह है कि इधर परिस्थिति में जो कुछ अंतर पड़ा है, उसका श्रेय बेन और लीज स्मिथ को ही है। सरकार की चाल को ये बखूबी समझते हैं और अगर ये न होते तो होर और सैंकी ने कान्फ्रेंस को शायद चुपचाप दफना दिया होता। सैंकी का बेन से चिढ़ना स्वाभाविक है।

भाईजी[1] का एक तार महात्माजी के नाम आया है कि आप मुसलमानों के साथ जैसा मुनासिब समझें, समझौता कर लें। गांधीजी मुझसे कहते थे कि इसका समय तो जाता रहा। मैंने कहा, "इस समय भी आपको अगर हम १५ हिन्दू लिख कर दे दें, तो आप क्यों न समझौता कर लें?" महात्माजी बोले, "जबतक मालवीयजी और डाक्टर मुंजे लिखकर नहीं दे देते, तब तक मैं नहीं कर सकता। यहां उनके दस्तखत के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता।"

उन्तालीस

४ दिसम्बर, '३१
लन्दन

कांफ्रेंस के नाटक का आखिरी पर्दा गिर चुका। लोग एक-एक कर लंदन छोड़ रहे हैं। महात्माजी कल प्रस्थान करते हैं। पंडितजी का प्रोग्राम अनिश्चित है। अमरीका जाने का कुछ विचार था, मगर उन्होंने तय किया है कि एक सप्ताह यहां और बिताकर इटली होते हुए हिन्दुस्तान जायंगे।

पूरी कांफ्रेंस शनिवार, सोमवार, मंगलवार तीन दिन बैठी। पहले दिन की कान्फ्रेंस में एक भी उल्लेखनीय बात नहीं हुई। दोस्त-दुश्मन सभी एक ही भाषण सुनने को उत्सुक थे और वह भाषण सोमवार को—मौन टूटने पर—होने वाला था। दोनों दिन अधिवेशन साढ़े दस बजे दिन को आरम्भ हुआ, पर सोमवार की कार्रवाई २।। बजे रात को पूरी हुई। शास्त्री-जैसे सुवक्ता भी भ्रम में पड़ गये और थोड़ी देर के लिए यह भूल गये कि दूसरा दिन शुरू हो चुका। उनके मुंह से भी 'आज' की जगह 'कल' निकल ही गया। सोमवार को पहले तो १०।। से ७।।

१. भाईजी—श्री जुगलकिशोर बिड़ला, लेखक के सबसे बड़े भाई।

बजे तक, फिर ६॥ से प्राय: २। बजे तक कांफ्रेंस बैठी। मंत्रिमंडल को प्रधान मंत्री द्वारा होने वाले वक्तव्य पर विचार करना था, इसलिए मैक्डानल्ड और होर को ५ बजे ही उठकर जाना पड़ा। फिर रात की बैठक में आये; बल्कि प्रधान मंत्री की प्रार्थना से कांफ्रेंस कुछ देर के लिए स्थगित की गई। बात यह थी कि गांधीजी का भाषण होने वाला था और प्रधान मंत्री के पहुंचने में कुछ मिनटों की देर थी, पर वह उसे पूरा-का-पूरा सुनना चाहता था।

गांधीजी का भाषण लाजवाब हुआ। ऐसे मौकों पर उनकी एक-एक बात मर्मस्पर्शी हुआ करती है। सन्नाटा छा रहा था और सारी सभा चित्रित-सी जान पड़ती थी। प्राय: ७० मिनट तक बोलते रहे। उनके बाद पंडितजी उठे। मुझे नींद सताने लगी थी और सिर में चक्कर आ रहे थे। इसलिए बीच ही में उठकर चला आया। दूसरे दिन पंडितजी कहते थे कि गांधीजी के वैसे भाषण के बाद कुछ कहना बाकी नहीं रह गया था, कुछ बोलने की इच्छा भी नहीं थी, पर नाम दे चुका था, इसलिए कुछ कहना ही पड़ा। यह भी सुना कि अंतिम भाषण शास्त्री का था और वह अत्यन्त निन्दनीय था। लोगों को बहुत बुरा लगा। मुझे जो कुछ कहना था, आज रात का अधिवेशन आरम्भ होने के कुछ ही समय बाद, कह चुका था। मैं समझता हूं कि मैंने ही यह कहने का साहस या दुस्साहस किया कि कांफ्रेंस को किसी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसमें आगे बढ़ना तो दरकिनार हम और पीछे हट गये। कांफ्रेंस के पुजारियों को यह बेसुरा लगा। कुछ तो बेतरह चिढ़े। पर दूसरों से—खासकर गांधीजी से—मुझे बधाइयां मिलीं। दुश्मन के दल में से भी एकाध अंगरेज बधाई दे गये। पर लेबर-पार्टी वाले परिचित होते हुए भी खामोश रहे। मेरा मुख्य विषय यह था कि जबतक हमारा बोझ हलका नहीं किया जाता—और इसके लिए काफी गुंजाइश है, क्योंकि इंगलैण्ड हमारे साथ बराबर अन्याय करता आया है—तबतक संरक्षणों का बंधन ढीला या बर्दाश्त करने लायक हो ही नहीं सकता।

दूसरे दिन की बैठक ११॥ बजे शुरू हुई। अच्छी भीड़ थी, पत्र-प्रतिनिधियों को भी बैठने की इजाजत मिल गई थी। गांधीजी को प्रधान मंत्री को धन्यवाद देने का काम सौंपा गया। यह उन्हें बड़ा ही अच्छा मौका मिला, और उन्होंने उसके वक्तव्य के संबंध में अपना भाव बड़ी खूबी से प्रकट कर दिया। जिस समय गांधीजी अपना रुख जाहिर कर रहे थे, उस समय कुछ मेम्बरों की हालत देखते ही बनती थी। सभा-भंग होने पर पंडितजी के दफ्तर—११ किंग स्ट्रीट—में बहुत-से लोग इकट्ठे हुए। गांधीजी भी थे। प्रधान मंत्री के भाषण की समीक्षा-परीक्षा होने लगी। कुछ मेंबरों की राय वही थी, जो बराबर से है—अर्थात् बहुत कुछ मिल गया। शास्त्री ने उस रात को भाषण तो निकम्मा दिया, पर उसमें ईमानदारी है, इसलिए असंतुष्ट-सा ही था। गांधीजी के विचार में जरा भी

परिवर्तन नहीं हुआ। पंडितजी डांवाडोल थे। मुझे यह स्पष्ट दीख रहा है कि वक्तव्य से कुछ बनने-बिगड़ने वाला नहीं है। सबकुछ इस बात पर निर्भर होगा कि कांग्रेस की लड़ने की शक्ति कितनी है।

होर से जब गांधीजी पीछे मिले तब उसने उनसे कहा, "मैं तुम्हारी मित्रता चाहता हूं। बंगाल आर्डिनेन्स के लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूं। मैं उसे पसंद भी नहीं करता; पर मुझे लाचार होकर मंजूरी देनी पड़ी। तुम वहां जाकर परिस्थिति संभालने की कोशिश करो। नये गवर्नर के संबंध में जो बातें कही जा रही हैं, वे निराधार हैं। वह बहुत अच्छा आदमी है।" सबसे बड़ी बात होर ने यह कही कि संरक्षणों के विषय में यहां जो कुछ तय हुआ है वह आखिरी फैसला नहीं है। सारा प्रश्न विचार के लिए खुला हुआ है। यह संतोषजनक है। होर ने महात्माजी से यह भी कहा कि हिंदू-मुस्लिम-प्रश्न को किसी तरह आपस में हल कर लो। बहुत कुछ उसी पर निर्भर है।

लार्ड लोथियन ने महात्माजी से कहा कि लड़ने से तुम्हारा भला जरूर है, पर ऐसी लड़ाई न करना कि हमारा सत्यानाश हो जाय। गांधीजी ने कहा, "मैं इसका ध्यान रखूंगा।" उसने कहा, "माडरेटों के लिए हमारे दिल में कोई इज्जत नहीं है। हमें तो तीन से समझौता करना है—तुमसे, मुसलमानों से और अ-ब्राह्मण दल के नेता पात्रो[1] से।" गांधीजी ने कहा, "दो की बात तो ठीक है, मगर पात्रो से समझौता करने की बात निस्सार है, इसे छोड़ो।"

रोड्स[2] कहता था कि बिड़ला! जब तुम्हें कभी नौकरी करने की जरूरत हो तो सर हेनरी स्ट्राकोश के पास जाना, वह बड़ा अच्छा सर्टिफिकेट देगा। मैंने पूछा कि वह मेरे विषय में क्या कहता था? रोड्स बोला, "मुझसे मत पूछो। तुम अपनी प्रशंसा सुनकर असमंजस में पड़ जाओगे!"

१. सर परशुराम पात्रो; मद्रास में कांग्रेस-विरोधी दल के एक नेता।
२. सर कैंपबेल रोड्स किसी जमाने में कलकत्ते के एक 'बड़ा साहब', डायरी-लेखक के साथ इंडियन फिस्कल कमीशन के सदस्य।

बिखरे
विचारों की
भरोटी

१. दरिद्रनारायण के मंदिर में

(१)
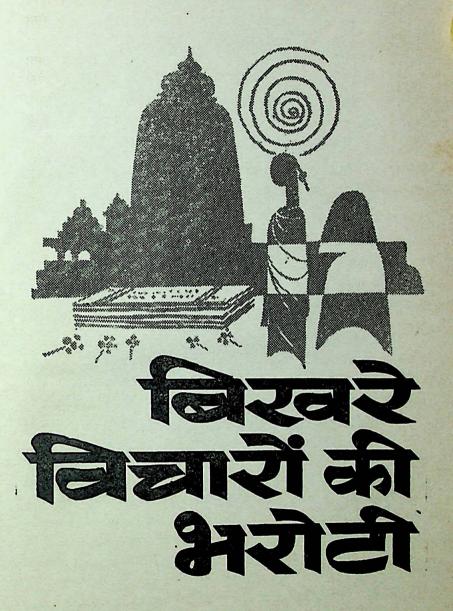
आठ मई को आंखें खुलीं तो गांधीजी के उपवास के स्मरण के साथ उठकर भगवान् से प्रार्थना की और गांधीजी की जय मनायी। गांधीजी की तो सदा जय ही है। जिनका श्वांस-प्रश्वास ही ईश्वर की सेवा में बीतता हो, उनकी पराजय कैसी? किन्तु हम संसारी लोगों के तो जय और पराजय के मापदण्ड भी निराले हैं।

न मालूम, उस दिन कितने आदमियों ने ईश्वर-आराधना और गांधीजी की जय-कामना की होगी। कोई जमुना-तट पर पहुंचे, तो कोई मन्दिर में। मैंने सोचा, कहां जाऊं? भगवान् जमुना-तट पर मिलेंगे या मन्दिर में? आखिर दोनों ही जगहें पसन्द न आयीं। "काहे रे मन खोजन जाई?" सोचा, भगवान् तो अपने जनों के बीच में ही मिल सकते हैं। "राम तें अधिक राम कर दासा।" आज हरि-जनों को छोड़कर हरि और कहां मिल सकते हैं? सोचा, हरि को हरिजनों के ही बीच में ढूंढूं और प्रार्थना करूं, "हे हरि, गांधी बापू जिन्दा रहें और मेरा कल्याण हो!" इस विचार से दरिद्रनारायण की खोज में हरिजनों की बस्तियों में चक्कर लगाना शुरू किया। हरिजनों के पक्के सेवक या यों कहना चाहिए कि हरि के सेवक ठक्कर बापा पथ-प्रदर्शक बने।

सबसे पहली हरिजन-बस्ती जो हमने देखी वह जयपुर प्रांत के भंगियों की थी। ये लोग यहां की म्युनिसिपैलिटी में नौकर हैं। बस्ती क्या थी, दोजख की जिन्दा तसवीर थी। जिस अहाते में ये लोग रहते हैं, उसके बीच में करीब बीस सार्वजनिक पाखाने बने हुए हैं। इन लोगों के रहने की कोठरियां इन पाखानों से १० फुट हटकर परिक्रमा देती हुई बनी हुई हैं, जिनमें ये सकुटुम्ब रहते हैं। इस अहाते में प्रवेश करते ही, बायीं तरफ कुछ गाड़ियां खड़ी दिखायी देती हैं और

इनके पास ही चिमनी वाली दो बड़ी भट्टियां भी हैं। गाड़ियों में पब्लिक का कूड़ा-कर्कट और मैला लाकर डाला जाता है, और जब वे भर जातीं हैं तो बैल जोतकर उन्हें शहर के बाहर ले जाते हैं और खाली करके वापस वहीं ला खड़ी करते हैं, जो चौवीस घंटे गंदगी फैलाती रहती हैं। भट्टियों में जलाने लायक कूड़ा-कर्कट वहीं जला दिया जाता है, मानो सार्वजनिक पाखाने और कूड़ा-कर्कट की गाड़ियां इनका स्वास्थ्य विगाड़ने को काफी न थीं, इसलिए कूड़ा जलाकर गंदगी की पूर्णाहुति करना आवश्यक समझा गया।

इस सारी व्यवस्था का फल यह हुआ है कि मेहतरों की यह छोटी-सी वस्ती मल-मूत्र और कूड़े-कर्कट का एक स्थायी गोदाम बन गयी है। कोठरियों के बीचों-बीच जो सार्वजनिक पाखाने हैं, उनमें रात-दिन बदबू आती रहती है और मक्खियां निकल-निकलकर भिनभिनाती हैं। जिन लोगों के बल पर सारा शहर स्वच्छ रहता हो, उन्हें इस तरह मल-मूत्र के कीटाणु बना देने से बढ़कर नृशंसता और होगी ? म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों (City-fathers) को शरमाने के लिए यह एक छोटी-सी वस्ती काफी है, हालांकि दिल्ली में ऐसी अनेक बस्तियां होंगी। मुझे तो इनकी नारकीय स्थिति देखकर उनसे कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी। उनसे क्या कहें ? कहना तो उनसे हो सकता है, जिनके कारण उनकी यह हालत हुई है।

ये लोग दारू और गांजा पीते हैं। प्राय: सभी ने स्वीकार किया कि शराब और गांजे पर काफी रुपये का अपव्यय होता है। किन्तु जबतक उनके लिए साफ हवा का प्रबन्ध न हो, उनके साथ मनुष्योचित व्यवहार न हो तबतक उनसे किस मुंह से कहा जाये कि तुम शराब छोड़ो, गांजा त्यागो। मेरा तो खयाल है कि अपने शारीरिक दुःखों को भुलाने के लिए ही उन्हें मादक द्रव्यों की शरण लेनी पड़ी है। हमारी राक्षसी अवहेलना के कारण उनको उठाने के लिए वर्षों लगेंगे और इसके लिए सर्वप्रथम हमें रोजमर्रा के अपने अत्याचार को बन्द करना होगा।

पूछने पर यह भी पता लगा कि म्युनिसिपैलिटी में नौकरी हासिल करने के लिए इन्हें प्रत्येक मनुष्य पीछे चालीस-पचास रुपये पहले रिश्वत में और बाद को बराबर १) माहवार देना पड़ता है। इन पर कर्जा भी काफी है। फी रुपया दो आना ब्याज देना पड़ता है। मुझे आश्चर्य हुआ कि ये लोग इतनी गन्दगी में जिन्दा कैसे रह सकते हैं ! एक से मैंने पूछा, "भाई, तुम बीमार पड़ते हो तब दवा-दारू का क्या प्रबन्ध करते हो ?" उसने कहा, "बिना दाम दवा कहां और हमारे पास दाम कहां ?" एक आदमी की पीठ में दर्द था। उसने बताया कि उसने दर्द की जगह पर काली मिर्च और जौ का लेप कर रखा है। मैंने पूछा, "बीमारी में बिना डाक्टर के काम कैसे चलता है ?" उसने हँसकर कहा, "माई-बाप, भंगी को सत की बूटी मिली है, इसलिए हम कभी बीमार नहीं होते।"

मैंने अपने मन में कहा कि क्या हम लोग 'माई-बाप' कहलाने योग्य हैं ? मैंने पूछा, "बच्चों को पढ़ाते क्यों नहीं ? स्कूल तो खुला है।" उनमें से दो-एक, जो नयी रोशनी वाले मालूम होते थे, कहने लगे कि बच्चों को भेजेंगे। उन्हें अभी आदत नहीं है। किन्तु जो एक बूढ़ा था, उसने कुछ आवेश के साथ कहा, "क्यों साहब, वे पढ़कर क्या कुछ ज्यादा कमा लेंगे ? अभी कुछ लड़के जो पढ़े-लिखे हैं, उन्हें अव्वल तो नौकरी नहीं मिलती, और मिलती भी है तो कुछ अधिक वेतन नहीं मिलता। इसलिए शिक्षा का आखिर लाभ क्या ?" बूढ़े की दलील में कुछ वजूद तो था ही, किन्तु आखिर समझाने पर उसने बच्चों को नियमित रूप से स्कूल में भेजने का वादा किया।

इनसे विदा लेकर हम दूसरी वस्ती में पहुंचे। यह वस्ती भी भंगियों की है; किन्तु इनमें कुछ अच्छी स्थिति के भंगी रहते हैं। ये लोग बैलगाड़ी से ठेके पर कूड़ा-कर्कट ढोने वाले हैं। इसलिए खाने-पीने की इन्हें कमी नहीं। इनमें एक जवान तो बड़ा बलिष्ठ मालूम होता था। पता लगा कि यह कसरत करता है, पहलवान है। एक बूढ़ा चौधरी मिला। उसका मकान काफी साफ-सुथरा था। हाथ में सोने की अंगूठी और कमीज में चांदी के सटकेदार बटन थे। सूरत-शक्ल से ब्राह्मण-सा मालूम होता था; क्योंकि चेहरे पर सौम्य था। अगर कोई बताता नहीं तो यह पता भी न चलता कि यह भंगी है। इनमें सफाई थी, भलमंसी थी, खाने-पीने को पल्ले में था, पर एक चीज का दारिद्र्य था। वह था सम्मान। आर्थिक दशा ठीक होने पर अपमान की यन्त्रणा असहनीय हो जाती है। पहली बस्ती वाले भंगी बुरी हालत में थे, इसलिए अपमान उन्हें नहीं खटकता। किन्तु इन लोगों की दशा साधारणतया ठीक है, इसलिए अपमान इनके लिए असह्य बन गया है।

हम पहुंचे तो गली के एक कोने में बैठे गप्पें हांक रहे थे। चूंकि वे भंगी-जैसे नहीं मालूम होते थे, इसलिए मैंने पूछा, "क्या भंगियों का मुहल्ला यही है ?" यह सुनते ही उनमें से जो बूढ़ा था, उसकी आंखें लाल हो गयीं। क्रोध के मारे वह तमतमा उठा। उसने कड़ककर जवाब दिया, "तुम्हें क्या काम है ?" कुछ ठहरकर बोला, "हां, यही है।"

मैंने पूछा, "क्या तुम भी भंगी हो ?" उसने कहा, "हूं, तो क्या ?" मैंने पूछा, "तुम्हारे लड़कों की पढ़ाई का क्या हाल है ?"

अब तो वह बिलकुल ही उघड़ पड़ा। कहने लगा, "तुम लोगों ने कोई पाठशाला भी खोली है, जिसमें लड़कों को पढ़ाते ? सदियों तक तुम लोगों ने हम पर तबाही बरपा की। हमारे कानों में कीले ठुकवा दिये कि हम कोई अच्छी बात न सुन पायें। अब जब तुम लोगों पर आफत आयी है, तब दौड़-दौड़कर हमारे मुहल्लों में आ धमकते हो और हमें गले लगाने का दिखावा करते हो; मगर तुमने किया क्या है ? आते हो और चले जाते हो। उस दिन कुछ औरतें भी यहां झाडू

लेकर फेर गयीं। हमने उनसे कहा, हमें स्कूल खुलवा दो। मगर उसके बाद न स्कूल ही खुला और न किसी ने तव से सूरत ही दिखायी। आर्यसमाज की पाठशाला पास में है। पर उसमें लड़के भेजें तो कैसे भेजें ? कोई हमदर्दी तो है नहीं। पचास तरह की शर्तें लगाते हैं। कहते हैं, लड़कों को साफ करके भेजो; यह करो, वह करो। हम वच्चों को सफाई कैसे सिखायें ? सदियों से गंदगी की आदत पड़ी हुई है, और अव हमसे कहते हो, लड़कों को जरा साफ करके भेजो। अव हमने पादरियों को लिखा है कि वे यहां पर आकर स्कूल खोलें। अव जव वे स्कूल खोलेंगे तव हमारे वच्चे पढ़ेंगे। पढ़ना तो सव चाहते हैं, मगर तुम पढ़ने भी दो तव न !"

बूढ़े का नाम रग्घू था। वह न तो शिक्षित था और न नये जमाने की वहक वाला, तो भी धारा-प्रवाह उर्दू में उसने ऐसी फटकार बतायी कि मैं अवाक् रह गया। किन्तु जो कुछ उसने कहा, वह सत्य तो था ही, इसलिए जवाब भी तो मेरे पास कहां था ? मैंने पूछा, "तुमने पादरियों को क्यों लिखा ?" मेरे प्रश्न ने तो मानो बूढ़े के दिल की धधकती हुई आग में ईंधन का काम दिया। उसने कहा, "क्यों न लिखें ? उनसे वढ़कर हमारा हितू आज और कौन है ! उन्हीं के जरिये तो हम लोगों में थोड़ी-सी आदमियत आ रही है। उन लोगों की सेवा का कुछ ठिकाना है !"

किसी ने धीरे से मेरे कान में कहा कि ये लोग ईसाई भंगी हैं। मैंने पूछा, "क्या तुम ईसाई हो ?" अव तो रग्घू की सांस क्रोध के मारे तेजी से चलने लगी। उसने कहा, "हमारे धर्म से मतलब ? सारे अछूत ईसाई बन जायेंगे, वनते जा रहे हैं। वे क्यों न ईसाई वनें, ऊंची जाति वाले तो अछूतों को पास भी नहीं फटकने देते हैं।" मैंने कहा, "मैं तो सिर्फ जानने के लिए ही पूछता हूं कि तुम ईसाई हो ?"

तीन-चार मेहतर, जो वहां खड़े थे, एकस्वर से वोल उठे, "अजी, ईसाई तो नहीं हैं—हैं तो हिंदू ही, मगर पादरियों के सिवा हमदर्दी और कहां है, जिससे उन्हें लिखे विना ही हमारा काम चल जाये ?"

इसी बीच में रास्ते चलते कुछ उच्च वर्ण के हिंदू भी वहां पर ठहर गये थे। वे सव बात सुन रहे थे। उनमें से एक ने, बीच में पड़कर, ख्वाहमख्वाह, हम लोगों का परिचय दे ही डाला। अव तो रग्घू बिलकुल कातर हो गया। उसका क्रोध भी पल-भर में चला गया। कहने लगा, "माई-बाप, मैं कान पकड़ता हूं। गुस्ताखी हुई। इसके लिए माफी चाहता हूं।" यह कहते हुए सचमुच उसकी आंखों में आंसू भर आये।

मैंने कहा, "गुस्ताखी तुमने नहीं की, हम लोगों ने की है, जो आज तुम्हारी यह दशा है।" अव तो हमारी बातों का रंग बदल गया। कड़वाहट के स्थान पर मिठास आ गयी।

हमने उनके कर्ज के सम्बन्ध में पूछताछ शुरू की। रग्घू के साथ प्रभु-

दयाल भी वोलने लगा। उसने कहा, "कर्जे का ब्याज देते-देते ये लोग थक जाते हैं। एक ने १०००) लिये थे, अवतक ६५००) ब्याज पेटे अदा कर चुका है, (पास में साहूकार की एक वड़ी हवेली थी, उधर इशारा करके) फिर भी मूल कर्जा चढ़ा हुआ है। रग्घू ने २५०) लिये थे, मगर ६५०) का दस्तावेज लिखाया गया था। अव ब्याज चुकाते-चुकाते थक गया।"

हमसे सव कहने लगे, "अव वनिये से हमारा फैसला करा दीजिए।" मैंने कहा, "क्या ऐसे भी लोग हैं, जिनके पास देने को नहीं है?" उसने कहा, "अवश्य हैं।" मैंने कहा, "ऐसे लोग तो हर्गिज देने के लिए वाध्य नहीं हो सकते। देने को जिनके पास नहीं, उन्हें चाहिए कि वे कोर्ट में नादारी की दरख्वास्त देकर कर्ज से पिंड छुड़ा लें।" आधे मिनट के लिए तो सन्नाटा छा गया। सहज ही ऋण से मुक्त कैसे हो सकते हैं, इसका उन्हें कुछ प्रिय आभास हुआ। किन्तु यह सुखद कल्पना आधे मिनट से ज्यादा नहीं ठहरी। प्रभुदयाल ने हाथ जोड़कर कहा, "माई-बाप, यह तो नहीं हो सकता। वनिये की ज्यादती हो या न हो, हमारे पास पैसे हों या न हों, इस तरह से हम ऋण-मुक्त कभी न होंगे, या तो हमारा फैसला करा दो, या वनिया जो मांगेगा वही जब हमारे पास होगा तब हम दे देंगे।"

मैं यह सुनकर हैरान हो गया। मैंने कहा, "किन्तु जिनके पास नहीं है, वे कैसे दे सकते हैं?" प्रभुदयाल ने कहा, "जबतक कमायेंगे तवतक देंगे। हम नहीं, तो हमारे वाल-वच्चे देंगे।" इनकी इसी भलमंसी पर मैं तो अवाक् रह गया। मैंने कहा, "भाई, अच्छे फैसले की ही हम लोग कोशिश करेंगे।"

आश्चर्य यह है कि इतना अत्याचार होने पर भी इन लोगों की धार्मिक भावना जाग्रत है। जिस नजर से ये अपने कर्ज को देखते हैं और जिस नैतिक दायित्व को ये महसूस करते हैं, थोड़े उच्च वर्ण वाले मनुष्य इस तरह का दायित्व समझते होंगे। इस मामले में ज्यादा वहस करना अनावश्यक समझकर हम आगे वढ़ें।

जव वस्ती से वाहर निकले तो सहसा कवि की यह उक्ति स्मरण हो आयी :

> "शक्ल इन्सान में छिपा था तू मुझे मालूम न था।
> चांद वादल में छिपा था मुझे मालूम न था।।

(२)

इसके बाद और अनेक वस्तियों में चक्कर काटे। रैगरों की वस्ती देखी,

भंगियों की अनेक बस्तियां देखीं और चमारों की बस्तियां भी देखीं। कैसी भी हृदयविदारक भाषा में इसका वर्णन क्यों न किया जाये, असली तसवीर को पाठकों को हृदयंगम करा देना लेखनी की शक्ति के बाहर की बात है।

"घायल की गति घायल जाने, जो कोई घायल होय।"

हम लोग दर्शक बनकर जानेवाले आखिर घड़ी-आध घड़ी ऊपरी दृष्टि से उनका कष्ट भले ही देख लें, असल में तो उनका दुःख वही महसूस कर सकता है, जो रात-दिन वहीं रहता हो। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि उनको न तो शुद्ध हवा मिलती है, न बहुतायत से पानी मिलता है, न प्रकाश मिलता है और न पेट-भर खाने को अन्न या ओढ़ने को वस्त्र ही मिलते हैं। भंगियों को म्युनिसिपैलिटी से जो वर्दी पहनने को मिलती है, उसे तो उनका चौबीसों घंटों का साथी समझिए। उसी वर्दी को पहनकर वे मैला भी ढोते हैं और उसी को पहनकर खाना भी खाते हैं।

जो परिवर्तन इन वर्षों में हरिजनों में धीरे-धीरे होता दिखायी दे रहा है, वह यह है कि इनके आत्म-सम्मान की मात्रा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। गांवों में तो यह नहीं के बराबर है, शहरों में और खासकर उन हरिजनों में यह अधिक है, जिन्हें कुछ थोड़ी-सी शिक्षा मिल गयी है और जिनकी आर्थिक अवस्था कुछ थोड़ी-सी सुधार गयी है। जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त गिरी हुई है, उन्हें तो मान-अपमान का खयाल करने की भी फुर्सत कहां? किन्तु जिनकी आर्थिक दशा कुछ सुधरी है, उनका असन्तोष बेतरह बढ़ रहा है। यह स्वाभाविक भी है। ईसाई, मुसलमान उन्हें उनकी गिरी हुई दशा का स्मरण दिलाते रहते हैं। हिन्दू-समाज द्वारा उन पर किया गया जुल्म, हिन्दू-धर्म में उनकी श्रद्धा की जड़ें खोखली कर रहा है। धर्म-परिवर्तन करने पर उनका दर्जा कितना बढ़ सकता है। जिस हिंदू हरिजन को न कुएं से पानी लेने दिया जाता है, जिसे छूने में पाप माना जाता है, उसी हरिजन को धर्म-परिवर्तन करने पर स्वयं उच्च वर्ण के हिन्दू ही कितनी इज्जत देने लग जाते हैं। हिन्दुओं के इस बेढंगेपन से हरिजन नावाकिफ नहीं हैं। इस बेढंगेपन की ईसाई, मुसलमान, सुधारक हिन्दू सभी ढोल पीट-पीटकर अपने-अपने ढंग से चर्चा करते हैं। इसे हरिजन भी सुनता रहता है और यह उसके दिल में हलचल मचाने में सहायक बनता जा रहा है। नतीजा यह हो रहा है कि कितने ईसाई बनते जा रहे हैं, तो कितनों के हृदय में असंतोष बुरी तरह लहरें मार रहा है। इतना होने पर भी आश्चर्य तो यही है कि अबतक ये हिन्दू बने हुए हैं। किन्तु हिन्दू-धर्म के नाम पर जब इन्हें कोई उपदेश देने जाता है तो सहज ही खयाल होता है कि क्या इसी का नाम हिन्दू-धर्म है कि जिसके मानने वाले, मनुष्यों को कुत्ते-बिल्ली तो क्या, मक्खी से भी बदतर समझें!

एक मुहल्ले में चमार और भंगी पास-पास में रहते हैं। चमारों का एक कुंआ है। उसमें से भंगियों को ये लोग पानी नहीं निकालने देते। मैंने चमारों के चौधरी से कहा कि ऐसा न होना चाहिए, तो उसने टका-सा जवाब दे ही डाला, "क्यों साहब, आप भी तो हमें कुओं पर नहीं चढ़ने देते।" उसने बताया कि किस प्रकार पास की बस्ती में एक ब्राह्मण जब नहा रहा था तो इस चमार की लड़की को पास में खड़ी रहने देने में भी उसे आपत्ति थी। इस चमार ने कहा, "मैंने बात बढ़ने के डर से अपनी बेटी से कह दिया, 'बेटी, हट जाओ।' किन्तु यह अपमान उसे अब भी सता रहा था।"

इस धधकती हुई आग का क्या परिणाम होगा, यह कौन बता सकता है? इतना अवश्य हो सकता है कि गांधीजी ने इस पर ठंडा पानी छोड़ा है। एक से मैंने पूछा, "जानते हो, तुम्हारे लिए गांधीजी मर रहे हैं?" उसने कहा, "उन्हें कौन नहीं जानता? वे ही एकमात्र हमारे आधार हैं।" किन्तु उच्च वर्ण वाले हिन्दू जबतक इस भूल को नहीं समझेंगे, मुझे भय है कि कड़वाहट बढ़ती ही जायेगी। अछूतोद्धार के आन्दोलन से जागृति आ रही है। उसके कारण भी हरिजन अपमानित अवस्था को अधिक स्पष्टता से देखने-जानने लगे हैं और यदि हिन्दू-समाज ने अपना रुख नहीं बदला तो लाखों की तादाद में हरिजनों को हम खो बैठेंगे, इसमें मुझे कोई शक नहीं।

कार्य की गुरुता और जटिलता को विचारने पर नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प लोगों के चित्तों में सहज ही उत्पन्न होते हैं। "यह तो महाभारत-जैसा काम है। रामानुज, नानक, कबीर, दयानन्द जिस बात को नहीं बना सके, क्या गांधीजी उसे पूरा करने में समर्थ होंगे? कितने करोड़ हरिजन और फिर उच्च वर्ण वालों की सदियों की इनके प्रति घृणा, गांवों में शिक्षा का अभाव और अन्ध-विश्वास! ऐसी हालत में क्या हमें सफलता मिल सकती है? और फिर हरिजनों में भी तो गंदगी, शराब-खोरी, जुआरीपन आदि दुर्गुणों ने घर बना लिया है। इनका सुधार कैसे होगा, कब होगा? इसमें तो कम-से-कम सैकड़ों वर्ष लग जायेंगे। एक-एक बस्ती में दसों वर्ष सुधार में लग सकते हैं।" ऐसे-ऐसे विचार सहज ही मनुष्य को पस्तहिम्मत बना देते हैं। ऐसे संकल्प-विकल्प भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं (और ये उन लोगों में जो अछूतपन को हिन्दू-धर्म में एक पल के लिए भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं हैं!) "अछूतों को यदि हम शिक्षित बना देंगे तो उनके प्रति उच्च वर्ण द्वारा किया अपमान उन्हें और अधिक खटकने लगेगा और कहीं वे अधिक संख्या में विधर्मी तो न बनने लग जायेंगे? कहीं हमारा आज का यह पवित्र उद्योग उलटा हमारे ही लिए तो घातक न बन जायेगा? इसलिए क्यों न रोटी से पहले हम उनके सामने 'राम' रखें?"

इसका उत्तर तो मुझे एक बस्ती में मिला, जहां एक भंगियों के गुरु उन्हें

हंस-निर्वाण (सिन्ध देश के एक जीवित सन्त) के कुछ पद सुना रहे थे। भंगी वावाजी के पद सुनते जाते थे; किन्तु बार-बार उन्हें वतलाते जाते थे, "वावाजी, हमारे यहां पानी का बड़ा कष्ट है।" सुदामाजी ने जव अपनी स्त्री को ब्रह्मज्ञान से सन्तुष्ट करना चाहा तव उसने कह ही डाला, "मने ज्ञान नाथी गमतूं ऋषिरायजी रे, वालक मांगे अन्न लागूं पायजी रे।" यह सच है कि 'भूखे भजन न होहि गोपाला।'

"इस आन्दोलन में कितनी सफलता मिलेगी या इसी आन्दोलन के कारण इनके आत्म-सम्मान की मात्रा जाग्रत हो जाने पर यह कहीं अधिक संख्या में ईसाई तो न वनने लगेंगे?" यह सारी-की-सारी विचारधारा ही मुझे तो दूषित मालूम होती है।

सेवा करने वाले का तो केवल सेवा ही अधिकार है, फलाकांक्षा का नहीं। "कर्मण्येवाधिकारस्ते।" "हमारी सेवा से कहीं उलटा फल न लग जाये, ऐसा विचार करना ही ईश्वर में विश्वास की कमी प्रकट करना है।" "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" "न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गति तात गच्छति।" "कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" इन वाक्यों का यदि कोई अर्थ है तो हमें निश्चिन्त रहना चाहिए और भरोसा रखना चाहिए कि सेवा का फल, यदि वह किसी विना लोभ के की गयी है, तो अच्छा ही होगा।

और यदि मान लिया जाये कि ईश्वर की ऐसी इच्छा है कि ये सव लोग ईसाई या मुसलमान बन जायें तो क्यों न वनें? 'यद्भाव्यं तद्भवतु भगवान्' कहकर हमें संतोष ही मान लेना होगा। यह तो निश्चित वात है कि विना उसकी मर्जी के तो इस संसार में एक पत्ता भी नहीं हिलता। इतना सोच लेने पर पस्तहिम्मती या निराशा के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

वात यह है कि मनुष्य अल्प है, उसकी शक्ति अल्प है, अतः उसका कार्यक्रम भी अल्प होता है। पस्तहिम्मती की तह में अभिमान होता है। हम पहले ही अपनी शक्ति वड़ी मान लेते हैं, फिर कार्य की गुरुता सामने आने पर उत्साह टूटने लगता है। जहां अपनी शक्ति को अल्प मानकर ही काम आरम्भ किया जाये, वहां उत्साह टूटने के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि वहां शुरू ही से ईश्वर को रखवाला मान लिया जाता है। अहर्निश अपनी शक्ति की निर्बलता का भान करने वाले गांधीजी ने भी अछूतों के उद्धारके लिए २१ दिन के उपवास द्वारा ईश्वर का ही दरवाजा खटखटाया है। आखिर इतने बड़े जहरीले रोग के लिए ईश्वर-आराधना के विना उद्योग अकेला क्या कर सकता था? शुद्ध उद्योग वही है, जिसमें उद्योग की कमी न हो, अपनी निर्बलता का ज्ञान हो, फल क्या होगा, इससे बेफिक्री हो। बाकी के उद्योग तो "हूं करूं, हूं करूं एज अज्ञानता।"

२. गांधीजी और अभिमान

हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल का विरोध करते हुए महामना पूज्य मालवीयजी ने गांधीजी को लिखा है, "आप उतावले न हों, धीरे-धीरे चलें। अभिमान से तपश्चर्या कलुषित हो जाती है।"

पंडितजी का यह लिखना पंडितजी के कितने ही मित्रों को कुछ अखरा जरूर, क्योंकि पंडितजी से बढ़कर बोलने या लिखने में विवेक करने वाले थोड़े ही लोग होंगे। संभव यही जान पड़ता है कि पंडितजी के लिखने का भाव कुछ और ही था, तो भी गांधीजी की मनोवृत्ति के संबंध में यहां कुछ चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा।

साधारणतया तो यही समझ में आता है कि जहां अभिमान हो वहां तप संभव नहीं। 'तपस्वी को अभिमान हो' यह परस्पर विरोधी-जैसे वाक्य जान पड़ते हैं। हां, नीचे की तरफ सिर करके अग्नि के ऊपर उलटा झूला खानेवाले खाकी बाबा को तो अभिमान की कमी नहीं होती, किन्तु इन उलटा झूला खाने वालों को तो शायद ही तपस्वी कहना चाहिए। हां, गीता में ऐसे राजसी और तामसी तपों का वर्णन है सही, जो या तो सत्कार, मान और पूजा के लिए दंभपूर्वक अथवा दुराग्रह से किसी के नाश के लिए किये जाते हैं। परन्तु गांधीजी के दुश्मन भी यह नहीं कह सकते कि गांधीजी उपर्युक्त प्रकार के निकृष्ट श्रेणी के तप करने वालों में से हैं। इसलिए यदि गीता के अनुसार:

(देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तः सात्विकं परिचक्षते ।।)

गांधीजी सात्विक तपस्वियों में से हों, तो फिर उन पर अभिमान का आरोपण करना तप की महिमा को घटाना होगा।

पिछले दिनों, जब मैं पूना गया, उस समय गांधीजी से मैंने उनकी उपवास-नीति की चर्चा छेड़ी। मैंने गांधीजी से कहा, "मुझे तो मालूम होता है कि आपने उपवास द्वारा प्राण छोड़ने का संकल्प कर लिया है। शायद आप यह सोचते

होंगे कि अब बहुत दिन तो जीना है नहीं, इसलिए मरना ही है तो फिर मृत्यु से भी कीमत क्यों न अदा की जाये। आप सेवा के लिए ही जिंदा रहे और शायद सेवा के लिए ही आप प्राण छोड़ने का भी संकल्प करते हों। यदि यही संकल्प हो तो फिर जहां एक प्रश्न आपके इच्छानुसार हल हुआ कि आप और एक दूसरा प्रश्न कहीं और अधिक महत्त्व का पकड़ बैठेंगे और इस तरह आगे बढ़ते-बढ़ते, शायद एक ऐसे प्रश्न को आप पकड़ बैठें, जिसका हल होना लोगों की शक्ति से बाहर हो और उसी प्रश्न पर आप प्राण छोड़ दें। जीवन से जैसे आपने लोगों को शिक्षा दी, वैसे ही मृत्यु से भी शिक्षा देना चाहते हैं।"

हिन्दू-जाति के इतिहास में भावुक लोगों के अनशन-व्रत धारण करके, या तो काशी-करवत लेकर या गंगा-प्रवाह लेकर प्राण त्याग देने के कई उदाहरण मिलते हैं।

'सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को लैहों करवत काशी।'

यह सूरदासजी की प्रिय अभिलाषा थी। पांडवों ने भी जान-बूझकर प्राण छोड़े थे। यद्यपि गांधीजी के उपवास से इन दृष्टांतों का कोई मिलान नहीं खाता, तो भी मुझे यह खयाल आया कि मृत्यु द्वारा भी गांधीजी लोगों के लिए एक और उदाहरण छोड़ जाना चाहते हैं। इसलिए मैंने गांधीजी से उपर्युक्त बातें कहीं।

गांधीजी के उत्तर ने मेरी इन शंकाओं को बिलकुल रफा कर दिया। गांधीजी ने कहा, "इस वहम को तुम अपने दिमाग से निकाल डालो। जो मनुष्य मरने की तैयारी करता है, वह न तो नयी-नयी भाषाएं सीखने का प्रयत्न करता है और न तुम्हारे पास से एक्सचेंज और करेंसी का साहित्य मंगाकर अर्थशास्त्र का पंडित ही बनने की कोशिश करता है। मैं तो बंगला सीख रहा हूं तथा एक-आधी और भी भाषा सीख रहा हूं। मैं न तो अपने-आपको बूढ़ा मानता हूं, न इस बात पर विचार ही करता हूं कि कब मरना है और कबतक जीना है। जो वस्तु मेरे अधिकार के बाहर की है, उस पर विचार करना, यह मेरा काम नहीं है। इसलिए मैंने, जैसा तुम बताते हो, वैसा कोई निर्णय किया है, इस कल्पना को ही दिमाग से निकाल दो।"

किन्तु उन्होंने एक बात और कही, जो उपर्युक्त शब्दों से कहीं अधिक महत्त्व की थी। उन्होंने कहा, "मेरी मृत्यु किसी निमित्त को लेकर हो, इस कल्पना-मात्र में भी मैं अभिमान देखता हूं। यदि मुझसे पूछा जाये कि सेवा करते-करते मरना पसन्द करोगे या खटिया पर रोगी होकर पड़े-पड़े, तो मैं यही कहूंगा कि जैसी प्रभु की इच्छा हो, उसी तरह से। मैं कैसे मरूं, इसका विचार करना यह मेरा नहीं, मेरे करतार का काम है। और मेरे लिए इस सम्बन्ध में कुछ भी कामना करना अभिमान है।" यह बात मुझे कुछ अद्भुत जान पड़ी। श्रद्धालु लोगों को भक्ति-भाव से गाते सुना है:

"इतना तो करना भगवन् जब प्राण तन से निकलें;
श्रीराम-नाम कहते यह प्राण तन से निकलें।
श्रीगंगाजी का तट हो, यमुना का वंशी-वट हो,
मेरा सांवला निकट हो, तब प्राण तन से निकलें।"

गांधीजी का ऊपर का कथन सुनने के वाद तो मालूम होता है कि यह पद्य भी अभिमान से शून्य नहीं है।

प्रस्तुत विषय इतना ही है कि गांधीजी ने कैसे अपनी हृदय-कन्दरा के कोनों को ढूंढ़-ढूंढ़कर अभिमान-शून्य वना रखा है, इसका साक्षी उनके ऊपर के वचन हैं।

२ मार्च, १९३३

३. हिन्दुओं को नैतिक चुनौती

डॉक्टर अम्वेडकर ने जब से हिन्दू-धर्म त्यागने का अपना निश्चय प्रकट किया है तब से चारों तरफ एक तहलका-सा मच गया है। हिंदू-जाति पर आज सदियों से आफत आ रही है और कब इसका अन्त होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। पर हिन्दू जनसमाज में जैसी सामुदायिक जागृति आज दिखाई देती है, वैसी शायद सैकड़ों वर्षों में भी न देखने में आयी होगी। इसीलिए इस चोट से सार्वजनिक खलबलाहट-सी दिखाई देती है और हिन्दू नेता जी-जान से इस फिक्र में हैं कि अंवेडकर हिन्दू नाम को न छोड़ें। किसी एक आर्यसमाजी सज्जन ने तो यहां तक कह डाला है कि यदि अंवेडकर के कोई सुपुत्र हो तो वह अपनी लड़की उसे ब्याह देने को तैयार हैं। अन्य सज्जन हिन्दू-धर्म की महत्ता दिखाते हुए अंवेडकर से धर्म-त्याग न करने की प्रार्थना करते हैं। सुना है, पूज्य मालवीयजी अम्वेडकर को समझाने जाने वाले हैं; पर इसका कोई फल होगा, ऐसी उम्मीद करना वेकार है।

ईसाई, मुसलमान आदि भी अम्वेडकर का दरवाजा जोरों से खटखटा रहे हैं और उन्हें अपने-अपने धर्म की महत्ता दिखा रहे हैं। क्या हिन्दू, क्या ईसाई और क्या मुसलमान, सभी यह समझ वैठे हैं कि जहां एक अम्वेडकर ने धर्म छोड़ा, लाखों हरिजन हिन्दू-धर्म को तिलाञ्जलि दे देंगे, और हिन्दुओं को जिस बात का भय है, वही बात ईसाई और मुसलमानों के लिए आशा की किरण है। इसलिए हिन्दू एक तरफ और अन्य धर्मी दूसरी तरफ ! इनके बीच काफी खींचातानी है।

दोनों पक्ष वाले ख्वाहमख्वाह धर्म की महत्ता दिखाते हैं। धर्म तो :

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

यह है, और यह कहना चाहिए कि जिसमें ये दस लक्षण पाये जायें, वही भागवत, आर्य या हिन्दू है। इसी तरह मुसल्लम-बा-ईमान (पूर्ण धार्मिक) ही मुसलमान कहलाना चाहिए। पर आज तो ये सब बातें पोथी-पत्रों तक ही सीमित हैं। न तो इन दस लक्षणों की कसौटी पर कसे जाने के कारण ही कोई हिन्दू कहला सकता है और न मुसलमान कहलाने के लिए मुसल्लम-बा-ईमान होने की जरूरत है। हिन्दू, मुसलमान आदि शब्दों की परिभाषा तो अब समाज-विशेष तक ही परिमित है। अंबेडकर को भी कोई आध्यात्मिक उधेड़-बुन नहीं है, जो अन्वेषण करने में लगे हों कि इन दस लक्षणों वाला धर्म श्रेष्ठ है या इस्लाम। उन्हें तो 'हिन्दू' नाम अखरता है और वह उसे छोड़ने की फिक्र में हैं। हमें भी इसी बात की फिक्र है कि वह बराय नाम ही सही, हिन्दू बने रहें, चाहे उसमें सत्य धर्म रहे, चाहे चला जाये। संख्या बनी रहे, यही चिन्ता है, और यह तृष्णा यदि स्वच्छ हो तो कोई अनुचित भी नहीं है। 'घण जीतेरे राजिया।' 'कलौ संघशक्तिः।' पर क्या इस कूद-फांद या बेतुकी बौखलाहट से हमारी संख्या बढ़ सकती है, अथवा जितनी है उतनी भी कायम रह सकती है?

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि अम्बेडकर की इस चुनौती से जहां काफी उत्तेजना है, वहां शान्त और सुस्पष्ट सूझ-समझ का दिवाला-सा दिखाई पड़ता है। एक रोगी की जान बचाने के लिए पचासों उपचारक भिन्न-भिन्न दवाइयां लेकर उसे पिलाने का हठ करें तो रोगी के रहे-सहे दिनों का भी खातमा ही समझना चाहिए। एक बहुत बड़े बांध में, जो चलनी की तरह छिद्रों वाला हो गया हो और जिसमें से फुहारे बड़े जोर से फूट रहे हों, निकलते हुए पानी को लोटों-लोटों भर-भरकर रोकने का प्रयास करना हास्यास्पद ही होगा। इस सम्बन्ध की हमारी कार्रवाई भी कुछ वैसी ही है। अम्बेडकर को भीतर रखने की जितनी चिन्ता हो रही है, उसका शतांश भी हिन्दू-शरीर को स्वस्थ करने की नहीं। बेमरम्मत हिन्दू-समाज-रूपी घर चाहे अम्बेडकर को रख ले, तो भी वह और लाखों अंबेडकर खो बैठेगा। हमारी संख्या का आधार हिन्दू-जमात के सुधार पर ही अवलम्बित है।

आश्चर्य तो यह है कि ऐसे विकट समय में भी हम वस्तु-स्थिति को देखने से इन्कार कर रहे हैं। आजतक हजारों विधवाएं, अनाथ और हरिजन विधर्मी बन गये हैं और बनते जा रहे हैं। मैं एक भी ऐसे नव-विधर्मी को नहीं जानता, जिसने कुरान या बाइबिल पर आंशिक होकर चुटिया कटायी हो। किसी ऐसे समाज-परित्यक्त से पूछिए, वह बतायेगा कि हिन्दू-समाज को उसने नहीं, किन्तु समाज ने

उसे त्याग दिया है। फिर अम्बेडकर के इस निश्चय पर इतनी घबराहट क्यों? और यदि रोग से मुक्त ही होना अभीष्ट है तो हम यह क्यों नहीं देखते कि अम्बेडकर भी उसी पुरानी लकीर पर जा रहे हैं, जिस पर से करोड़ों हिन्दू त्रस्त होकर हिन्दू-समाज को तिलाञ्जलि देते हुए गुजर गये हैं। जब कोई लड़की मुसलमान द्वारा भगायी जाती है तब हमें मुसलमानों पर रोष आता है; पर क्यों नहीं हम अपनी नालायकी पर रोष करते, जो उस लड़की के भगाए जाने की जिम्मेदार थी?

कुछ वर्षों की बात है। एक मारवाड़ी लड़की को एक मुसलमान भगाकर ले गया। समाज को काफी रोष हुआ। खिलाफत का जमाना था, इसलिए यह मसला मुसलमान नेताओं तक पहुंचाया गया। उन्होंने शरमा-शरमी में आकर कुछ मदद भी की; पर लड़की के जब वापस आने की आशा बंधी तब सबके चेहरों पर स्याही दौड़ गयी। सवाल यह हुआ कि उस लड़की को उसके घर वाले रख सकते हैं या नहीं? पंचों ने व्यवस्था दी कि वह घर में नहीं आ सकती। नौजवानों ने रोष दिखलाया, पर उनकी एक न चली। आखिर वह लड़की नहीं आयी, वहीं अपघात करके मर गयी। हिन्दू-समाज ने यह साबित कर दिया कि लड़की ने हमको नहीं, किन्तु हमने लड़की को छोड़ा। यह पन्द्रह वर्ष की बात हुई। आज भी किसी विधवाश्रम में जाकर वहां रहने वाली किसी विधवा का इजहार लीजिए। कुछ ऐसी ही कथा सुनने को मिलेगी।

पर अब कुछ तुरत-ताजा बानगी भी देखिए। वर्धा के पास एक छोटा-सा सिंदी ग्राम है। वहां मीराबहन (मिस स्लेड) ने ग्रामोत्थान का कार्य प्रारंभ किया। वहां एक छोटी-सी झोंपड़ी बनाकर रहने लगीं। जब पहले-पहल वहां पहुंचीं तब कौतूहलवश लोग इकट्ठे हो गये और उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे। पानी की जरूरत पड़ी, तब एक नौजवान पानी ले आया और घड़े में पानी डालकर चला गया। पर यह कौतूहल कबतक ठहरता? आखिर दूसरे दिन मीराबहन को पानी की जरूरत पड़ी तब घड़ा लेकर कुएं पर पहुंचीं। जिन चेहरों पर पहले मैत्री का प्रकाश था, वही आंखें दिखाने लगे और बोले, "आप यहां पानी नहीं निकाल सकतीं, पानी चाहिए तो अपना अलग कुआं बनवा लो"। एक बनिये के कुएं पर गयीं, महारों (हरिजनों की एक उपजाति) के कुएं पर गयीं, मांगों (हरिजनों की एक दूसरी उपजाति) के कुएं पर गयीं, पर मीराबहन के घड़े को कुएं में डलवाकर कुआं कौन अपवित्र कराये! गांव वाले मीराबहन की प्रार्थना में आते हैं, अपना दुःख-दर्द सुना जाते हैं, पर अपने कुएं में मीराबहन का घड़ा नहीं जाने देते। मीराबहन दवा देती हैं, तब सब लोग ले जाते हैं; ब्राह्मण लोग भी ले जाते हैं, पर दवा बिना स्पर्श किये ऊपर से डालनी पड़ती है, नहीं तो ब्राह्मण अपवित्र हो जाये! मीराबहन कितना ही उपकार क्यों न करें, पर पानी नहीं

मिलने का। अम्बेडकर के जाने से हमारा समाज नहीं डूबेगा, पर यह सुलूक है, जो हमारे समाज को डुबो देगा।

४. हिन्दी-प्रचार कैसे हो ?[1]

सम्मेलन के प्रतिनिधियों का इस प्रकार स्वागत करने का सद्भाग्य मुझे अपने जीवन में आज दूसरी बार प्राप्त हुआ है। पहला अवसर मुझे कलकत्ते में आज से प्रायः १४ वर्ष पहले मिला था। इन १४ वर्षों में हिन्दी ने कितनी उन्नति की है, यह कहना तो कठिन है; किन्तु इतना तो समझ में आ सकता है कि उन्नति यथेष्ट नहीं हुई। वैसे तो हिन्दी का क्षेत्र बहुत व्यापक है, दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पूर्व में असम तक भी लोग हिन्दी में बोलचाल कर सकते हैं, किन्तु क्षेत्र की व्यापकता को देखते तो यह कहना होगा कि काम शिथिलता से हुआ है। धन का अभाव है या कार्यकर्त्ताओं का—यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है; किन्तु एक बात स्पष्ट है और वह यह कि हिन्दी को सुगम बनाने के लिए अबतक कोई सन्तोषजनक प्रयत्न नहीं हुआ।

पं० जवाहरलालजी का यह कहना उपयुक्त-सा है कि हिन्दी एक दरबारे खास की चीज बनती जा रही है। जो चीज दरबारे खास की होगी, उस पर दरबारे आमवालों को दखल पाना मुश्किल होगा। मैं तो समझता हूं कि हिन्दी को व्यापक बनाने के लिए हमें भाषा को इतना सरल बनाना होगा कि हर हिन्दुस्तानी उसे अपनी मातृभाषा अर्थात् सचमुच अपनी मां की भाषा समझ सके। क्या यह बात सही नहीं है कि जिसको आज हम हिन्दी कहते हैं, वह अधिकतर अखबारों, पोथियों और पढ़े-लिखे आदमियों तक ही परिमित है ? मैंने तो यह भी देखा है कि हिन्दी के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपने घरों में अपनी प्रान्तीय भाषा में ही बातचीत करते हैं। महामना पूज्य पंडित मालवीयजी भी अपने घर में अपनी घराऊ बोली ही बोलते हैं। एक बात तो साफ है कि एक ही घर में दो जबान नहीं चल सकतीं। यदि यह सम्भव नहीं कि घराऊ बोली मर जाये तो यह क्यों न किया जाये कि हिन्दी भाषा को ही वह रूप दे दिया जाये, और यह तो तभी हो सकता है, जब कि आज की हिन्दी में हम प्रान्तीय शब्दों को मिलाकर उसे एक हृष्ट-पुष्ट और जानी-पहचानी भाषा बना लें। आप लोगों को पता होगा कि

१. तेईसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से दिया गया भाषण।

गांधीजी ने गुजराती में 'गंवई' शब्दों को मिलाकर गुजराती साहित्य की काफी सेवा की है। ठीक उसके विपरीत जान पड़ता है कि हिन्दी में गंवई या प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग करना दोष समझा जाता है। मेरी समझ में यदि हम इस दोष को गुण समझ लें तो हिन्दी का विशेष लाभ हो सकता है।

इस समय हिन्दी को ऐसा रूप देने की आवश्यकता है, जिससे वह 'हिन्दुस्तानी'—अर्थात् देशमात्र के लोगों की भाषा—वन सके और विभिन्न प्रान्तों के हिन्दू और मुसलमान उसे बोल-चाल या लिखने-पढ़ने के काम में ला सकें। हर प्रकार की कृत्रिमता से हमें अपनी भाषा को बचाना चाहिए—चाहे उस कृत्रिमता का आधार पंडितों की संस्कृत हो, चाहे मौलवियों की अरबी या फारसी। भाषा आखिर एक साधन है, जिसका उपयोग कर हम किसी कार्य-विशेष की सिद्धि करना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में हमें वरावर यह देखते रहना चाहिए कि हमारा साधन या औजार कहां तक हमारे काम के लायक है और अगर हमारी जरूरत वदल गयी है तो हमें उसमें कौन-सा हेर-फेर करना चाहिए। हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा का काम दे सकती है, इसमें सन्देह नहीं; पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसका रूप आगे के लिए भी वही बना रहे, जो आज से सौ वर्ष पहले था या जिस रूप में उसने दिल्ली या आगरे के पास उससे भी वहुत पहले जन्म लिया था। अगर हमें हिन्दी का भंडार भरना है और इस प्रकार इसे सव भाषाओं की चोटी पर पहुंचाना है तो हमें प्रान्तीय भाषाओं से वहुत-कुछ लेना होगा। राष्ट्र-भाषा वनाने वाली चीज राष्ट्र-मात्र की सम्पत्ति होगी और उसकी परिपुष्टि के लिए यह आवश्यक होगा कि वह राष्ट्र के प्रत्येक अंग से कुछ ग्रहण करने को तैयार रहे। हिन्दी का हित इसी में है कि उसे इस वात की स्वतन्त्रता दे दी जाये कि वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई गुजराती, मराठी, मारवाड़ी, वंगला, तमिल, तेलुगु आदि सबसे व्यावहारिक और उपयुक्त शब्दों का आदान-प्रदान कर सके, अर्थात् एक तो यह आवश्यक है कि हिन्दी को कृत्रिमता यानी जटिलता की वेड़ी से मुक्त कर देशमात्र की जनता के व्यवहार की भाषा वना दिया जाये; दूसरे यह कि विभिन्न प्रान्तों से यह न कहा जाये कि 'यह हमारी हिन्दी है। तुम इसे इसी रूप में ग्रहण कर सकते हो'; बल्कि यह कि 'हिन्दी तुम्हारे लिए भी वड़े काम की चीज होगी। इसे लो और इसमें कुछ अपनी ओर से मिलाकर अपना काम निकालो।' ऐसी रीति-नीति से ही हम इस देश में हिन्दी का अधिक-से-अधिक प्रचार कर सकेंगे।

इस सिलसिले में मैं दक्षिण भारत में होने वाले हिन्दी प्रचार-कार्य के सम्वन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक समझता हूं। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यह कार्य अपना खास महत्त्व रखता है। आज से १५-१६ वर्ष पहले पूज्य महात्मा गांधी के हाथों इसका श्रीगणेश हुआ था और उनके आशीर्वाद से इस क्षेत्र के

कार्यकर्त्ताओं को, जिनमें श्री एम० सत्यनारायण का नाम विशेष उल्लेखनीय है, "वहां आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। इसी के फलस्वरूप हम आज इस अधिवेशन में, उस प्रान्त के प्रतिनिधियों को भी समुपस्थित पाते हैं। पर दक्षिण भारत में जो कार्य हुआ है, उसका महत्त्व कुछ-कुछ उन आंकड़ों से जाना जा सकता है जो हमें वहां की प्रचार-सभा द्वारा प्राप्त हुए हैं। अभी तक प्रायः ६,००,००० लोग हिन्दी से परिचित हो चुके हैं। इस समय भी वहां ४०,००० विद्यार्थी हिन्दी का अध्ययन कर रहे हैं। करीव ६०० प्रचारकों द्वारा १२०० केन्द्रों में प्रचार का काम कराया गया है। सभा ने ६५ विभिन्न पुस्तकों की ७,००,००० प्रतियां अपने प्रेस में छपायी हैं और वह 'हिन्दी-प्रचारक' नामक एक मासिक पत्र भी चलाती है। महात्माजी को पिछली बार दक्षिण भारत में जो मान-पत्र दिये गये, उनमें लगभग ६० फीसदी हिन्दी में थे। हिन्दी के प्रति उस प्रान्त की देवियों का उत्साह विशेष प्रशंसनीय बताया जाता है और उन्हें आज अपने बीच उपस्थित देखकर हम भी समझ सकते हैं कि उनके उत्साह की जो प्रशंसा सुनने में आयी है उसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। दक्षिण भारत से आने वाले इस हिन्दी-प्रेमी दल का हम लोग हार्दिक अभिनन्दन करते हैं और उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि उन्होंने उत्तर भारत की भाषा पर ही नहीं, उसके हृदय पर भी अधिकार जमा लिया है। ईश्वर करे, महात्माजी का रोपा हुआ यह वृक्ष सदा हरा-भरा रहे और उत्तर तथा दक्षिण के सम्मेलन में अधिकाधिक सहायक हो।

यह सौभाग्य की बात है कि इस साल हमें सभापति के पद के लिए श्रीमान् बड़ौदा-नरेश मिल गये हैं। बड़ौदा-नरेश की सेवाओं को कौन नहीं जानता? प्रायः सभी क्षेत्रों में देश को आपकी सेवाओं का सौभाग्य मिला है। आपके मनसूबे कितने ऊंचे हैं, लगन कैसी दृढ़ है, परिश्रम करने की शक्ति कितनी प्रबल है, अपने राज्य में कितने सामाजिक और राजनैतिक सुधार किये हैं—यह उनसे परिचय रखने वाले सभी व्यक्ति जानते हैं। उनका हिन्दी का प्रेम तो बहुत पुराना है। अभी हाल में आपने अपनी कचहरियों में नागरी-लिपि प्रचलित करने की आज्ञा जारी की है। राज्य के हर अफसर के लिए हिन्दी सीखना अनिवार्य है। ऐसे हिन्दी-हितैषी की हमें संरक्षता मिली, यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। ईश्वर करे, अन्य राजा-महाराजा भी ऐसे ही उन्नत विचार वाले हों।

१९३८

५. मंदिर-प्रवेश बिल

गांधीजी हैं तो वन्दी; किन्तु हैं अद्‌भुत वन्दी। जेल की चहारदीवारी के भीतर हैं; किन्तु ऐसा मालूम होता है, मानो सबके बीच में हैं। जो लोग उनसे मिलने जाते हैं, वे तो इस बात को महसूस ही नहीं करते कि गांधीजी कैद में हैं। किन्तु जो लोग उनसे नहीं मिलते हैं, वे भी भूल-से गये हैं कि गांधीजी जेल में हैं। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है, मानो आश्रम में बैठे गांधीजी 'हरिजन' का सम्पादन कर रहे हैं। शायद दुनिया के इतिहास में यह एक ही घटना है कि एक महापुरुष वन्दी भी हो और स्वतन्त्र भी। गांधीजी को अछूतों के सम्बन्ध में सब तरह का प्रचार-कार्य करने की इजाजत है; किन्तु अन्य बातों के लिए कोई इजाजत नहीं। तो भी वह क्या कहते हैं और क्या सुनते हैं, इसके प्रबन्ध के लिए कोई पहरा भी नहीं है। कैदी भी हैं स्वयं गांधीजी और प्रहरी भी हैं स्वयं वही। पक्षी और प्रतिपक्षी दोनों का विश्वास कैसे सम्पादन किया जा सकता है, उसकी गांधीजी एक बेनजीर मिसाल हैं।

'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'

इस सूत्र को यदि किसी को चरितार्थ देखना हो तो वह गांधीजी को खुर्दबीन से देखे।

हरिजनों के हितार्थ महात्माजी ने २० सितम्बर को उपवास प्रारम्भ किया, २४ सितम्बर को हरिजनों और उच्च वर्ग के हिन्दुओं के बीच करारनामा बना और २६ सितम्बर को इस करारनामे की घोषणा सरकार की ओर से की गयी। महात्माजी जब उपवास-शय्या पर लेटे हुए थे, तब पास में जाने वालों की तो बात ही क्या, दूर वालों के भी चेहरे उतरे हुए थे। ऐसी हालत में यह छह दिन क्या निकले, मानो छह साल निकले। यह स्वाभाविक है कि दुःखका एक पल भी कल्प-जैसा बीतता है। किन्तु चिंताग्रसित लोगों को ये छह दिन छह साल-जैसे लगे, वैसे ही इन छह दिनों ने काम भी छह साल का ही किया।

जिस दिन से उपवास की घोषणा हुई, उसी दिन से हरिजनों के उत्थान की गाड़ी तेजी से दौड़ने लगी। जगह-जगह मन्दिर खुलने लगे। कुएं खुले। गुरुवायूर के सनातनियों ने तो कमाल कर दिखाया। बहुमत ने हरिजनों को मन्दिर-प्रवेश की इजाजत दे दी। गायकवाड़ और काश्मीर-नरेशों ने अपने यहां मन्दिर खोलने की आज्ञा दे डाली। प्रयाग में सनातन धर्म-सभा ने भी इसी प्रकारके प्रस्ताव पास किये। इन पांच महीनों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है, तथापि यह सही है कि अभी काफी मंजिल पड़ी है। पर जो कुछ हुआ है, वह भी एक चमत्कार ही समझना चाहिए।

सनातनी भाइयों का विरोध बढ़ रहा है। किन्तु वह एक प्रकार से अच्छा है। जो सुधार बिना विरोध के होते हैं, उनकी बुनियाद पक्की नहीं हो सकती। बीज का अंकुरित होने से पहले फटना आवश्यक है। तभी तो एक बीज के सहस्रों बीज बन जाते हैं। आज जो हिन्दू-जाति की दशा है, उसकी अंकुरित होने वाले बीज से तुलना की जा सकती है। हिन्दू-जाति के हृदय का इस समय मन्थन हो रहा है। इसका परिणाम तो शुभ ही होगा।

मन्दिर-प्रवेश बिल के सम्बन्ध में गहरी नासमझी छायी है। इसके कारण कुछ लोगों में सच्ची व्याकुलता है। "धर्म के मामले में सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए," यह चिल्लाहट जोरों से हो रही है। मैं तो इस बात को नहीं मानता कि धर्म के मामले में सरकार का हस्तक्षेप हो ही नहीं। हिन्दू-लॉ क्या है और किसके सहारे टिकता है? यदि सरकार का दखल न हो तो हिन्दू-लॉ का शासन कैसे सम्भव है? राजा धर्म का रक्षक है, यह तो हिन्दुओं का प्राचीन सूत्र है। यदि हमारी निज की सरकार हो तो यह सूत्र सर्वमान्य होगा। परन्तु विदेशी सरकार का दखल भी अनिवार्य तो है ही। सती-निषेध कानून, विधवा-विवाह कानून और बाल-विवाह-निषेध कानून, ये चाहे अच्छे हों या बुरे, इनमें सरकार का सहयोग तो था ही, और होना भी चाहिए। किन्तु जो सनातनी इन कानूनों को बुरा बतलाते हैं, वे भी जानते हैं कि यदि सरकार का धार्मिक मामलों में दखल न होता तो हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश आज अत्यन्त सुलभ हो जाता।

आखिर हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश को रोकता कौन है? हिन्दू-जाति का बहुमत तो कदापि नहीं रोकता। रोकता है प्रचलित कानून। कानून का हुक्म यह है कि अछूत मन्दिरों में न जा सके। अगर वह जाता है तो कानून की हुक्म-उदूली करता है और सजा का भागी होता है। ऐसे बेहूदे कानून को मिटाने के लिए यदि कोई नया कानून बने तो उन लोगों को तो विरोध करने का कोई अधिकार ही नहीं है, जो धार्मिक मामलों में सरकार की दस्तन्दाजी नहीं चाहते। बात तो यह है कि यह कानून, कम-से-कम, हरिजनों के मामले में सरकार की दस्तन्दाजी रोकने के लिए ही बनाया जा रहा है और इसीलिए सबके समर्थन करने योग्य है।

२३ फरवरी, १९३३

६. परदा

कवि अकबर ने जब अपनी जाति से परदे की प्रथा को उठते देखा, तो उनके मुख से सहसा निकल गया :

बेपरदा नजर आयीं कल जो चन्द बीबियां।
अकबर ज़मीं में ग़ैरते कौमी से गड़ गया॥
पूछा जो उनसे आपका परदा वह क्या हुआ?
कहने लगीं कि अक्ल पै मर्दों की पड़ गया॥

महाकवि अकबर अहले-इस्लाम के और अपने दीन के पावन्द थे। सुना है कुरान शरीफ में परदे की जोरों से आज्ञा है और इसलिए अपनी जाति को कुरान के फरमान के खिलाफ जाते देख अगर वह 'ग़ैरते कौमी' से 'जमीं' में क्या, पाताल में गड़ जाते, तो कोई अचम्भे की बात न कही जाती, किन्तु हिन्दू जाति न तो कुरान शरीफ की ही कायल है और न उसके यहां 'बेपर्दगी' हराम है। फिर भी जब परदे का अन्त होते देख कुछ भाई, जो बुरी-से-बुरी रूढ़ि को भी सनातन-धर्म मान बैठे हैं और जिनका प्राचीनत्व अब से १०० या २०० वर्षों तक ही सीमित है, परेशान होते हैं और परदे के लोप में सनातन-धर्म का ही ह्रास देखते हैं तो अवश्य आश्चर्य होता है। असल बात तो यह है कि हममें इतनी पराधीनता आ गई है कि काल के चक्र के साथ जो-जो बुराइयां हममें आ गयीं हैं उनको सद्गुण और उनकी रक्षा करने को हम सनातन-धर्म मानने लगे हैं। बड़ी बालिकाओं के विवाह का विचार भी करो तो 'धर्म गया !' विधवा-विवाह का तो नाम भी सुनना नहीं चाहते। अछूत चाहे विधर्मी होकर हम पर शासन करें, जबतक वे चुटिया रखते हैं, हम उन्हें पास नहीं फटकने देते। हिन्दू जाति का ह्रास चुपचाप सहन करते रहेंगे। पराधीनता के बोझ को फूल-सा मानकर सिर पर लादे रखेंगे। विधवाओं की दुर्दशा को सुनकर कलेजा कड़ा कर लेंगे। 'संगठन' के सुर में भी सुर मिला देंगे; किन्तु जहां कोई क्रियात्मक संगठन की बात उठी कि बस 'धर्म डूबा' कहकर झट विरोध करेंगे। यह हमारी गति-विधि है !

जो धर्म स्वयं तो क्या डूबे, डूबते हुए को भी उबार सकता है, उसकी हम अपने दुर्गुणों से रक्षा करने का दावा करें—इससे अधिक बालकपन और क्या हो सकता है ? जहां रूढ़ियों तक ही धर्म परिमित होता हो, वहां परदे को हटाने के उद्योग में भी 'धर्म डूबा' का भूत हमें डरा सकता है। 'पुरानी सभी बातें बुरी और नयी सभी अच्छी' अथवा "पुरानी सभी बातें अच्छी और नयी सभी बुरी' इन दोनों में से एक भी सूत्र समझदार व्यक्ति पर असर नहीं कर सकता। फिर

भी यह खोज करना अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन समय में परदे का क्या स्थान था।

यदि परदे का 'घूंघट' या 'बुर्का' ठीक अर्थ है, तो पुराणों के देखने से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रथा उस समय जारी नहीं थी। प्राचीन गुफाओं की चित्रकारी को देखने से भी यही निर्णय होता है। परदे का पर्यायवाची शब्द ही संस्कृत में नहीं मिलता। इससे यह अनुभव सहज में ही हो सकता है कि परदा आर्य प्रथा नहीं है। हमारी देवियों ने किसी-किसी प्रान्त में जब साड़ी को तिलाञ्जलि दे, घाघरे (लहंगे) को अपनाया, शायद उसी समय परदे को भी धारण किया होगा। मुसलमानों के राज्य-काल में हमने बहुत-से मुसलमानी रिवाजों को अपनी रूढ़ियों में शामिल किया। हुक्का पीना, आसन-सिंहासन के बदले गद्दे-मसनदों के सहारे बैठना, सिर पर मुकुट के बदले बड़े साफों का बांधना, स्त्रियों में कर्णछेद, सूथन, कुर्त्ते व अनेक नये प्रकार के आभूषणों का प्रचार, नयी तरह के केश-विन्यास, कब्रों की पूजा करना इत्यादि-इत्यादि अनेक क्रिया-प्रक्रियाओं को समय के अनुकूल फैशनेबिल बनाने के लिए, हमने अपनाया। आज मुसलमानी राज्य नहीं है, परन्तु मुसलमानी संस्कृति के अनेक भग्नावशेष आज भी हममें अनेक रूढ़ियों के रूप में मौजूद हैं और तुर्रा यह है कि उन्हें छोड़ने में भी हम 'सनातन-धर्म' का ह्रास देखते हैं। बस, परदे का भी यही हाल है।

वास्तव में तो चाहे वस्तु प्राचीन हो चाहे अर्वाचीन, जबतक हमें उसके लाभ का पूरा प्रमाण न मिले और उसकी बुराई प्रत्यक्ष हो, तबतक उसे बनाये रखना बुद्धिमानी नहीं। आखिर परदे के पक्ष में ऐसी कौन-सी बात है, जो हमें उसकी ओर आकर्षित कर सके? परदे के पक्षपाती कहते हैं कि परदा उठा देने से स्त्रियों का शील कम हो जायेगा और अनाचार की वृद्धि होगी। उनके इस मत के पक्ष में क्या प्रमाण है? यदि हम इस दलील को स्वीकार कर लें, तो फिर उसका तार्किक निष्कर्ष तो यही निकलेगा कि प्राचीन समय में जब परदा नहीं था तब आज की अपेक्षा स्त्रियों का शील गिरा हुआ था। इसी दलील के आधार पर यह भी मानना होगा कि मुसलमान स्त्रियों का शील हिन्दू स्त्रियों के शील से बढ़ा-चढ़ा है, क्योंकि मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा परदे की कड़ाई है। परन्तु क्या ये बातें स्वीकार करने योग्य हैं? वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन स्त्रियों का शील वर्त्तमान समय से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था और हिन्दू स्त्रियों का शील मुसलमान स्त्रियों की अपेक्षा अच्छा नहीं तो बुरा अवश्य नहीं है। इसके अलावा गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास आदि प्रान्तों की स्त्रियों का शील—जहां परदे का नाम-निशान भी नहीं है—अन्य परदे वाले प्रान्तों से किसी भी प्रकार नीचा नहीं है। हमारे देश के गरीबों में तो परदे का रिवाज बहुत कम है, फिर भी धनिकों

में गरीबों की अपेक्षा अधिक अनाचार है। शहरों में ग्रामों की अपेक्षा परदे की बहुतायत होने पर भी ग्रामों की अपेक्षा शहरों में चरित्र-दोष अधिक है। ऐसी हालत में यह कैसे माना जा सकता है कि परदे की प्रथा उठने से स्त्रियों के शील को ठेस पहुंचने का भय है ? थोड़े दिन पहले मैंने यह प्रश्न एक विदुषी देवी के सामने, जो बम्बई के एक प्रख्यात वनिता-गृह का संचालन कर रही हैं, रखा था। यह देवी नारी मनोवृत्ति से पर्याप्त अभिज्ञता रखती थीं। उनको मेरी उलझन पर बेहद दया आयी। परदे से भी शील का कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह बात उनकी समझ के बाहर थी।

स्वास्थ्य की दृष्टि से तो परदा एक जंगली प्रथा है। हिंदू-संगठन की दृष्टि से परदा घातक है। यह तो किसी से छिपा नहीं है कि युवावस्था में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक मरती हैं। मुसलमान स्त्रियों को हिंदू स्त्रियों की अपेक्षा संक्रामक रोग अधिक सताते हैं। कारण स्पष्ट है, जहां शुद्ध वायु और व्यायाम का अभाव हो, वहां स्वास्थ्य निभाना कठिन है। यदि हिंदू-संगठन के कार्यक्रम में शारीरिक संगठन को भी कोई स्थान है तो अवश्य ही हम स्त्रियों के शारीरिक संगठन की उपेक्षा नहीं कर सकते। बंगला गाय से उत्पन्न हुआ बैल मारवाड़ी सांड के मुकाबले में अच्छा हो, इस आशा को बलवती बनाने के लिए हमें बंगला गाय की नसल को बलिष्ठ बनाने का उद्योग करना होगा। जो लोग स्त्रियों की उन्नति के बिना ही हिंदू-संगठन का सुख-स्वप्न देख रहे हों, वे धोखे में हैं। आज संसार का कोई स्वतंत्र या अर्द्धस्वतंत्र राष्ट्र ऐसा नहीं कि जहां स्त्रियों की दशा भारतवर्ष जैसी शोचनीय हो। यदि हिंदू जाति को जीवित रखना है, बलिष्ठ बनाना है, स्वराज्य लेना है तो अवश्य ही हम स्त्रियों को अपना उपयोगी मित्र बनायें।

आदर्श गृहिणी कैसी हो इस संबंध में कहा है :

"कार्येशु मंत्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा।
मनोनुकूला क्षमया धरित्री गुणैश्च भार्या कुलयुद्धरन्ती॥"

हमारी देवियों में चाहे और अनेक गुण आज भी विद्यमान हों, निश्चय ही वे 'कार्येषु मन्त्री' की उपमा के योग्य नहीं हैं, और इसका सारा दायित्व पुरुषों पर ही है, जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए स्त्रियों का कर्तव्य केवल 'करणेपु दासी' और 'शयनेषु रम्भा' तक ही परिमित कर दिया है। परदे के कट्टर भक्त मिस्र और तुर्की में स्त्रियों को उन्नत बनाने की चाह, और हिंदुओं का लकीर के फकीर होना, यह हिंदू-संस्कृति पर एक बड़ा धब्बा है, जिसे धो डालना प्रत्येक विचारशील मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है।

परंतु जैसे और सुधारों के संबंध में वैसे ही स्त्रियों के सुधार में भी हमें विवेक की आवश्यकता है। सुधार का यह अर्थ नहीं है कि हम हर बात में

पाश्चात्य प्रणाली को अपना ध्येय मान बैठें। जो कर्म, जो विचार, जो आचार, जो प्रणाली त्याग और संयम की भावना पर आश्रित हों, वे सभी अच्छे और जो स्वार्थ एवं विषयों की बुनियाद पर अवस्थित हों, वे सभी बुरे। स्त्रियों के सुधार का यह अर्थ नहीं कि हम उन्हें घूंघट से निकालकर 'हैट' के नीचे रख दें। परदा यदि विषयों एवं स्वार्थ की बुनियाद पर है, तो भारतीय स्त्रियों को पाश्चात्य सभ्यता में रंग देना भी संयम से कोसों दूर होगा। जहां त्याग और संयम की भावना न हो, वहां चाहे पूर्वी प्रणाली रखें चाहे पश्चिमी, फल दोनों का बुरा है। विलायती अफीम का टिंचर खा लो, चाहे देशी अफीम की वट्टी निगल जाओ—दोनों का परिणाम मृत्यु होगा। हमें तो विष छोड़ अमृत पीना है। हमें पेरिस की मेमों की जरूरत नहीं, सीता-सावित्री की जरूरत है और सीता-सावित्री बनाने के लिए हमें राम-सत्यवान बनना होगा, संयमी और त्यागी बनना पड़ेगा।

स्त्री-सुधार का प्रसंग छिड़ने पर एक मित्र ने मुझसे पूछा था कि हमारी स्त्रियां भी एड़ीवाले जूते और अंग्रेजी कोट पहनें तो कौन सी बुराई है? अवश्य ही इसमें कोई बुराई न होगी, यदि हमारा ध्येय भोगों तक ही परिमित हो। किन्तु यदि हमारी शिक्षित देवियों को यह अभीष्ट हो कि वे भारतवर्ष के स्त्री-समाज को अपना कार्य-क्षेत्र बनायें, तो उन्हें अपनी वेश भूषा और आचार-व्यवहार इतना सादा एवं कम-खर्चीला रखना होगा कि जिसमें वे साधारण स्त्री-समाज में सुगमता से प्रवेश पा सकें। देश में इस समय कोट-हैटधारी 'जेंटिलमैनों' एवं शू-पाउडर-लिपस्टिक का प्रयोग करने वाली 'मैडमों' और साधारण जन-समाज के बीच एक बड़ा-सा अंतर पड़ गया है। और तो और, शिक्षितों एवं अशिक्षितों के बीच भी खासा अंतर बढ़ता जाता है। यह स्थिति वांछनीय नहीं है। जिन्हें सेवा करनी है, उन्हें दूध में शक्कर की तरह जनता में मिल जाना होगा, और हमारे जेन्टिलमैनी और मैडमी लिवास दूध में शक्कर का नहीं, कांजी का काम देंगे। देश में करोड़ों लोग अन्न और वस्त्र के लिए तड़पते हों, ऐसी हालत में हमारा साहबी ठाठ-बाट गरीबों की आह का उपहास-मात्र होगा।

किन्तु यह विषयांतर हो गया। परदा सुधार का एक अंग है, इसलिए सुधार की थोड़ी विवेचना कर देना आवश्यक जान पड़ा। प्रस्तुत विषय तो परदे का है और उसमें भी 'कथनी' की अपेक्षा 'करनी' की अधिक आवश्यकता है। शायद बहुत-से भाई-बहनों की दृष्टि से यह लेख गुजरे; किन्तु वर्त्तमान दशा में कार्य का भार बहनों की अपेक्षा भाइयों पर अधिक है। यदि परदे की जीवन-यात्रा को हम शीघ्र समाप्त न कर सके, तो इसका दोष पुरुषों पर ही अधिक होगा। भारतीय देवियों में चाहे जितने ऐब आ गये हों, वे 'मनोनुकूला' तो अब भी हैं।

फाल्गुन १, सम्वत् १९८४.

७. राड़ की जड़ हांसी

"तीर कमनिया तरकसबंद। भोजराज तुम मूसरचंद।"

ऐसा जब किसी ने भोजराज महाशय से कहा तो पता नहीं, भोजराजजी खिलखिलाकर हंस पड़े या क्रुद्ध होकर मारने दौड़े। मेरा तो खयाल है कि मारने दौड़े होंगे; क्योंकि हमारे यहां मजाक उड़ाना छिछोरपन है और उसे बर्दाश्त करना नामर्दी की निशानी है। इसलिए किसी ने कह दिया कि 'रोग की जड़ खांसी और राड़ की जड़ हांसी'। कोई द्वेषवश अपमानित करे, या मारने को दौड़े तो झगड़ा होना समझ में आ सकता है; पर मजाक में भी झगड़ा हो, यह भारतीय संस्कृति का दूषण ही मानना चाहिए। बाहरी देशों से आने वाले लोग अक्सर कहा करते हैं कि भारतीय बालक भी गम्भीर मुखाकृति का होता है, फिर बड़े-बूढ़े का तो कहना ही क्या! वे तो मानो बंधना-बोरिया बांधकर आज शाम की ट्रेन से ही यमपुरी की यात्रा करने वाले हों, ऐसी मुखाकृति बनाकर बैठते हैं। कोई हंसता है तो बड़े-बूढ़े डांटकर कहा करते हैं, "क्या ही-ही करते हो"!

हमारे साहित्य में भी हास्य-रस की अत्यन्त कमी पायी जाती है। शान्त या गम्भीर, करुण, शृंगार आदि रस सभी साहित्यिक ग्रन्थों में अधिकता से मिलेंगे; पर हास्यरस तो यत्र-तत्र और सो भी स्वल्प मात्रा में।

इससे इतना तो साबित हो जाता है कि भारतीय संस्कृति ने हंसने की इजाजत नहीं दी। इतना ही नहीं, इसकी सख्त मुमानियत मालूम होती है। किसी सन्त ने गाया—'बालपना हंस खेल गंवाया' 'बालस्तावत क्रीड़ासक्तः'। इसमें क्या जुर्म हुआ, यदि बच्चे हंसें या खेलें? क्या सन्त लोग यह चाहते थे कि लड़के रो-रोकर यह रट लगाया करते, 'जिवड़ा दो दिन का मेहमान'। जो संसार की क्षणभंगुरता का विचार करके रोते हैं, वे वैराग्यवान नहीं, कायर हैं। वैराग्य तो हमें सिखाता है, 'प्रसन्न-चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते'।

कार्टून की कला यूरोप में काफी विकसित हो चली है। जिनके कार्टून छपते हैं, वे अभिमान से मन में फूले नहीं समाते। 'हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली' में शंकर इस कला में अत्यन्त निपुण है। उसने आजतक किसी भी विशिष्ट व्यक्ति को अछूता नहीं छोड़ा। क्या वाइसराय और क्या दूसरे अफसर, सबके कार्टून उसने बनाये और कद्रदानी भी पायी। हर अफसर अपने-अपने कार्टून की कीमत दे देकर खरीदता रहा है; पर एक मरतबा किसी प्रतिष्ठित भारतीय नेता ने मुझसे यह शिकायत की, "साहिब, आपका व्यंग्य-चित्रकार हमारा बड़ा मजाक उड़ाता है।" भविष्य के लिए उन महोदय का कार्टून बन्द कर दिया गया। इससे उलटा यूरोप में लोग अपने कार्टून देखने के लिए बड़े लालायित रहते हैं, यद्यपि इटली में

मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर इसके अपवाद हैं।

स्काच लोग बड़े कंजूस माने जाते हैं और लोग उनकी दिल्लगी भी खूब उड़ाते हैं। इसका प्रतिकार उन्होंने इस प्रकार किया कि वे लोग अपनी दिल्लगी खुद-ब-खुद उड़ाने लगे। किसी यहूदी ने कहा कि हम स्काच लोगों से अधिक कंजूस हैं, इस बात को स्काच साहब ने बड़े जोश के साथ अस्वीकार किया और कहने लगे कि ऐसा नहीं है। एक यहूदी की दूकान पर एक स्काच माल खरीदने गया था। स्काच को पहले ही सावधान कर दिया गया था कि यहूदी दूने दाम मांगा करता है, इसलिए मोल-मुलाई ठीक करना, ठगे न जाना। स्काच साहब सावधान तो थे ही। एक छाते की कीमत पूछी। यहूदी ने कहा, दश शिलिंग। इस पर स्काच साहब ने फर्माया, यह तो बहुत ज्यादा है, हम तो पांच शिलिंग देंगे। यहूदी ने कहा, पांच तो नहीं, पर तुम सज्जन मालूम होते हो, इसलिए छाता ८ शिलिंग में बेच दूंगा। इन्होंने तो पहले से ही गणित का मार्ग अख्तियार कर लिया था। इनसे कहा गया था कि यहूदी दूना दाम मांगा करता है, इसलिए वह जितना मांगता था, स्काच साहब उससे आधा कहते थे। जब यहूदी पांच शिलिंग पर पहुंचा तो स्काच महाशय २॥ शिलिंग पर उतर चुके थे। यहूदी धीरज खो बैठा और उखड़कर बोला, "तुम तो पूरे मक्खीचूस मालूम होते हो। ले जाओ यह छाता मुफ्त में।" स्काच साहब विचार में पड़ गये, मामला टेढ़ा था, पर फिर भी गणित ने साथ दिया। झटपट उन्होंने फैसला कर लिया और बोले, "तो अच्छा एक नहीं, दो दे दो।" सुननेवाले लोग खिलखिला उठे। पर स्काच को सन्तोष हो गया कि उन्होंने अपनी जाति की कंजूसी का सिक्का श्रोताओं पर जमा लिया।

इसके विपरीत एक रोज कुछ मारवाड़ी सज्जनों की सभा में एक वक्ता महाशय बड़े गर्म थे और चिल्ला-चिल्लाकर 'मारवाड़ी निंदकों' की खबर लेते थे। किसी ने कोष में मारवाड़ी शब्द का अर्थ 'कंजूस' और 'सूदखोर' कर दिया था। यही उनके क्रोध का कारण था। मैंने श्रोताओं से कहा भी कि ऐसी चीजों को ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए; क्योंकि आयरिश, ग्रीक, स्पेनियार्ड, काठियावाड़ी, और पठान आदि सभी शब्दों के कुछ-के-कुछ अर्थ बन गये हैं। पर श्रोताओं में तो हास्य-प्रेम की कमी थी; मारवाड़ी शब्द का अर्थ कंजूस कोई कहे, यह यहां तो असह्य था। ड्यूक आफ् विंडसर जब प्रिंस आफ् वेल्स थे तो अपने सहपाठियों के साथ रेल में साधारण बालकों की भांति सफर करते थे। एक बार गाड़ी का कंडक्टर जब उनके डिब्बे के सामने से गुजरा तो जेब में से एक मटर निकालकर अंगुली से तानकर उन्होंने कंडक्टर के कान पर चुपके से दे मारी। कंडक्टर ने मुड़कर पूछा, "लड़को, यह मटर किसने मारी ?" किसी ने जवाब

नहीं दिया तो कंडक्टर ने युवराज के चेहरे पर शरारत देखकर सोचा, यह लड़का शैतान मालूम होता है और दो-चार थप्पड़ जमा दिये। किसी जानकार ने कंडक्टर से कहा कि भावी सम्राट् को पीटने के लिए उन्हें वधाई है। शायद कंडक्टर ने इस घटना की अवहेलना की होगी। पर शहजादे ने भी मजाक को मजाक में उड़ा दिया। यदि ऐसी घटना भारत में होती तो क्या होता, इस की सहज ही कल्पना हो सकती है।

कोई हमसे द्वेष या घृणा करता है तो हमें रोष आ सकता है; क्योंकि चाहे हमारा ही ऐव हो, परंतु हम अपने ऐव को भूलकर द्वेष करने वाले पर रोष कर बैठते हैं। इसके विपरीत यदि कोई हमारी प्रशंसा करता है तो हम फूलकर कुप्पा वन जाते हैं। हालांकि यह सोलह आना सच्ची बात है कि बड़ाई करने वाला यदि सच्ची भी कहता है तो अतिशयोक्ति करता है, जो झूठ का ही दूसरा नाम है। यदि द्वेषी द्वेष से पीड़ित है तो चापलूस चापलूसी से। दोनों के दोनों निकम्मे हैं। अक्ल की कसौटी पर कसने से दोनों त्याज्य हैं; फिर क्यों हम एक पर रोष करें और दूसरे पर प्रेम? लोग धोखा खाते हैं और त्याज्य वस्तु को ग्राह्य मान बैठते हैं। पर मजाक करने वाला न द्वेषी है, न चापलूस और न पाखंडी। कम-से-कम मजाक के बारे में यह कहा जा सकता है कि मजाकिये का दिलवहलाव के सिवा और कोई ध्येय नहीं है और दिलवहलाव कोई बुराई नहीं। यदि आपकी तोंद मोटी है और आप रपटकर चारों खाने चित पड़ते या वीवी के हाथों से झाड़ू खाते देख लिये जाते हैं और दर्शकों को यह दृश्य हंसी का लगता है तो वेचारों को हंसने दीजिए। इसमें दोनों का भला है। रोग की जड़ चाहे खांसी हो— यद्यपि मैं तो मानता हूं कि रोग की जड़ ज्यादा खाना है—पर झगड़े की जड़ 'हांसी' वताना, यह कोरी मूर्खता है।

वसंत पंचमी, सं० १९९४.

८. बिखरे विचारों की भरोटी

"परीक्षा के बाद क्या करूंगा?" यह प्रश्न हर एक विद्यार्थी के हृदय में हिलोरें मारता रहता है। जब इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं मिलता तव आगे की पढ़ाई शुरू होती है। मैं ऐसे विद्यार्थियों को जानता हूं, जिनको मैट्रिक के बाद धन्धा नहीं मिला तो वे आई० ए० में गये और फिर धन्धा नहीं मिला तो वे बी० ए० और

उत्तरोत्तर एम० ए० तक चले गये। उसके बाद भी धन्धे के अभाव में विदेशों को शिक्षा के लिए जाने की सोचते हैं। शिक्षा का यह पहलू अवश्य ही दिलचस्प और करुणाजनक है; क्योंकि धन्धे का अभाव पढ़ने के लिए बाध्य करे, ऐसी विद्या अमिश्रित शुभंकरी नहीं हो सकती। सेवा के मनसूबे तो कोई ही बांधता होगा; क्योंकि प्रथम तो आधुनिक शिक्षा का वातावरण ही सेवा की तरफ नहीं खींचता और ऊपर से दरिद्रता का बोझ। इसलिए पढ़ने वाले लड़कों के मनसूबे प्रायः आर्थिक क्षेत्र में ही चक्कर लगाते हैं।

पढ़नेवालों में धनिकों के लड़के तो होते ही कम हैं, बाकी के, गरीबी में पलनेवाले दरिद्र विद्यार्थियों के मनसूबे आर्थिक क्षेत्र तक ही परिमिति हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। अफसोस केवल इसी बात का है कि आज के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति भीरु है, तर्कानुगामिनी नहीं है। पचास वर्ष के पहले के युवकों और आज के युवकों की मनोवृत्ति में कितना अन्तर है! पचास या सौ वर्ष पहले मारवाड़ से आनेवाले अशिक्षित गंवई-जनों ने किस अदम्य उत्साह के साथ कठिनाइयों का मुकाबला किया, कैसे अपने कारोबार जमाये और कैसे-कैसे कष्ट सहे, इसकी आज के युवक कल्पना भी नहीं कर सकते। मेरे पितामह बाईस वर्ष की अवस्था में बम्बई में रोजगार करने के लिए घर से चले तो उन्हें पिलानी से इन्दौर तक ऊंट की सवारी करनी पड़ी और इन्दौर स्टेशन पर रेल में सवार हुए। बम्बई पहुंचकर आठ साल तक धैर्य और परिश्रम के साथ उन्होंने अपना कारोबार जमाया और बाद में पिलानी लौटे। यह कोई इने-गिने उदाहरण नहीं हैं। उस समय के लोगों का यही हाल था। कम खर्च से रहना, परिश्रम से जीवन बिताना और लगन की मस्ती—यह पुराना तरीका था। आज के युवकों में वह साहस, वह लगन और कष्ट-सहन की वह हिम्मत कहां?

कुछ पढ़नेवाले तो वकालत या डाक्टरी की तरफ झुकते हैं, बाकी सौ में निन्यानवे तो नौकरी ढूंढ़ते फिरते हैं। "पढ़ें फारसी बेचें तेल, यह देखो कुदरत का खेल।" फारसी पढ़नेवालों की इस तुकबन्दी के साथ, उस वक्त के अध्यवसायी नवयुवक दिल्लगी किया करते होंगे। सम्भवतः उस समय के फारसी पढ़नेवाले आज के तेजहीन शिक्षित युवकों की तरह रहे होंगे; लेकिन उस समय दिल्लगी करनेवाले तो मौजूद थे, आज तो वे भी नहीं हैं। पुरानी और नवीन मनोवृत्ति में कितना अंतर! जहां लगन, साहस और आधुनिक शिक्षा का सम्मिश्रण हुआ है, वहां आर्थिक क्षेत्र में हेनरी फोर्ड और सेवा के क्षेत्र में गांधी तथा नेहरू पैदा हुए हैं। जहां इनका सम्मिश्रण नहीं है, वहां नौकरी का बाजार गर्म है। इस बेकारी की तह में हमारी राजनैतिक असहायता के अलावा विद्यार्थियों का अज्ञान और आलस्य कहीं अधिक मात्रा में है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि सारे आर्थिक क्षेत्र का आधार परस्पर की

मेहनत की अदला-बदली है। मेरे पास अन्न है और आपके पास चीनी ; मुझे चीनी चाहिए और आपको अन्न। यदि हम पड़ोसी हैं तब तो इन चीजों का तबादला स्वयं ही कर लेते हैं और अपनी-अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेते हैं; परंतु यदि अन्न पैदा करनेवाला पंजाब में है और चीनी पैदा करनेवाला बिहार में, तब इस परस्पर के तबादले की पूर्ति के लिए विचौला (Middleman), वाहक (लॉरा, रेल तथा बैलगाड़ी), आढ़तिया और साहूकार की सृष्टि पैदा होती है। इसी तरह सारे कारोबार इस अदला-बदली के सिद्धान्त पर खड़े हैं। चाहे ये कारोबारी लोग हज्जाम, धोबी, रंगरेज, लुहार हों या वाहक, बीमावाला, बनिया और साहूकार हों; "परस्परं भावयंतः श्रेय परमवाप्स्यथ" (एक-दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को पाओ।)

आज चाहे सेवा का हिस्सा जमीन में गड़ गया है और अमिश्रित स्वार्थ रह गया है, पर कारोबार की असल पैदाइश सेवा-क्षेत्र से ही है और जैसे सरकार का काम शासन है—चाहे वह सरकार साम्यवादी हो चाहे फासिस्ट—इसी तरह रोजगार-धंधे की भित्ति भी पारस्परिक मेहनत की अदला-बदली पर है, चाहे वह धर्मभाव से हो, चाहे स्वार्थ-दृष्टि से। धन्धे के भीतर छिपी हुई इस मेहनत की अदला-बदली के नियम को जब हम नहीं पहचानते तो अपने-आप ही बेरोजगार हो जाते हैं। जो गरजी दूध का है, उसको आप देना चाहते हैं खांड, ऐसी स्थिति में वह खांड आपके पास ही रहेगी और आप बेरोजगार हो जायेंगे। जहां धोबी की चाह है वहां नाई को कौन रखे ? और यदि मुझे जरूरत है ग्वाले की या ड्राइवर की या अच्छे रसोइये की तो मैं क्लर्क का क्या करूं ? आज एक हजार जरूरतें इस देश में मौजूद हैं, जिन्हें मेहनत द्वारा पूरा किया जा सकता है और फिर भी बेकारी की शिकायत है। देश में, खाने के लिए अन्न, फल, दूध और पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए मकान—इन सभी वस्तुओं की कमी है। दूसरी तरफ यह हाल है कि फुर्सत की कमी नहीं। साधन भी मौजूद हैं, फिर भी वस्तुएं क्यों नहीं पैदा की जातीं ? आखिर वस्तुएं साधन और मेहनत का ही तो फल हैं। साधन + मेहनत = वस्तु। घर का कूड़ा घर के बाहर पड़ा सड़ता है और खेत में खाद की कमी है। हमारे पास फुर्सत है। यदि हम खेत में खाद डाल दें तो कूड़ा साफ हो जाये और अन्न की पैदावार भी बढ़ जाये। कुछ परिश्रम करने से गाय भी अधिक दूध दे सकती है और हमारे बच्चों को भोजन भी मिल जाता है। घर का गन्दा पानी घर में और गली में सड़न और मच्छर पैदा करता है। इसी जल से हम फल या तरकारी उत्पन्न करके बच्चों को जीवनीय पदार्थ दे सकते हैं। दूसरी तरफ घर को साफ-सुथरा रखकर हम बीमारियों को कम कर सकते हैं। काम दरवाजे पर पड़ा है और फुर्सत भी है; पर फुर्सत को काम में नहीं लगाते। इस हालत को हम आलस्य और अज्ञान के सिवा किस नाम से

पुकारें ? यदि पढ़े-लिखे लोग भी आलसी और ज्ञान से कोरे हों, तो विद्या से हम फिर कौन-सी आशा रखें ? शहरों में एक दर्जी सवा रुपया रोज कमा सकता है, बढ़ई की तनख्वाह भी अच्छी है, ड्राइवर की भी तनख्वाह ऊंची है, और जूता बनाने वाला भी बेरोजगार नहीं है, फिर भी पढ़े-लिखे लोग बीस रुपये महावार की नौकरी में अपने-आपको क्यों बेच देते हैं ? यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि शहर में पच्चीस की भी नौकरी गांव के दस रुपयों के बराबर है। आखिर आय को रुपयों में न मापकर वस्तुओं में ही तो मापना चाहिए। क्या पढ़े-लिखे लोग जो शहर में पच्चीस रुपये की नौकरी खोजते हैं, गांवों में पन्द्रह रुपये का रोजगार भी नहीं निकाल सकते ?

जो लोग गांवों को छोड़कर शहरों में रोजगार ढूंढ़ते हैं और शहरों में भी जिस चीज की चाह है, उनमें न पड़कर अनचाही चीजों की बिकवाली निकालते हैं, वे अवश्य ही आलस्य, अज्ञान और बेकारी की परवरिश करते हैं। रोजगार मेहनत की अदला-बदली का नाम है और यदि आप अपनी मेहनत को बेचना चाहें, चाहे बनिया बनकर और चाहे धोबी या नाई बनकर, तो आपको देखना होगा कि गरजमन्द किस चीज की ग़रज रखता है और यदि आपने यह न देखा तो आपने ख्वाहमख्वाह ही पढ़ा है। पढ़े-लिखे लोगों को चाहिए कि लोगों की आवश्यकताओं का अध्ययन करें और उन्हें पूरा करने में अपनी मेहनत यानी पूंजी (असल पूंजी मेहनत है) को लगायें।

सफल जीवन के लिए सचाई की हर समय जरूरत पड़ेगी। 'सांच बरोबर तप नहीं' यह कहावत सोलह आना सत्य है। धर्म की दृष्टि से जाने दीजिए, व्यावहारिक दृष्टि से भी सचाई से बढ़कर सफल जीवन की और दूसरी चाबी मुझे नजर नहीं आती। धर्म न सही, बतौर नीति भी सचाई परमावश्यक गुण है। बेईमानी, जुआ, चोरी इत्यादि भयानक ऐबों से तो दूषित थोड़े ही लोग होते हैं. पर मानसिक कमजोरी के कारण झूठेपन का दोष कम-बेश तादाद में हममें से बहुतों में पाया जाता है, जिसका उपयोग हम जीवन के हर क्षेत्र में करके अपने-आपका अहित करते हैं। जहां 'ना' कहना चाहिए, वहां 'ना' कहने की हिम्मत नहीं। सिद्धान्त एक मानते हैं, पर हमारा आचरण उलटा है। कई लड़के कहते हैं, "हां साहब, हमारा सिद्धान्त तो यह है, पर क्या करें, घरवाले नहीं करने देते।" मारवाड़ी में एक कहावत है 'एक नन्ना सौ दुख हरे', अर्थात् एक ना कहने से सौ दुःख टलते हैं। मैं अनेक विद्यार्थियों के सम्पर्क में आया हूं और मैंने दुःख के साथ देखा है कि विद्यार्थियों में स्पष्ट व्यवहार की काफी कमी है। यह लड़कों का दोष नहीं है। हमारे घरों के वातावरण ही आज साफ-शुद्ध नहीं हैं; लड़के जो घर में देखते-सुनते हैं, उसी का अनुकरण बाहर किया करते हैं; पर पढ़े-लिखे लोगों की जिम्मेदारी बड़ी है, इसलिए उन्हें घर के

वातावरण से प्रभावित होने के बजाय इसे सुधारना चाहिए। मेरा अनुभव है कि धर्म और व्यवहार दोनों के लिए सचाई से बढ़कर कोई अच्छी दवा नहीं है। सचाई से व्यापार में सफलता मिलती है, बुद्धि कुशाग्र होती है, आदमी ठगा जाने से बचता है और सैकड़ों आफतों को बिना परिश्रम ही पार कर जाता है।

अनुशासन और दक्षता का देश में अकाल है, पर यदि विद्यार्थी लोग भी अनुशासनहीन और दक्षता-रहित मानवों की एक अव्यवस्थित भीड़ हो जाये तो ईश्वर ही मालिक है। यूरोप में रेलवे-स्टेशनों या थियेटरों के टिकिट घरों के पास कभी धक्का-मुक्की नहीं होती। जो पहले आता है वह पहले खड़ा हो जाता है और पीछे आने वाला पीछे। इस प्रकार कतार लगती जाती है। कभी-कभी तो किसी लोकप्रिय नाटक के अवसर पर तमाशा देखने वालों की, टिकिट घरों के पास, कतार एक-दो मील लम्बी बन जाती है। क्या मजाल कि कोई भी कतार तोड़ने की हिम्मत करे। लन्दन के फुटपाथों पर रविवारों को इतनी भीड़ हो जाती है कि जल्दी चलने वाले लोग कभी-कभी धक्कम-धक्की हो जाते हैं तो ऐसी हालत में एक-दूसरे को कहता है, "Sorry, it was my fault." दूसरा जवाब देता है—"Sorry, it was mine". यह कहकर दोनों मुस्कराते हुए अपनी राह लेते हैं।

यूरोप में यात्रा करते हुए एक बार मेरी गाड़ी किसी दूसरी गाड़ी से टकरा गयी। मेरे ड्राइवर ने ब्रेक बांधकर गाड़ी खड़ी की। दूसरे ने भी ऐसा ही किया। दोनों नीचे उतरे। चुपचाप अपनी-अपनी गाड़ी का प्रत्येक ने निरीक्षण किया। फिर एक ने दूसरे से पूछा, "Are you insured ?". उत्तर मिला, "Yes". फिर प्रश्न—"Any damage ?" उत्तर—'No,Sorry।" यह बात हो चुकी और दोनों अपने-अपने रास्ते चले गये। न आया क्रोध और न दीं एक-दूसरे को गालियां। अब जरा अपने देशवासियों का भी किस्सा सुनिए ! दो गाड़ियां भिड़ते-भिड़ते बाल-बाल बच गयीं। गाड़ीवानों ने ब्रेक बांधा और गाड़ियां खड़ी कीं। गाड़ियां भिड़ी तो थीं ही नहीं, इसलिए नुकसान का तो सवाल ही क्या था; पर हमारे भारतीय वीर इस प्रकार टलने वाले थोड़े ही थे। श्रीगणेश हुआ गालियों और अपशब्दों से, "क्या आंखें फूट गयीं थीं?" "तेरे बाप ने भी कभी गाड़ी चलायी थी?" "मैं तो तेरा बाप जन्मा तब से गाड़ी चलाता हूं।" "उल्लू का पट्ठा, एक साल जेल में कटेगी तब होश आयेगा।" भीड़ जमा हो गयी, ट्रैफिक रुक गया। पुलिस आयी तब दोनों हटे। माघ और कुम्भ के मेलों में तो धक्का-मुक्की की कौन कहे, कई आदमी कुचलकर मर जाते हैं। छोटे-छोटे मेलों पर भी बिना स्वयंसेवकों के हमारा काम नहीं चल सकता। महात्माजी के चरण छूने वाले भक्त उनके पैर कुचल देते हैं। सभाओं में इतना शोर मच जाता है कि कभी-कभी तो गांधीजी को केवल हाथ जोड़कर ही सभा समाप्त कर देनी पड़ती है। हम आपस में बातें

करते हैं तो इतना हल्ला मचाते हैं, मानों दो फलांग की दूरी से बातें करते हों।

खाने का यह हाल है कि कोई समय ही नहीं। सारा यूरोप और अमरीका करीब-करीब एक ही समय पर भोजन कर लेता है। आठ-साढ़े आठ बजे सुबह को नाश्ता, एक-डेढ़ बजे दिन में लंच और रात को सात-साढ़े सात बजे डिनर। हमारी यह दशा है कि कोई दस बजे सुबह को भोजन करता है तो कोई बारह बजे, यहां तक कि कई रईसी ठाठ के बाबू लोग एक बजे तक खाने से निवृत्त नहीं होते। बिहार में तो असल रईस वह है जो रात को एक बजे खाना समाप्त करे। इस समय के अनियमन से समय की बर्बादी का तो कुछ ठिकाना ही नहीं, और भी अनेक प्रकार की असुविधाएं उपस्थित हो जाती हैं। मान लीजिए कि आप रात को साढ़े सात बजे खाना खाते हैं। एक दूसरे सज्जन हैं, जो साढ़े आठ बजे खाना खाते हैं। वे बिना किसी खबर के साढ़े सात बजे आपसे मिलने आते हैं। आप खाना खाने बैठ जाते हैं और खाने के बाद ही यदि आपने किसी अन्य सज्जन को मिलने का वक्त दे रखा है तो वह खाना खा चुकने के बाद भी आपसे नहीं मिल सकते। इसलिए उन्हें बिना मिले ही लौटना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मेहमान को खाने का निमन्त्रण तो दिया गया साढ़े सात बजे का और वह पहुंचते हैं साढ़े आठ बजे। तमाम घरवाले घंटे-भर तक भूखे बैठे मेहमान साहब की बाट जोहते हैं और उनकी सात पुश्त तक को कोसते हैं। यूरोप का यह हाल है कि दस मिनिट तक तो मेहमान की बाट देखी जाती है, बाद में घरवाले खाने को बैठ जाते हैं। मेहमान साहब पहुंचते हैं और लज्जित होकर माफी मांगते हैं। अनुशासन के बिना सामाजिक और राजनैतिक किसी भी जीवन में सफलता नहीं मिल सकती, यह अबाधित सत्य है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू इसीलिए आजकल चरित्र और अनुशासन पर खूब जोर लगाते हैं। जिसमें अनुशासन और सचाई है, उसमें दक्षता स्वतः ही आ जाती है।

अष्टम एडवर्ड को जिस शान्ति और शान के साथ ब्रिटिश जनता ने गद्दी से उठाया, वह इस बात का द्योतक है कि ब्रिटिश जनता में कितना जबर्दस्त आत्म-नियन्त्रण है। तमाम राजनैतिक दल बात-की-बात में एक हो गये। यहां की फूट की वहां की एकता से तुलना कीजिए! यूरोप के बड़े-बड़े बागों में छोटी-छोटी टोकरियां जगह-जगह लगी रहती हैं, ताकि किसी को रद्दी चीज व कागज फेंकना हो तो उनमें डाल दिया करे। किसी-किसी जगह तो सड़क पर कागज फेंक देनेवाले पर पचास पौंड तक जुर्माना कर दिया जाता है। अपने यहां कागजों की तो बात ही क्या, अपने घरों का सारा कूड़ा-कर्कट भी हम गली में ही फेंक देते हैं। इससे हमें और हमारे पड़ोसी दोनों को ही कष्ट होता है।

व्यवस्था अनुशासन का ही एक अंग है। लड़कों में बचपन से ही आदत डालनी चाहिए कि वे हर चीज को सुव्यवस्थित रखें। अनुशासन

और व्यवस्था से दक्षता आती और वढ़ती है। किसी की दक्षता को परखने के लिए मैं आमतौर से यह देखा करता हूं कि लड़के ने अपने कोट के बटन बन्द किये हैं या नहीं; नाखून कटवाकर साफ रखता है या नहीं; अंगुलियों पर स्याही के दाग तो नहीं पड़े हैं। कपड़े मैले हैं या उजले। इन छोटी-छोटी वातों से मनुष्य की छिपी हुई वड़ी-वड़ी मनोवृत्तियों का पता सहज में ही लग जाता है।

मनुष्य के अत्यन्त साधारण आचरण से ही पता चल जाता है कि उसमें सचाई कहां तक है। जो छोटी-छोटी वातों में सचाई का प्रयोग नहीं करता; जो अपनी सारी क्रियाओं के संवंध में अव्यवस्थित है; जिसने न सोने-उठने का नियम वना रखा है और न खाने और व्यायाम का; जो भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से नहीं करता, केवल स्वाद के निमित्त करता है, ऐसे मनुष्य के जीवन से वड़ी-वड़ी वातों की आशा नहीं करनी चाहिए। जो लोग अव्यवस्थित हैं, समय के पावन्द नहीं हैं, उनके नाम को उच्चाकांक्षाओं के वहीखाते में "वट्टे खाते नावें" लिख देना चाहिए। सफलता ऐसे लोगों के लिए पैदा नहीं हुई, जो अव्यवस्थित हैं, असंयमी हैं, और विना चरित्र-वल-वाले हैं। आज अंगरेज़ लोग शासक हैं और हम गुलाम हैं, यह घटना सहज और आकस्मिक नहीं है। उनमें सुव्यवस्था है, उनमें नियम की पावन्दी है और उनमें चरित्र-वल है।

कुछ विद्यार्थियों ने महात्माजी से संन्देश मांगा था, जो उन्होंने इस प्रकार भेजा था—"Be truthful, have self-restraint and attain loftiness of character." चाहे हम छोटे हों या बड़े, यदि हम सव इसको अविकल रूपेण धारण कर लें तो फिर किसी वात से डरना भी फिजूल है।

१९३७

छठा भाग गांधीजी की उस विदेश-यात्रा से संबद्ध है, जो उन्होंने दूसरी गोलमेज परिषद् के सिलसिले में की थी। लेखक उनके साथ गये थे। इस प्रवास के संस्मरण भारत स्वातंत्र्य-संग्राम का एक मूल्यवान इतिहास है।

अंतिम भाग की रचनाओं में उनके स्फुट विचार दिये गए हैं। इन लेखों में उन्होंने मुख्यतः कुछ सामाजिक प्रश्नों का गंभीर विवेचन किया है।

इस प्रकार प्रस्तुत खंड में पाठकों को अनेक विधाओं का साहित्य पढ़ने को मिलेगा। संस्मरण जहां उन्हें विभोर करेंगे, वहां उनके निबंध चिन्तन की गहराई में ले जायंगे; विभिन्न यात्राओं के वृत्तान्त से जहां पाठकों का ज्ञानवर्द्धन होगा, वहां उनके लेख अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करेंगे।

पुस्तक की विशेषता यह है कि पाठक उसे एक बार हाथ में ले लेने पर बिना समाप्त किये छोड़ नहीं सकता, क्योंकि भाषा इतनी सरल, विवरण इतना सरस और शैली इतनी सजीव है।

हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि जो भी पाठक इस ग्रंथावली को पढ़ेगा वह अवश्य लाभान्वित होगा।

यस्य यद् दैवविहित सतेन सुख-दुःखयोः।
आत्मानं तोषयन् देही मसतः पारमृच्छति ।।

दैव ने जिसके लिए जैसा विधान रच रखा है, उसके अनुसार ही वह सुख-दुख भोगता है, इस विचार से अपने अंतःकरण को संतुष्ट रखने वाला पुरुष अज्ञान से पार हो जाता है।

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्।
मैत्री समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ।।

मनुष्य को चाहिए कि अधिक गुणवान को देखकर प्रसन्न हो, गुण में अपने से न्यून को देखकर दया करे और जो अपने समान गुणी हो, उससे मित्रता का भाव रखे। ऐसा करने से वह कभी संतप्त नहीं होता।

(श्रीमद्भागवत ४।८)